गुरुदत्त लेखावली

जन्म २६ एप्रिल १८६४   मृत्यु १९ मार्च १८९०

गुरुदत्त लेखावली

अर्थात्

मुनिवर

श्री पं० गुरुदत्तजी विद्यार्थी एम०ए०

के

लेखों का आर्य्यभाषानुवाद

जो

(आज तक आर्य्यभाषा में अप्रकाशित रहे हैं)

अनुवादक

पं० सन्तराम बी०ए०—पं० भगवद्दत्त बी०ए०

प्रकाशक

राजपाल—प्रबन्धकर्त्ता,

आर्य्यपुस्तकालय व सरस्वती आश्रम लाहौर ।

नवम्बर १९१८—मार्गशीर्ष १९७५.

दयानन्दाब्द ३६ ।

पंजाब प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर में पं० चरणदास बी. ए. के प्रबन्ध से टाइटल व पृष्ठ २६७ से ३१६ तक छपा। शेष बाम्बे प्रेस लाहौर में छपा।

मूल्य २)

विद्वान् पुरुष को चाहिए कि संसार के मोह को छोड़ दे"। पाठक देखिए-पं० गुरुदत्त का किया अर्थ कैसा स्पष्ट और ऋषि दयानन्द की शैली के अनुकूल है। इस में देवता, ब्राह्मण, लोक आदि शब्दों को कैसा खोलकर समझाया गया है। इस से यह न समझ लीजिए कि पण्डित जी ने अपने पक्ष की पुष्टि के लिए मनमाने अर्थ कर डाले हैं। नहीं, उन्हों ने अपने पक्ष को ऐसे अखण्डनीय प्रमाणों से सिद्ध किया है कि विपक्षियों को "किन्तु"—"परन्तु" का कोई स्थान नहीं रहा।

यह संसार सत्य के आश्रय स्थित है। सत्य ही मनुष्य का परम धर्म्म है। इसी सत्य-रूपी धर्म्म का जानना ही सच्चा धर्म्म-ज्ञान है और इसके अनुकूल आचरण करना ही सच्चा धर्म्माचरण है। संसार में जितनी धर्म्म की वृद्धि होती है उतनी ही सुख की मात्रा बढ़ती है। अधर्म्म का फल दुःख के सिवा और कुछ नहीं। इसलिए धर्म्माधर्म्म का विवेक मनुष्य के लिए परम कर्तव्य है। नर-देह पाकर स्वधर्म्म सत्य धर्म्म को पहचानने में अवहेलना करना बड़ा ही हानिकारक है। इस युग में जिन झगड़ों और उपद्रवों के लिए धर्म्म कलङ्कित होरहा है वे वस्तुतः अविद्या का फल हैं। धर्म्म से उनका कोई सम्बन्ध नहीं, क्योंकि धर्म्म का फल कभी दुःख नहीं होसकता। अविद्या से जिस वस्तु को पंथाई लोग धर्म्म समझकर लड़ते झगड़ते हैं वह वस्तुतः धर्म्म नहीं, अधर्म्म है। इन लड़ाई झगड़ों की समाप्ति तभी होसकती है जब लोगों को सत्य-धर्म्म का ठीक ठीक ज्ञान हो। इसलिए सत्य धर्म्म का प्रचार करना संसार में बड़ा भारी पुण्य है। पण्डित गुरुदत्त ने इस धर्म्म-तत्त्व को भली भाँति अनुभव किया था। वे जनता के अविद्यान्धकार को ज्ञान के प्रकाश द्वारा दूर करने को भारी परोपकार समझते थे। आत्मिक शान्ति उनके लिए भौतिक शान्ति से कहीं बढ़कर थी। अपनी आध्यात्मिक शान्ति के लिए उन्हों ने संसार के प्रायः सभी बड़े बड़े धर्म्म-प्रचारकों के ग्रन्थों का अध्ययन किया था। संस्कृत और अङ्गरेज़ी में तो उनकी योग्यता अद्वितीय थी ही पर दर्शन शास्त्र और पदार्थ विज्ञान के भी वे पारदर्शी पण्डित थे। विज्ञान का कदाचित् ही कोई ऐसा विषय होगा जिस का उन्हों ने अध्ययन न किया हो। फारसी और अरबी के भी उन्हों ने अनेक उच्च कोटि के ग्रन्थ पढ़े थे। अनेक दिन वे नास्तिक भी रहे थे। पर अन्त को चिरकालिक चिन्तन और ऋषि दयानन्द के आध्यात्मिक प्रसाद से उनकी नास्तिकता दूर होकर उन्हें सत्य धर्म्म का यथार्थ ज्ञान प्राप्त हुआ था। उसी समय उन्हों ने पूर्ण आत्मिक शान्ति लाभ की थी। जिस अमूल्य अमृत रस को उन्हों ने इतने यत्न से प्राप्त किया था उसका पान वे अपने अन्य भाइयों को भी कराना चाहते थे। पण्डित गुरुदत्त ने इस बात का भली

भांति अनुभव कर लिया था, और उन्हें यह पूर्ण निश्चय होचुका था कि एक वेद-प्रतिपादित धर्म्म ही सच्चा नैसर्गिक धर्म्म है, यही नारायण का नर के प्रति उपदेश है। इसीलिए वे वेदों पर किसी भी प्रकार का आक्षेप देखकर चुप न रह सकते थे।

पण्डित गुरुदत्त के समय में वेदों पर चारों ओर से विपक्षियों के आक्रमण हो रहे थे। पुराने पण्डित उन आक्रमणों का कुछ उत्तर न दे सकते थे। इससे आर्य सन्तान वेदों से विमुख होकर धड़ाधड़ ईसाई मत को ग्रहण कर रही थी। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ऋषि दयानन्द ने वैदिक धर्म्म की इस डूबती हुई नौका को अपने पावन उपदेशों के बल से थाम लिया था और सर्व साधारण की वैदिक धर्म्म पर पुनः श्रद्धा होने लगी थी, पर मेक्समूलर, मोनियर विलियम्स, और टी० विलियम्स ऐसे ईसाई पादरी वेदों के विरुद्ध अपना विष अंगरेज़ी भाषा द्वारा फैलाते थे। इससे अंगरेज़ी पढ़े युवकों का विश्वास वेदों पर से हिल रहा था। उनके फैलाए विष को दूर करने के लिए अंगरेज़ी में ही उनकी आपत्तियों का खण्डन करना परमावश्यक था। उस समय पण्डित गुरुदत्त के सिवा और कोई योग्य व्यक्ति ऐसा न था जो इस कठिन कार्य को कर सकता। इसलिए उन्होंने ही इस काम का बीड़ा उठाया और विपक्षियों के आक्षेपों का ऐसा मुंह तोड़ उत्तर दिया कि उन्हें फिर बोलने का साहस नहीं हुआ। पण्डितजी ने केवल पादड़ियों के वेदों पर किए आक्षेपों का ही उत्तर नहीं दिया, उन्होंने उनको शुद्ध वेदार्थ-शैली भी बताई है। उपनिषदों और वेद मंत्रों के शुद्ध अर्थ करके उनकी भूलें दिखलाई हैं। पण्डितजी ने अपने लेखों में वैदिक धर्म्म का जो स्वरूप दिखलाया है वह बड़ा ही उत्कृष्ट है। वेदों का कट्टर से कट्टर विरोधी भी उसे देखकर मोहित हुए विना नहीं रह सकता। सत्य धर्म्म के अभिलाषियों के लिए उनके लेखों का पाठ अत्यन्त हितकर सिद्ध होगा।

प्रस्तुत ग्रन्थ में पण्डितजी के निम्नलिखित लेखों का भाषान्तर दिया गया है—

(१) The Terminology of the Vedas. वैदिक संज्ञा-विज्ञान।

(२) The Terminology of the Vedas and European Scholars. वैदिक संज्ञा-विज्ञान और योरुपीय विद्वान्।

(३) Criticism on Monier William's "Indian Wisdom." अध्यापक मोनियर विलियम्स की "इण्डियन विज़डम" नामक पुस्तक की आलोचना।

(४) Evidences of the Human Spirit. जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण।

(५) ईशोपनिषद्।

(६) माण्डूक्योपनिषद्।

(७) मुण्डकोपनिषद् ।
(८) Vedic Texts No. 1. The Atmosphere. वेद-वाक्य नं० १. वायु मण्डल।
No. 2. Composition af Water. वेद-वाक्य नं० २. जल की रचना।
No. 3. Grihastha. वेद वाक्य नं० ३. गृहस्थ।
(९) The Realities of Inner life. आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व।
(१०) Pecuniomania. धन का डाह।
(११) A Reply to Mr. T. William's Letter on "Idolatry in the Vedas." "वेदों में मूर्ति-पूजन" पर टी० विलियम्स साहब के पत्र का उत्तर।
(१२) A Reply to Mr. T. William's Criticism on Niyoga. टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर।
(१३) Mr. T. Williams on Vedic Text No. 1, "The Atmosphere." वेद-वाक्य नं० १ पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना।
(१४) Mr. Pincott on the Vedas. वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति।

अब इन लेखों के विषयों को भी, संक्षेप से सुन लीजिए:—

१—२. वैदिक संज्ञा-विज्ञान,—और वैदिक संज्ञा-विज्ञान तथा योरुपीय विद्वान्—इन दो लेखों में बताया गया है कि हरिवर्षीय विद्वान् किन कारणों से वेद-मंत्रों का ठीक अर्थ नहीं कर सकते या नहीं करते। इस के अतिरिक्त इन में वेदार्थ की शुद्ध आर्ष शैली बताने के उपरान्त मोनियर विलियम्स और मोक्षमूलर आदि हरिवर्षीय पण्डितों के मंत्रार्थ की अशुद्धियाँ भी दिखलाई गई हैं। वेद के विद्यार्थियों के लिए ये दोनों लेख बड़े ही उपयोगी और सहायक हैं।

३. अध्यापक मोनियर विलियम्स की 'इण्डियन विज़डम' नामक पुस्तक की आलोचना—मोनियर विलियम्स साहब ने इण्डियन विज़डम नामक पुस्तक में वैदिक धर्म्म में बहुत से दोष और त्रुटियाँ दिखलाई थीं। साथ ही उन्हों ने वैदिक धर्म्म की ईसाई धर्म्म के साथ तुलना कर के ईसाई धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करने का यत्न किया था। पण्डित जी ने अपने इस लेख में मोनियर विलियम्स के लगाये दोषों का युक्ति और प्रमाण से खूब ही खण्डन किया है और सिद्ध किया है कि वैदिक धर्म्म एक सर्वाङ्गपूर्ण और सर्वश्रेष्ठ धर्म्म है। इस में कोई भी त्रुटि और दोष नहीं। पण्डित जी की यह आलोचना सभी धर्म्म-पण्डितों के पढ़ने योग्य है।

४. जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण—इस लेख में अनात्मवादियों की उन युक्तियों का खण्डन है जो वे आत्मा के अस्तित्व से इनकार करते हुए दिया करते हैं। इस में आत्मा के अस्तित्व को वैज्ञानिक रीति से प्रमाणित किया गया है और जड़वाद की खूब धज्जियां उड़ाई गई हैं।

५. ६. ७. ईशोपनिषद्, माण्डूक्योपनिषद्, और मुण्डकोपनिषद् के मंत्रों के जो अर्थ और उनकी जो व्याख्या उन्हों ने की है वह बड़ी ही उत्कृष्ट, सारगर्भित, और प्रकृत है। जिन वैज्ञानिक बातों को पुराने पण्डित, पदार्थ विज्ञान न जानने के कारण, समझ नहीं सकते और अनुवाद में मक्खी पर मक्खी मार देते हैं वे पण्डित जी के अनुवाद में भली भाँति स्पष्ट हो गई हैं। उदाहरणार्थ मुण्डकोपनिषद् (मुण्डक १, खं० २, मं० ४) में जो अग्नि की सात जिह्वा कही हैं उनका अर्थ और पण्डित केवल सात जिह्वा ही करके सन्तुष्ट हो गए हैं। ये सात जिह्वा क्या हैं इसे स्पष्ट करने की उन्हों ने कृपा नहीं की। पर पण्डित गुरुदत्त ने अग्नि की सात जिह्वा का अर्थ "Seven Zones of burning flame (जलती हुई अग्नि-शिखा के सात मंडल)" करके मंत्र को युक्तिसंगत सिद्ध कर दिया है। क्योंकि अग्नि-शिखा के मण्डलों को तो स्कूलों में साइन्स पढ़ने वाले विद्यार्थी भी जानते हैं पर आग की जीभ आज तक किसी ने नहीं देखी। इसी प्रकार की और भी अनेक विशेषताएँ पाठकों को इन उपनिषदों के भाष्यों में मिलेंगी।

८. (क) वेद-वाक्य नं० १, "वायुमण्डल" में उन्हों ने ऋग्वेद के दूसरे सूक्त के पहले मंत्र के प्रमाण और 'वायु' शब्द की व्युत्पत्ति से यह सिद्ध किया है कि आधुनिक विज्ञान ने जो पवन को एक "हलका, गतिशील, थरथराहटों को दूसरों तक पहुँचाने वाला, और गँधों को एक स्थान से दूसरे स्थान तक लेजाने वाला माध्यम" सिद्ध किया है, उस के इन सब विशेष गुणों को वैदिक शब्द 'वायु' भली भाँति प्रकट कर रहा है। अँगरेज़ी शब्द 'विण्ड' इन गुणों को बिल्कुल नहीं दर्शाता।

(ख) वेद-वाक्य नं० २, "जल की रचना", में ऋग्वेद सूक्त २, मं० ७ की व्याख्या की गई है, और दिखाया गया है कि इस मंत्र में यह स्पष्ट लिखा है कि पानी आक्सीजन और हाईड्रोजन नामक दो गैसों के मिलने से बनता है।

(ग) वेदवाक्य नं० ३, गृहस्थ, में ऋग्वेद के ५० वें सूक्त के कुछ मंत्रों की व्याख्या करके यह दिखलाया गया है कि गृहस्थ को सुखमय बनाने के लिए वेद में परमेश्वर ने मनुष्य को कैसा उत्तम उपदेश दिया है। इन वेद-वाक्यों के लिखने से पण्डित जी का उद्देश्य वेदों को 'सब सत्य विद्याओं का

भण्डार' प्रमाणित करना प्रतीत होता है। उपर्युक्त वेदमंत्रों की व्याख्या से उनकी आश्चर्यकारिणी प्रतिभा का अच्छा परिचय मिलता है।

९. आध्यात्मिक जीवन के तत्व नामक पुस्तक में बहुत ही गहन और पवित्र विचार प्रकट किये गये हैं। इस में पण्डित जी ने इन तीन सिद्धान्तों का प्रतिपादन और स्पष्टीकरण किया है—

१. कि आध्यात्मिक जीवन एक यथार्थ और सच्चा जीवन है, और कि संसार के झगड़े झमेलों में फँसा हुआ मनुष्य सार्वत्रिक सत्य (परमेश्वर) का पूर्ण रीति से अनुभव नहीं कर सकता, और न ही वह उसे समझ सकता है।

२. विकसित बुद्धि और निर्मल तर्क के द्वारा इस सार्वत्रिक सत्य का अनुभव करने में अशक्त होने के कारण ही लोगों ने प्रार्थना रूपी औषध की पेटण्ट धर्म-चिकित्सायें और अश्रुपूर्ण मस्तिष्क-उपचार निकाले हैं।

३. कि ब्रह्माण्ड का प्रकृत रचयिता एक अदृश्य, प्रतापी, व्यापक और इस आध्यात्मिक जगत् का सर्व-शासक तत्त्व है"।

पण्डितजी इस निबंध में इस परिणाम पर से पहुंचे हैं कि परमेश्वर का अनुभव करने के लिए आत्मा को उच्च करने का साधन प्रार्थना नहीं, प्रत्युत विकसित बुद्धि है। उनकी सम्मति में सबसे सच्ची प्रार्थना जो मनुष्य कर सकता है वह अपने आपको उन ईश्वरीय आदेशों की प्राप्ति का पात्र बनाने के लिए धार्मिक उद्योग है जो कि सारे ज्ञान के स्रोत, परमेश्वर, से बुद्धि में आते हैं।

१०. "धन का डाह" नामक निबंध में उन अनर्थों का वर्णन है जो कि उस पागलों की सी दौड़ धूप के कारण हो रहे हैं जो कि संसार में धन को इकट्ठा करने के लिए जारी हैं। इसमें आपने मनु भगवान् का "अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते" प्रमाण देकर सांसारिक धन की तलाश को आत्मिक उन्नति और संसार के सार्वत्रिक कल्याण के लिए घोर हानिकारक सिद्ध किया है। आपका कहना है कि "मन की दौलत ही सच्ची दौलत है। यह अक्षय धन है। इसका जितना आदर और जितना पूजन हो, थोड़ा है। भौतिक और सांसारिक धन को हमें सब से निकृष्ट समझना चाहिए।"

११. "वेदों में मूर्तिपूजन" पर टी० विलियम्स साहब की चिट्ठी का उत्तर।" पादड़ी टी० विलियम्स साहब ने एक लेख में वेदों में मूर्ति-पूजन का विधान सिद्ध करने का यत्न किया था। पण्डितजी ने अपने इस निबंध में उन की युक्तियों और प्रमाणों का खूब खण्डन किया है।

१२. "नियोग" पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर।" टी० विलियम्स साहब ने "नियोग" पर आक्षेप करते हुए स्वामी

दयानन्द, वेद, और सारी आर्य जाति पर गालियों की बौछाड़ की है । इसी का मुंह तोड़ उत्तर पण्डितजी ने इस निबंध में दिया है । इस उत्तर को पाकर पादड़ी साहब को फिर कुछ कहने का साहस नहीं हुआ ।

१३. "वेद-वाक्य नं० १, वायुमण्डल, पर टी० विलियम्स साहब के आक्षेप ।" पण्डित गुरुदत्त के लिखे इस नाम के निबंध पर टी० विलियम्स साहब ने कुछ आक्षेप किए थे, उन्हीं का उत्तर पण्डितजी ने इसमें दिया है ।

१४. "वेदों पर पिनकाट साहब की सम्मति" । इङ्गलेण्ड में पिनकाट नाम के किसी साहब ने वेदों पर एक लेख लिखा था । उसमें उन्होंने वेद के विषय में अनेक भ्रान्तिमूलक बातें लिख दी थीं । इस निबंध में उन्हीं का निराकरण है ।

जब पण्डित गुरुदत्त के लेखों का आर्यभाषा में अनुवाद करने की आज्ञा हमें लाहौर के सुप्रसिद्ध आर्यसामाजिक पत्र "प्रकाश" के उप-सम्पादक, और आर्य पुस्तकालय के अध्यक्ष, महाशय राजपालजी ने दी, और अनुवाद करने का निश्चय कर चुकने पर जब हमने इन्हें ध्यान से पढ़ा तब हमें ज्ञात हुआ कि ये लेख बड़े ही क्लिष्ट हैं । अतएव उनका अनुवाद आर्य भाषा में करना कोई सहज काम नहीं । इस पर हमने इस बात की खोज की कि इन निबंधों में से किसी का किसी और भाषा में अनुवाद हुआ है या नहीं । खोज का फल यह हुआ कि हमें माण्डूक्योपनिषद् का उर्दू और आर्य-भाषा में, और "The Realities of Inner life" (आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व), Pecunicmania (धन का डाह), और A Reply to Mr. T. Williams Criticism on Niyoga (नियोग पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर) इन तीन का उर्दू में छपा हुआ अनुवाद मिल गया ।

माण्डूक्योपनिषद् का भाषानुवाद "पंजाब मांसभक्षणवर्जनी सभा, लाहौर" के मंत्री श्रीयुत मास्टर आत्मारामजी का किया हुआ है । पण्डितजी के लेखों के अनुवाद का यही प्रथम परिश्रम है । परन्तु इसकी भाषा कुछ पुराने ढंग की है । यथा (क) सृष्टि इसकी दिव्य दृष्टि में योग्य अङ्गों का एक महान् शरीरवत प्रतीत होती है । (ख) बहुत उसके अनुभव (उसके बहुत अनुभव) । (ग) केवल कुछ भाग उसके संग्रहीत अनुभव के (उसके संग्रहीत अनुभव के केवल कुछ भाग) । (घ) जो व्यापक मेरे में है (जो मेरे में व्यापक है) । मान्ते (मानते), वैदिक (वैद्यक), आकर्षन (आकर्षण), ठैर (ठहर), अन्तरगत (अन्तर्गत), सिक्षा (शिक्षा), अधीन्ता वायु । इसके अतिरिक्त और भी शब्द हैं जो प्रयोग में नहीं आते । महांता (सहसा) संक्षेप स्वरूप (संक्षिप्त स्वरूप) । अनुवाद में स्वतन्त्रता भी बर्ती गई है । पृष्ठ ४७ पर अथर्व-वेद काण्ड १० प्र० २३, अनु० ४, मंत्र ३२,३३,३४ का जो अर्थ दिया गया है वह सर्वथा स्वतन्त्र है । पण्डित गुरुदत्त

ने जो अर्थ अँगरेज़ी में दिए हैं उनके साथ इसका कोई सम्बंध नहीं। फिर पृष्ठ ७४ पर उपनिषद् वचन का जो अर्थ दिया गया है वह भी ऐसा है। इसके अतिरिक्त अनेक शब्दों और वाक्यों का अनुवाद ठीक नहीं हुआ,जैसे Unexpected का अनुवाद आशा रहित और Existence का सत्यता किया गया है। इनके लिए ठीक शब्द आकस्मिक और अस्तित्व ही हैं। पृष्ठ ३४ पर soul outwardly stamps matter with its impress का अनुवाद "आत्मा अपने से भिन्न वस्तु को अंकित करता है" दिया गया है जो कि अशुद्ध है।

माण्डूक्य का उर्दू अनुवाद "ओंकार उपासना" नाम से श्रीमती आर्य प्रतिनिधि सभा,पञ्जाब,लाहौर की निगरानी में तैयार हुआ है। इसमें भी अनेक वाक्य बड़े ही अस्पष्ट हैं। उनका अभिप्राय सुगमता से समझ में नहीं आता। देखिए पृष्ठ २४ पर यह पाठ छपा है—"क्योंकि जब तक हिस का असूल पूरे तौर पर कायम न हो ले, इदराक और तसव्वुफ का मादा पैदा नहीं हो सकता और जब कि इदराक की काबलीयत मुनासिब दिली खयालात से पैदा हो गई, इसके बाद सिर्फ तब ही मुकाबला और इमतियाज़ की ताकतें कायम (?) कर सकती हैं और दिली तासरात को जिन्सवार मुरत्तिब शुदा इलामती खयालात में दाखल कर सकती हैं। यही खयालात हैं जिनको हाफज़ा बड़ी होशियारी से पकड़ता और इकट्ठे किए जाता है।" अब इसका आशय सर्वथा अस्पष्ट है।

इसमें अनुवाद की भी अनेक अशुद्धियां हैं। जैसा कि पृष्ठ ४ पर earth का अनुवाद (चन्द्र), और 'Excursion of the molecules along free paths का "लतीफ ज़र्रात एक खास जानिब से इधर उधर चक्कर लगाते हैं" किया है। यहां free paths के लिए "एक खास जानिब से" के स्थान में "उन्मुक्त मार्गों से" होना चाहिए था।

"The Realities of Inner Life" (आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व) का उर्दू अनुवाद, "रूहानी ज़िन्दगी की हक़ीकतें,"ज़ेरे निगरानी व एहतिमाम महाशय वज़ीर चन्द्र अधिष्ठाता आर्य पुस्तक प्रचार' हुआ है इस में मनमानी छोड़ छाड़ की गई है। उदाहरणार्थ अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २३१ की पंक्तियां छोड़ दी गई हैं—Yes, the veil must be removed, the brute in man crushed, before the influx of the Divine Light can be realised. फिर इसी प्रकार पृष्ठ २३४ की इन लाइनों का अनुवाद नहीं दिया—He who styles himself an honest citizen is unjustly living upon heavy profits fitched from the influx of hopeless men. इसके अतिरिक्त अनुवाद में भी कहीं कहीं मन मानी की गई है, यथा She will speak to you of the various elements, the combinations and uses of the gases (page 232) का अनुवाद यह किया है—वह आप को मुख्तलिफ

(भिन्नभिन्न) अनासरों (तत्त्वों) के इत्तिसाल (संयोग) और इनफिसाल (वियोग) और बुखारात (भाफों) के हाल से आप को मतले (सूचित) करेगा।" इसी प्रकार The universe is fully of the Lord, and there is nothing of the universe which is not of the Lord. का अनुवाद यह किया है—"सारी कायनात (सृष्टि) उस मालिके कुल (सब के स्वामी) से भरपूर है, और कोई चीज़ उस मालिक के इख़तियार व इक़तिदार (शक्ति) से बाहर नहीं है।" फिर उर्दू पुस्तक के १३वें पृष्ठ पर जो "गरीब नेकी की दौलतमन्द बदी की निसबत ज़ियादा ख्वाहिश की जाती है" लिखा है इसके स्थान में मूल अङ्गरेज़ी शब्दों के अनुसार यह चाहिए था—"दौलतमन्द बदी की गरीब नेकी की निसबत ज़ियादा ख्वाहिश की जाती है।"

Pecuniomania (धन का दाह) का उर्दू अनुवाद भी आर्य प्रतिनिधि सभा पञ्जाब द्वारा प्रतिष्ठित आर्य पुस्तक प्रचार के अधिष्ठाता महाशय वज़ीर चन्द्र के प्रबन्ध और निगरानी में तैयार हुआ है। इस अनुवाद में भी बहुत कुछ मन मानी की गई है। इसके पहले ही पृष्ठ पर जो मनु० अ० २, श्लोक १३ का अनुवाद दिया गया है वह मन माना है। वह लेखक के मूल अँगरेज़ी शब्दों का अनुवाद नहीं। पण्डित गुरुदत्त ने श्लोक का केवल शब्दार्थ ही नहीं दिया। उन्हों ने अपनी ओर से व्याख्या भी की है। पर इस उर्दू पुस्तक में अनुवादक नें श्लोक के अपनी ओर से केवल अर्थ ही दिए हैं।

फिर कहीं कहीं भाषा ऐसी बेढंगी लिखी गई है कि उसका कुछ भी अर्थ समझ में नहीं आता। मूल अँगरेज़ी पुस्तक में एक स्थल पर ये शब्द हैं—Finally materialism, which I do not mean this or that scientific theory of the universe, but that devotion to the mere husks and rinds of good इनका अनुवाद उर्दू में इस प्रकार किया गया है—'बिलआख़िर मादी अक़ीदत है। इस से भी मेरी मुराद कायनात की इस या उस इलमी थ्युरी से नहीं है, बल्कि उस अक़ीदे से है जो कि नेकी की सिर्फ़ ज़ाहरा टीप टाप में लगाता है।' अब इस वाक्य का अर्थ समझना कोई सहज बात नहीं।

कई स्थलों पर मूल अँगरेज़ी शब्दों को समझने में भी गलती खाई है। देखिए अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २५० पर यह पाठ है—"And it is the foundation of these very conditions that he headlong pursuit of money undermines," इस का अनुवाद यह किया है—"इन्हीं के ज़ोर से अंधाधुन्द मुहब्बते दौलत की बेखकनी की जा सकती है" (पृष्ठ २२) पर अँगरेज़ी शब्दों का आशय इस के सर्वथा प्रतिकूल है।

फिर कई अँगरेज़ी वाक्यों का अनुवाद दिया ही नहीं गया। उन्हें

सर्वथा छोड़ दिया गया है। जैसा कि अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २४७ पर की इन सात लाइनों को बिलकुल छोड़ दिया है—

Lawyers, instead of breeding feelings of peaceful friendship and encouraging *reconciliation*, *encourage* feud and strife, and fan the flames of haughty pride or revengeful animosity. Tradesmen instead of administering to the wants and needs of the people, and regulating with justice the law of demand and supply, get all they can, and *give us little*, *keep their trade recipes secret or patented*, and delude the *ignorant consumers* with adulterated materials. फिर इसी प्रकार अँगरेज़ी पुस्तक के पृष्ठ २५३ के इस वाक्य का अनुवाद नहीं दिया गया—"Even the industrious dexterity and skilful ingenuity have bowed under the swaying *omnipotence of new ideas.*"

"टी० विलियम्स साहब की नियोग पर दोषालोचना का उत्तर" यह उर्दू अनुवाद बाबू परमानन्द विद्यार्थी तथा बाबू रलाराम विद्यार्थी के धर्म-प्रेम का फल है। अनुवाद में भी उपर्युक्त अनुवादों की तरह कई एक त्रुटियाँ हैं। इस में shall succeed in the name of his brother which is dead that his name be not put out of Israel. इस वाक्य का अनुवाद यह दिया है—"अपने मरहूम बाप के नाम पर तख्त नशीन होता"। पर चाहिए यह—"अपने मरहूम बाप का जा निशीन होता।"

फिर Accused का अनुवाद 'मुलज़िम' के स्थान में 'मुजरिम', और mean motive का 'कमीना गर्ज़' के स्थान में "कमीना बुग्ज़"किया गया है।

इस के अनेक वाक्य ऐसे भी हैं जो अधूरे और बेढंगे से जान पड़ते हैं यथा-"विलियम्स अपनी सच्ची क्रिश्चियन खासियत को इज़हार करते हुये अपने मिशन के हथियारों को दयानन्द की तरफ़ फेंकता है, और उनकी लानत मुलामत का मुस्तहिक बतलाता है। यह भी उन्हीं इलज़ामों में से जो ठीक ठीक टी० विलियम्स के खुदा पर आइद होते हैं" (पृष्ठ २०)। इस के सिर पैर का कुछ पता नहीं लगता।

इस दोष-प्रदर्शन से हमारा उद्देश्य अनुवादक महाशयों की हँसी उड़ाना या उनके परिश्रम, के महत्त्व को घटाना नहीं। इस से हम अपने पाठकों पर यही सिद्ध करना चाहते हैं कि पण्डित गुरुदत्त के लेखों का अनुवाद करना कितना कठिन कार्य है। हम ने अपने इस अनुवाद में उपर्युक्त अनुवादों के गुण तो प्रायः सब ले लिए हैं पर उनका दोष यथासम्भव कोई भी नहीं आने

दिया। हम ने पण्डित जी के एक एक शब्द का अनुवाद किया है। मूल की कोई भी बात नहीं छोड़ी, और न ही अपनी ओर से कोई नया विषय बढ़ाया है। पण्डित गुरुदत्त बहुत बड़े विद्वान् थे। उनकी लेखनी में अद्भुत और आश्चर्यकारिणी शक्ति थी। वे विज्ञान के प्रोफ़ेसर (महोपाध्याय) थे। इसलिए स्थल स्थल पर उनके निबंधों में विशेषतः वेद-वाक्यों में—क्लिष्ट वैज्ञानिक बातें मिलती हैं। उन के विचार अत्यन्त गहन और गम्भीर हैं। अतएव इस अनुवाद में हमें बड़ी बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। इस बात को वही लोग अच्छी तरह समझ सकेंगे जिन को कभी इस प्रकार की क्लिष्ट और गम्भीर-विवेचना-पूर्ण पुस्तक के अनुवाद करने का समय आया होगा।

इस अनुवाद में भाषा के सौन्दर्य पर हम ने अधिक ध्यान नहीं दिया। हां, यथाशक्ति हर प्रकार से भाषा को सरल और सब की समझ में आने योग्य बनाने का यत्न किया है। फिर भी विवश होकर हमें बहुत से स्थलों पर संस्कृत के कठिन शब्दों का प्रयोग करना पड़ा है। पर मूल लेखक की भाषा इतनी क्लिष्ट, बह्वर्थगर्भित है और उसके वाक्य इतने लम्बे और जटिल हैं कि हमें इस यत्न में बहुत कम सफलता हुई है। उर्दू में जो अनुवाद मिलते हैं उनकी भाषा भी ऐसी क्लिष्ट है कि फारसी के अच्छे ख़ासे मौलवी के विना वह और किसी की समझ में कठिनता से ही आ सकती है। उर्दू और अङ्गरेज़ी की क्लिष्टता का ध्यान करके यदि हम अपने अनुवाद की भाषा को सीधी सादी कह दें तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी। अस्तु भाषा चाहे कैसी हो अभिप्राय समझ में आजाना चाहिए। इसलिए हमने भाषा-सौन्दर्य को गौण रखकर मूल के भाव को ठीक ठीक उतारने की ही चेष्टा की है।

अनुवाद की कठिनता को अङ्गरेज़ी पुस्तक की प्रूफ-सम्बन्धी अशुद्धियों ने और बढ़ा दिया है। इस पुस्तक की प्रकाशिका, दी आर्यन प्रिन्टिङ्ग, एण्ड पब्लिशिङ्ग कम्पनी ने इसके प्रकाशन में ज़रा भी परिश्रम किया प्रतीत नहीं होता। पुस्तक का कोई भी पृष्ठ ऐसा नहीं जिस में दस बीस अशुद्धियां न हों। कई स्थलों में तो पृष्ठ सर्वथा उलट पलट कहीं के कहीं छप गये हैं। प्रूफ की अशुद्धियां इतनी भारी भारी हैं कि शुद्ध पाठ का पता लगाने में बड़ी कठिनता होती है। आर्य पुस्तकों के प्रकाशकों के लिए ऐसी असावधानता सर्वथा अक्षन्तव्य है, क्योंकि इस से पुस्तक की उपयोगिता बहुत घट जाती है। अङ्गरेज़ी पुस्तकें जैसी शुद्ध और सुन्दर आजकल छपती हैं उसका विचार करके यह कहने में तनिक भी सङ्कोच नहीं होता कि ऐसी गन्दी और अशुद्ध छपी हुई पुस्तक को कोई भी अङ्गरेज़ी भाषा भाषी हाथ लगाना पसन्द न करेगा। इस लिए हमारे पुस्तक प्रकाशकों को छपाई की अशुद्धियों को दूर करने का विशेष प्रयत्न करना चाहिए।

प्रस्तुत पुस्तक में हमने पण्डित गुरुदत्त के लेखों के अनुवाद के अतिरिक्त उनके सम्पादक की लिखी भूमिका का अनुवाद भी दे दिया है। साथ ही हम ने अँगरेज़ी में लिखे पण्डित गुरुदत्त के जीवन चरित्र का भाषान्तर भी आरम्भ में लगा दिया है क्योंकि किसी पुस्तक को पढ़ते समय पढ़ने वाले के मन में पुस्तक-कर्त्ता का परिचय प्राप्त करने की इच्छा सहज ही उत्पन्न होती है। पण्डित गुरुदत्त के सम्बंध में हाल ही में एक नई बात का पता लगा है। इसके बताने वाले पण्डितजी के मित्र और रीटायर्ड एक्स्टरा असिस्टेण्ट कमिश्नर सरदार रूपसिंहजी हैं। उन्होंने आर्य-सामाजिक पत्रों में छपवाया है कि पण्डित गुरुदत्तजी ने उनको बतलाया था कि 'ऋषि दयानन्द अपने मुक्तिधाम को पधारने के दिन अजमेर में एक कमरे में लेटे हुए थे। मुझे उन्होंने अपने सरहाने की ओर बिठलाया था। उस समय और दूसरा कोई कमरे में न था। चुप चाप बैठे मैं ने क्या देखा कि एक दयानन्द चारपाई पर लेटा हुआ है और दूसरा दयानन्द छत के पास बैठा हुआ व्याख्यान दे रहा है। मैं विस्मित होकर नीचे और ऊपर देखता था। यह एक दृश्य था जिसने मुझे योगी की योग-शक्ति पर पूरा विश्वास करा दिया और ईश्वर के अस्तित्व में मेरा पूर्ण निश्चय हो गया।'

पण्डित गुरुदत्त ऐसे विद्यावारिधि के ग्रन्थों का अनुवाद करने की हम में यथेष्ट योग्यता नहीं। फिर भी इन परमोपयोगी लेखों के अनुवाद से होने वाले लाभों के विचार से हम ने जो यह चपलता की है, उसे आशा है, विचारशील पाठक क्षमा करेंगे।

पुरानी बसी—होशियारपुर }
१ मार्गशीर्ष सम्वत् १९७५. }

सन्तराम बी० ए०

निवेदन ।

जिस शीघ्रता से यह लेखावली जनता के सम्मुख धरी जा रही है उसे मैं ही जानता हूँ। दिन रात के निरन्तर परिश्रम से यह उत्सव समय पर निकल सकी है। तथापि ऐसी अवस्था में अशुद्धियों का रहना साधारण था। अत्यन्त यत्न करने पर भी कुछ अशुद्धियां रह गई हैं। पाठक उनके लिये क्षमा करें। दो फार्म मेरी अनुपस्थिति में देखे गये थे, उन में अशुद्धियां अधिक हैं। मैं पुस्तक में अनेक नोट देना चाहता था परन्तु शीघ्रता के कारण विवश था। फिर भी जो कहीं २ नोट दिये गये हैं वे पाठकों को उपयोगी सिद्ध होंगे।

प्रूफ संशोधन में अपने दयानन्द कालेज के विद्यार्थी म० देशराज ने मेरी अत्यन्त सहायता की है। एतदर्थ उन्हें धन्यवाद देता हूं। बाम्बे प्रेस के स्वामी और सेवकों ने पुस्तक को यथासम्भव शीघ्र, सुन्दर और शुद्ध छापा है अतएव वे भी धन्यवादार्ह हैं।

परमात्मा इन लेखों को चिरस्थायी करें।

स्थान लाहौर मार्गशीर्ष १४
दयानन्दाब्द ३६

भगवद्दत्त

❃ पहले संस्करण की भूमिका ❃

अङ्गरेज़ी भाषा में आर्य्य समाज का जितना साहित्य है उस में पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम. ए. के ग्रन्थों का दरजा निस्सन्देह सब से पहला है। विचार की उच्चता, भावों की श्रेष्ठता, शैली की सुन्दरता और चारुता, दृष्टि की विशालता और व्यापकता, अर्थ की शक्ति और हृदयग्राहकता की दृष्टि से वे अद्वितीय हैं। पण्डित गुरुदत्त उन विरले प्रतिभाशाली मनुष्योंमें से एक थे जिन पर प्रत्येक सभ्यदेश यथार्थ गर्व कर सकता है। उनका युवावस्था में ही देहान्त होगया। शोक है कि वे आर्य्य समाज की बहुत थोड़े काल तक सेवा कर सके। उनके अन्दर जिज्ञासा और विषयके तत्व को पहुँचने की क्षमताएँ बहुत बढ़ी हुई थीं, अतएव उनके अत्यन्त दार्शनिक और वैज्ञानिक मन को वैदिक धर्म्म के सिवा और कोई धर्म्म सन्तुष्ट नहीं कर सकता था। इस लिए वे स्वामी दयानन्द सरस्वती की सेना में भरती होकर वैदिक धर्म्म के प्रचार में भारी दिलचस्पी दिखलाने लगे। परन्तु वैदिक धर्म्म की सचाइयों ने उन के मन में अभी गहरी और स्थायी जड़ नहीं पकड़ी थी कि एक खेदजनक घटना के कारण उन्हें परम योगी स्वामी दयानन्द सरस्वती के दर्शनों का अवसर मिला। जिस समय महर्षि अजमेर में सख्त बीमार पड़े थे तो लाहौर की आर्य्य समाज ने मुझे और पण्डित जी को अपना प्रतिनिधि बनाकर स्वामीजी की सेवा-शुश्रूषा के लिए वहाँ भेजा। वहाँ उन्हें महर्षि का मृत्यु-दृश्य देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। इसी दृश्य ने उन के सभी पुराने संशयों को दूर कर के उन के अन्दर वह भाव भर दिया जिस से कि उनका नाम सदा अमर बना रहेगा। उन्होंने देखा कि एक ओर तो भयानक रोग से ऐसी असह्य पीड़ा हो रही है कि बलवान् से बलवान् और वीर से वीर मनुष्य भी, जिसे आध्यात्मिक जगत् का बहुत कम ज्ञान है, इस के भयानक और क्रूर आक्रमणों से चिल्ला उठे, और दूसरी ओर दुःख और अनुताप के किसी चिन्ह के बिना स्वामी जी का शान्त, सानन्द, प्रौढ़, और हँसता हुआ मुखमण्डल है। इस अद्भुत दृश्य ने उन पर जादू का असर किया। इसका असर उन पर कैसे हुआ यह शब्दों में बताया नहीं जा सकता, और न स्वयं पण्डित जी ही इसे स्पष्ट कर सकते थे। ऐसा जान पड़ता है कि इस ने उन की आत्मा पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था,

जिस से वे एक असाधारण मनुष्य बन गए थे। इस प्रकार उन के अन्दर सच्चा परिवर्तन या उनका सच्चा वैदिक धर्म-प्रवेश स्वामी जी की मृत्यु के दिन से आरम्भ हुआ। इस के उपरान्त हम ने उन्हें सदा धर्म के लिए असाधारण उत्साह से भरा हुआ, वैदिक धर्म की विशाल और उत्कर्षकारी सचाइयों के साथ उन की आत्मा को रँगा हुआ और स्वामी दयानन्द सरस्वती के काम के प्रचार के लिए सदा अशान्त देखा। उनका तन, मन, और धन सब आर्य्य धर्म की सेवा के अर्पण थे और उनका एक मात्र काम वैदिक सचाइयों का आविष्कार और व्याख्या करना था। उन के वैदिक धर्म-सम्बन्धी विषयों पर विविध व्याख्यानों ने लोगों पर गहरा असर किया, और उनके "वैदिक मेग्ज़ीन" नामक सामयिक पत्र के निकलने से धार्मिक जगत् में भारी हलचल मच गई। वह निन्दित रोग-क्षयरोग-उन्हें युवाकाल में ही इस संसार से उठा ले गया और उन के अत्यन्त उपयोगी जीवन-तन्तु को उस ने काट डाला। बड़े खेद का विषय है कि हमें उन के मेग्ज़ीन के इस से अधिक अङ्कों के दर्शन न हो सके। इन पुस्तकों में जो पतित पावनी और उत्कर्षकारिणी सच्चाइयाँ भरी पड़ी हैं वे विद्वानों और धर्माभिलाषियों के लिए सदा प्रशंसा का विषय बनी रहेंगी।

ये मेग्ज़ीन और पण्डित जी के अन्य ग्रन्थ, उन की मृत्यु के उपरान्त, ऐसी बिखरी अवस्था में पड़े रहे हैं कि उनका प्रत्येक मनुष्य को प्राप्त होना कठिन था। उन सब को मिला कर भारी मूल्य (कोई चार रुपये) भी उन के विस्तीर्ण प्रचार में एक रुकावट थी। इन के अतिरिक्त उन में से कई एक अप्राप्य हैं। इन दोषों को दूर करने के लिए, मैंने, उनका एक पुराना मित्र और प्रशंसक होने, और उन के साथ कई वर्षों तक गहरा सम्बन्ध रखने के कारण, उन के सब ग्रन्थों को एक संहत और लघु पुस्तक के रूप में दुबारा छपाया है। इस के लिए मुझे दो प्रयोजनों ने प्रेरणा की है। १-वैदिक सिद्धान्तों का प्रचार करना, २-लोगों के मन में उस मनुष्य का शुभ नाम सदा ताज़ा रखना जो कि किसी समय आर्य्य समाज का भूषण था और जिस के नाम पर अभी तक भी यह देश गर्व कर सकता है। इस पुस्तक का मूल्य बहुत कम रखा गया है जिस से सब प्रकार के लोग इसे खरीद सकें।

इस पुस्तक में ये चीज़ें हैं, (१) पण्डित जी के वैदिक मेग्ज़ीन के सभी विषय, (२) छोटी छोटी पुस्तिकाओं के रूप में अलग अलग छपे हुए उनके सभी ग्रन्थ, (३) आर्य्य पत्रिका में छपे हुए उनके मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद लेखों में से बहुत से, और (४) * उनके दो अप्रकाशित लेख, जिनमें

* यह दोनों लेख आजकल के अङ्गरेज़ी संस्करण में नहीं मिलते, अतः इस अनुवाद में नहीं आये।

से एक तो उनका धर्म्म पर व्याख्यान है, जो कि उन्हों ने अपनी नवयुवक अवस्था में दिया था, और दूसरा ईश्वरीय ज्ञान पर उनकी एक टीका है जो कि उन्हों ने मेरी प्रार्थना पर मेरी "मसलए इलहाम" नामक एक उर्दू पुस्तिका पर लिखी थी। जब मनुष्य उपर्युक्त व्याख्यान को उनके दूसरे ग्रन्थों के साथ पढ़ता है तो पण्डित गुरुदत्त के धार्मिक जीवन में परिवर्तन और भी अधिक स्पष्ट और आश्चर्य जनक देख पड़ता है। वस्तुतः यह बड़ी विचित्र बात है कि धर्म्म का विषय जिसकी इस व्याख्यान में इतनी निन्दा की गई है, जल्दी ही बाद उनके लिखित और अलिखित प्रवचनों का प्रिय प्रसंग बन गया।

यह बात ध्यान में रखने योग्य है कि इस पुस्तक में जिन खण्डों का समावेश किया गया है उन में से कुछ तो बिलकुल ही नये हैं, और कुछ उन विषयों के पूर्व प्रकाशित लेखों से भिन्न हैं। ये परिवर्तन और परिवर्धन ग्रन्थकार के अपने हाथ से लिखे हुए मूल हस्तलेख के साथ मिलाकर किए गये हैं। ये हस्तलेख मैं ने प्रीतिपूर्वक और बड़ी सावधानी के साथ सुरक्षित रक्खे थे। लोप और व्यत्यय की कुछ अशुद्धियाँ भी उसी हस्तलेख की सहायता से ठीक करदी गई हैं। इस के अतिरिक्त मैं ने कुछ ऐसे परिवर्तन भी किए हैं, जिनका करना पाठ का अर्थ लगाने के लिए आवश्यक प्रतीत होता था।

वर्तमान पुस्तक अपनी पुस्तकमाला का पहला ग्रन्थ है। इस पुस्तक के प्रकाशन से मेरा उद्देश्य यह है कि मेरे देश भाइयों में से जो लोग आर्य्य शास्त्रों का अध्ययन मूल संस्कृत में नहीं कर सकते वे भी उनके महत्व को समझने लगें॥

लाहौर,
१५ अक्तूबर १८९७ ई.

जीवनदास पेनशनर,
(उपप्रधान, लाहौर आर्य्य समाज)।

ॐ जीवन चरित्र ॐ

पण्डित गुरुदत्त की छोटी सी जीवन-यात्रा बहुत ही मनोरञ्जक और प्रशस्त घटनाओं से भरी पड़ी है। स्वदेश के इतिहास में नाम पाना प्रत्येक मनुष्य के भाग्य में नहीं। जीवन के रङ्गमञ्च पर सहस्रों लोग आते हैं और कोई चिन्ह पीछे छोड़ने के बिना ही चले जाते हैं। जिन लोगों का उन के साथ मित्रता, व्यापार में हिस्सेदारी, या इसी प्रकार के किसी अन्य कारण से गाढ़ सम्बन्ध था, वे भी उनका नाम तक नहीं लेते। बाल्यावस्था में जिनको हम जानते थे उन में कितने हैं जो अभी तक भी हमें नहीं भूले। परिपक्व आयु में, जब कि विचार-शक्ति प्रायः परिणत होती है, हमारे जाने हुए सैकड़ों मनुष्य इस संसार से चले गये, और उन की मृत्यु के साथ ही उन के नाम भी हमारी स्मृति से मिट गए, बल्कि अनेक बार तो ऐसा सन्देह होने लगता है कि क्या कभी कोई ऐसा व्यक्ति इस संसार में आया भी था या नहीं। हम में से एक बड़ी संख्या की प्रारब्ध में यही है। जो लोग काल रूपी रेत पर अपने पद-चिन्ह छोड़ जाते हैं वे निस्सन्देह असाधारण योग्यता और अलौकिक सामर्थ्य वाले मनुष्य होते हैं। ऐसे युग में जोकि अपनी प्रति क्रिया-कारक प्रवृत्तियों और दोषालोचना के साहसी भाव के लिए प्रसिद्ध है, और ऐसे देश में जहाँ कि अस्वाभाविक रीतियों और संस्थाओं से प्रतिभाशाली मनुष्य की वृद्धि और उन्नति, प्रायः अपरिमेय सीमा तक, रोक दी जाती है; जहाँ कि नीच और दुष्ट मनोविकार, जोकि प्रायः धन, बल और आत्म-अभ्युदय के लिए आवश्यक अन्य बातों की प्राप्ति की ओर लगाए जाते हैं, सच्चे गुण का आदर नहीं होने देते, वहाँ नाम का अमर होना मनुष्य में अनेक उज्ज्वल और अलौलिक गुणों के होने का प्रमाण है। सब मतों और सम्प्रदायों के सुशिक्षित और प्रबुद्ध मनुष्यों का पण्डित गुरुदत्त को कृतज्ञ भाव से याद करना उनकी विशिष्टता और अत्युच्च प्रतिभा का ज्वलन्त प्रमाण है। भारत से बाहर उन्हें बहुत कम लोग जानते हैं, पर इस से उन की महत्ता में फ़र्क नहीं आजाता। वाईको और बिशप बटलर को, जिन्होंने कि इटली और ग्रेट ब्रिटन के दार्शनिक और धार्मिक विचारों पर भारी प्रभाव डाला, अब से कुछ दिन पहले उन के अपने २ देशों की सीमाओं के बाहर कौन जानता था? एक दार्शनिक को जिस का काम केवल विचार के साथ ही है, उस की जन्म-भूमि से सहस्रों मीलों की दूरी पर रहने वाले लोग एकदम नहीं जान सकते, विशेषतः जब कि सर्व साधारण की अविद्या उस के विचारों के प्रचार में भारी बाधा उपस्थित करती

है । इसी प्रकार एक धर्म-सुधारक भी, जिस का काम कि आध्यात्मिक जगत् में जीवन के उच्च नियमों का स्वरूप बताना है, विदेशी लोगों से, जिन की विचार-सरणि उस से सर्वथा विपरीत है, व्यापक सम्मान नहीं पा सकता । अधिक से अधिक उसे वही लोग जान सकते हैं जोकि उसी प्रकार के काम में लगे हुए हों । हम देखते हैं कि पण्डित गुरुदत्त को सार्वजनिक जीवन में प्रवेश किए अभी दो मास भी नहीं हुए थे कि उन का नाम सभी प्रबुद्ध मनुष्यों में वैदिक सिद्धान्तों के भाष्यकार के रूप में प्रसिद्ध होगया । इङ्गलेण्ड में उन्हें वे लोग जानते थे जो अपने आप को पूर्वीय विद्याओं के पण्डित कहते हैं ।

यह दिखलावे और प्रपंच का युग है । प्रत्येक मनुष्य जिस के पास चपल जिह्वा है और जो अपनी वाग्मिता से लोगों पर असर डाल सकता है, वही अपने आप को महापुरुष कहलाने की चिन्ता में है । ऐसे मनुष्य अनेक हैं जिन की मानसिक बुद्धिशीलता उच्च कोटि की नहीं, जिन के अन्दर सङ्कल्प की दृढ़ता नहीं, और जिन की नैतिक दशा बड़ी ही निराशा-जनक है, पर फिर भी उन्हें बड़े बनने का दावा करते तनिक संकोच नहीं होता । जिन रीतियों से वे लोगों को अपनी ओर आकर्षित करते हैं वे बड़ी ही विचित्र हैं । उन्होंने कई एक वेतनभोगी मनुष्य ऐसे रखे होते हैं जिन का काम कि उन के गुण गाना ही होता है । ये अनुजीवी उन्हें अग्रदूत और ढिंढोरिये का काम देते हैं, और जहाँ कहीं वे जाते हैं, अपने प्रभुओं के गुणों का, जोकि केवल कल्पित होते हैं, ढिंढोरा पीटते हैं, और लोगों को उन के सम्मान में सभाएँ करने और उन के आगमन पर गोले चलाने के लिए प्रेरणा करते हैं । यह है रीति जिस के द्वारा झूठ मूठ बड़ाई ग्रहण की जाती है और लोगों पर उसका दबाव डाला जाता है । इस प्रकार के महापुरुषों में एक और विशेषता भी होती है जिस का उल्लेख यहाँ उचित प्रतीत होता है । वे गम्भीरता और मौन का भाव धारण करलेते हैं । जो भी शब्द उन के होंठों से निकलता है वह भली भाँति सोचा हुआ होता है, और जो भी चेष्टा वे करते हैं उस पर उन्होंने पहले से ही पूर्ण विचार कर लिया होता है । पण्डित गुरुदत्त झूठी महत्वाकांक्षा और दंभ से विशेष तौर पर रहित थे । जो भी काम वे करते थे, अवश्यमेव वह कारण और युक्ति से शून्य नहीं होता था, परन्तु वह स्वाभाविक प्रतीत होता था, और उन के जीवन तथा बनावटी महापुरुषों के जीवन में स्पष्ट भेद देख पडता था । पण्डित गुरुदत्त सच्चे अर्थों में महान् थे, क्योंकि एक तो परमपिता में उन की अगाध श्रद्धा थी; दूसरे उन के विचार और कल्पनायें पवित्र, और बल और उन्नति के देने वाली थीं; तीसरे उन के अन्दर जनता को आकर्षण करने की शक्ति थी; चौथे उन के अन्दर वह दिव्य शक्ति थी जो कि महापुरुषों का विशेष गुण है;

पाँचवें वे मन, वचन, और कर्म से सच्चे थे, उन का जीवन अपूर्व रीति से एक रूप था; छठे, धर्म्म में वे झूठी संधि न करते थे, बनावटी सुधारकों की तरह वे लोगों के मूढ़ विश्वासों और पक्षपात से डर कर भड़वापन न करते थे, और इस दृष्टि से वे अपने समय के लोगों से बहुत ऊपर थे; सातवें वे प्रतिभाशाली थे; आठवें उन की सङ्कल्प और कर्म की शक्ति बड़ी प्रबल थी, और वे अपनी स्वाभाविक दिव्य शक्ति से सब कठिनताओं को दूर कर के संसार को ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित कर सकते थे। उन के सहयोगी अभी तक भी जीते हैं। इन में से कुछ एक जो उन की उन्नति को देखकर जलते थे और जो अपने अभ्युदय के लिए उन्हें कलङ्कित करना चाहते थे वे अभी तक भी उन की निन्दा ही करते मिलेंगे, परन्तु इन को छोड़ कर बाक़ी लोग ऐसे भी हैं जो उन्हें बड़े आदर की दृष्टि से देखते और उन्हें अपने समय का एक अद्वितीय मनुष्य समझते हैं। इस में तनिक भी सन्देह नहीं हो सकता कि वे महान् थे, और पाठकों को, उनके जीवन का भलीभाँति अध्ययन करने से, यह स्पष्ट ज्ञान हो जायगा कि वे साधारण मनुष्यों की सतह से बहुत ऊपर थे।

जन्म और माता पिता — पण्डित गुरुदत्त का जन्म २६ एप्रिल १८६४ ई. को मुलतान में हुआ। मुलतान, कुछ बातों में, पञ्जाब का एक अनुपम नगर है। यहाँ का जल-वायु शुष्क पर पौष्टिक है; ताप शायद ही कभी ११० दरजे से कम होता हो। भूमि कुछ अधिक उपजाऊ नहीं, खजूरें बहुतायत से पैदा होती हैं, और मुलतानी खजूर अपनी मिठास के लिए प्रान्त भर में प्रसिद्ध है। वहाँ धूलि धूसर से भरे हुए अँधड़ कसरत से आते हैं, और जब ग्रीष्म काल में गरम हवाएँ दिन भर चलती हैं तो नगर और इस के इर्द गिर्द के स्थान घनी धुन्द से ढँके हुए देख पड़ते हैं। यह परिस्थिति दक्षिण-पूर्वीय ज़िलों के लोगों को चाहे सुखद प्रतीत न हो, पर इस ने एक बलवान् और शूर जाति पैदा की है, जिस का कि शरीर दृढ और बुद्धि तीव्र है। इस ने जाति के आचरण को प्रभावशाली बनाने में साधन का काम दिया है। ऐसी परिस्थिति में पैदा होने के कारण पण्डित गुरुदत्त का दृढ़काय होना एक स्वाभाविक बात थी। परन्तु इस का एक और कारण भी था। उनका जन्म उस कुल में हुआ था जोकि निरन्तर कई पीढ़ियों तक रणक्षेत्र में समर-कौशल दिखलाता रहा था, और जिस का किसी समय एक विशाल और विस्तृत प्रान्त पर राज्य था। जिस समय मुसल्मानों ने पहले ही पहले भारत पर आक्रमण किये और आर्य राज्य परस्पर विनाशकारी कलह और संघर्ष के कारण टूट कर छोटे २ माण्डलिक राज्यों में विभक्त होगया, उस समय सरदाना कुल (जिस में कि पण्डित गुरुदत्त का जन्म हुआ था) के पूर्वज, राजा जगदीश, ने वैदेशिक विजेताओं के अत्याचारों

का वीरता से मुकाबला किया था, और उस से उत्पन्न होने वाली भीषण जटिलताओं में अपनी प्रजाओं की रक्षा के लिए अपना सर्वस्व, यहाँ तक कि अपने प्राण भी, न्योछावर कर दिये थे। ऐसे निर्भय योद्धा का रक्त मरदाना वँश की नाड़ियों में बहता था, और इस वँश के बहुत से वँशजों ने एक दूसरे के बाद वीरत्व-सूचक कार्य्य कर के अपने सामरिक भाव का परिचय दिया था। परन्तु हमारे चरित्र-नायक के पिता, लाला रामकृष्ण, को रणक्षेत्र में प्रतिष्ठा लाभ करने का कोई अवसर नहीं मिला। उन के समय में सरकार का राज्य भली भाँति प्रतिष्ठित हो चुका था, अब पुराने मुसलमानी शासन-काल की सी कोई अराजकता और गड़बड़ न थी। इस लिए वे साहित्य-कार्य में लग गए। वे फारसी भाषा के एक नामी पण्डित थे और पञ्जाब के शिक्षा-विभाग में एक प्रतिष्ठित अध्यापक थे। वे बड़े बलिष्ठ और प्रत्युत्पन्नमति थे। उन की बुद्धि बड़ी तीव्र और उन की स्मृति बड़ी दृढ़ थी। उन की बुद्धि अन्त तक वैसी ही प्रबल बनी रही। पिछली आयु में संस्कृत का अध्ययन आरम्भ करने पर भी उन्होंने उस भाषा पर ऐसा अधिकार प्राप्त कर लिया था कि वे इसे बिना कोई भारी अशुद्धि किए बड़ी सुगमता से लिख और बोल सकते थे। जैसा कि हिन्दुओं में रीति है उन का विवाह छोटी आयु में ही एक सुन्दर कन्या के साथ होगया था। वह अपढ़ होने पर भी बड़ी चतुर और निपुण थी। वह स्वभाव से ही धार्मिका और उदार होने के कारण सब कष्टों और कठिनाइयों को उदासीन तितिक्षा के साथ सहती थी। उस की आत्मा विपत्तियों को देख कर हिम्मत नहीं हार देती थी। उन के कई बच्चे पैदा हुए लेकिन उन में से थोड़े से ही जीते रहे। पण्डित गुरुदत्त उन के अन्तिम पुत्र थे। कई एक पुत्रियों के मर जाने से माता पिता की तन्दुरुस्ती पर बहुत बुरा परिणाम हुआ था, और इन दुर्घटनाओं से वे बहुत कुछ दब गए थे। पर गुरुदत्त के जन्म से उन का शोक कुछ हलका होगया। कहते हैं कि विपद् काल में वे अपने कुल-गुरु के पास गए थे, और उस से जाकर कहा था कि जगदीश से प्रार्थना कीजिए कि वह हमें एक पुत्र-रत्न दान दे। अपनी मनःकामना के पूर्ण हो जाने पर वे बालक को गुरु के पास ले गए, और उस ने बालक का नाम मूला रख दिया। यह कहानी अविश्वसनीय नहीं, क्योंकि भारत में जो लोग गुरु पूजक हैं वे समझते हैं कि गुरुओं की कृपा से उन्हें सुख आदि की प्राप्ति हो सकती है, यद्यपि इस अवस्था में गुरु की प्रार्थना और याचना से पुत्र का उत्पन्न होना मुश्किल से ही युक्ति-संगत ठहर सकता है। कर्म्म का अटल नियम यह चाहता था कि गुरुदत्त अपने माता पिता का अन्तिम बालक हो, और उस के जन्म के पहले उन्हें इतने आघात पहुँचें। और ऐसा ही हुआ।

अन्य प्राकृतिक नियमों के समान बीज-परम्परा का नियम भी अपरिवर्तनीय है। माता पिता के मुख्य २ गुण अवश्यमेव उन की सन्तान में संक्रमित हो जाते हैं। प्रायः बालक अपने माता पिता की प्रति-मूर्त्ति होता है। पण्डित गुरुदत्त की उच्च शारीरिक और मानसिक शक्ति के अनेक कारण थे। उत्तेजना और उल्लास उन्होंने उस जाति से पाये थे जिस में कि वे पैदा हुए थे। जो धैर्य्य और संयम उन के जीवन से टपकता था वह उन की माता के प्रबल प्रभाव का फल था। सङ्कल्प की दृढ़ता, दृष्टि की तीक्ष्णता, और बुद्धि की सूक्ष्मता अधिकतर उन के पिता से ली गई थीं। उन के बड़ी मानसिक शक्तियाँ रखने का एक और कारण यह था कि वे अपने माता पिता की अन्तिम सन्तान थे और उन की पूर्ण परिपक्व आयु में उत्पन्न हुए थे। मानसिक और शारीरिक घटना की दृष्टि से सब से छोटी सन्तान बाक़ी दूसरों की अपेक्षा सदा ही अच्छी होती है। ए. जे. डेविस महाशय का कथन है कि "जन्म ग्रहण करने के लिए सब से शुभ काल वह है जब कि माता की आयु तीस और पैंतालीस के बीच, और पिता की पैंतीस और पचास के बीच हो। बुद्धिमान् और दृढ़काय बालक जिन का शरीर और आत्मा सर्वोत्तम है उन्हीं माता पिता के यहाँ जन्म लेते हैं जिन का अङ्ग-विकास पूर्ण रूप से हो चुका है। सब से छोटा बच्चा ही सब से अधिक तीक्ष्ण होता है।" बड़े २ लेखकों, चित्रकारों, विद्वानों, और विचारकों में एक बड़ी संख्या उन लोगों की है जो या तो अपने पिता की अन्तिम सन्तान थे, या जो उपर्युक्त आयुओं के बीच पैदा हुए थे। ग्रेट हार्मोनिया नामक ग्रन्थ के चौथे खण्ड में बहुत से ऐसे नाम दिए गये हैं जो इस कथन की सचाई का समर्थन करते हैं। अतएव गुरुदत्त की उच्च मानसिक शक्तियों को स्थिर करने के लिए जन्म का अवसर भी कुछ कम न था। और इस अवसर के साथ विशेष रूप से उत्तम प्रारब्ध का फल मिल जाने से ही वे महापुरुष की पदवी को प्राप्त कर सके थे। पण्डित गुरुदत्त में, जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, दिखलावा नाम को भी न था। उन की प्रत्येक बात स्वाभाविक थी, जिस से प्रकट होता था कि उन की महत्ता वास्तविक, यथार्थ, और ईश्वरीय दान थी।

यह बालक अपने माता पिता का दुलारा था। उनका उस से असीम प्रेम था क्योंकि वह बहुत सी प्रार्थनाओं और याचनाओं के बाद मिला था। पहले पहल, जैसा कि कह चुके हैं, उसका नाम मूला रखा गया था, पर जल्दी ही बाद कुल-गुरु ने यह नाम बदल दिया और इस की जगह वैरागी नाम रखा, जोकि बालक की भावी लोक-यात्रा का ध्यान करके बड़ा ही उद्बोधक प्रतीत होता है। इस गुरु को हम योगी नहीं मान सकते क्योंकि यदि वह योगी होता तो वह कभी भी एक बड़े नगर के कोलाहल और चंचलता में रहता, और

मूढ़विश्वासों से दबी हुई जाति का धर्म्मयाजक बनना पसन्द न करता। सम्भवतः वह एक तीव्रबुद्धि मनुष्य था, और साधारण धर्म्मयाजकों से उसका दरजा ऊँचा था। उसे मस्तिष्क-विद्या का कुछ ज्ञान था। ऐसा जान पड़ता है कि वह बालक की आकृति को देखकर उसका भविष्यत् बता सकता था। बालक के मुख का स्वाभाविक आकार वैराग की ओर झुका हुआ देखकर शायद उसे खयाल आया होगा कि इस बालक के अदृष्ट में त्याग का–इन्द्रिय सुख के त्याग का–जीवन व्यतीत करना बदा है, इसी लिए उस ने वैरागी नाम बताया, जिसे कि माता पिता ने फौरन ग्रहण कर लिया क्योंकि उन की अपने गुरु में अगाध श्रद्धा थी। बालक बचपन में ही असाधारण शक्तियों के चिह्न प्रकट करने लगा। ऐसा जान पड़ता है कि माता पिता भी इस से अनभिज्ञ न थे। उन्होंने उस के मन की प्रवृत्ति को काफ़ी तौर पर देखा और बड़ी सावधानी से उसका पालन पोषण किया। वह अभी मुश्किल से ही एक वर्ष का हुआ था कि दौड़ने लगा। स्वभाव से ही जिज्ञासु होने के कारण वह अपने माता पिता से अपने देखे हुए पदार्थों के सम्बन्ध में असंख्य प्रश्न पूछता, और विषयों को समझने और ग्रहण करने में अद्भुत क्षमता दिखलाता था।

प्रारम्भिक शिक्षा — गुरुदत्त अभी पूरे पाँच बरस के न होने पाये थे कि उन्हें वर्णमाला सिखलाई गई। शिक्षा विभाग में नौकर होने के कारण उन के पिता बालकों को पढ़ाने में अच्छे दक्ष थे। बालक को पाठ याद कराने के लिए वे उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देते थे। वे उसे बहुत कम डाँटते थे; उसका बहुत ध्यान रखते थे, और उसे अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार ही कार्य करने देते थे। गणित की प्रारम्भिक बातें अगले वर्ष सिखलादी गईं, और गुरुदत्त अपनी धारणा शक्ति से ही बड़ी २ संख्याओं को बड़ी सुगमता से गुण सकते थे।

बालक अपने पिता के विशेष निरीक्षण और रक्षा मे रहता था, और पिता उस के स्वभाव और रुचि का बड़ी सावधानी से अध्ययन करता था। निस्सन्देह वह बड़ा ही चतुर मनुष्य था, और उसे उन नियमों का ज्ञान था जिन के अनुसार कि बालकों के मन का विकास होता है। वह अपने पुत्र को आप ही शिक्षा देने के लिए बड़ा उत्सुक था। वह उसे नगर के आस पास के गांवों में ले जाता, और उस के मनोरञ्जक, यद्यपि कच्चे, प्रश्नों का कुछ २ सूक्ष्म उत्तर देता। बालक ने उर्दू, फारसी आदि के प्रारम्भिक पाठ थोड़े ही समय में पढ़ लिए। अब उसे अँगरेजी पढ़ना था। इस विषय मे उसका पिता उस की बहुत कम सहायता कर सकता था, लेकिन लाला राम कृष्ण ने, जो अपने पुत्र की प्रकृति को जानते थे, सोचा कि उन के समान और कोई दूसरा

व्यक्ति उन के पुत्र के मन में अँगरेजी के अध्ययन के लिए चाह न पैदा कर सकेगा। इस लिए उन्होंने अँगरेजी की पहली पुस्तक पहले आप पढ़ने और फिर वह गुरुदत्त को पढ़ाने का दृढ़ निश्चय किया। उन दिनों उस समय के शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर करनल हालराइड साहब की बनाई हुई "हाऊटू स्पीक इङ्गलिश" नामक पोथी नव-छात्रों को पढ़ाई जाती थी। लाला रामकृष्ण ने अपनी पूरी शक्ति से इसे पढ़ना आरम्भ किया, और बुढ़ापे के होते हुए भी इसे थोड़े ही समय में समाप्त कर दिया, और फिर गुरुदत्त को पढ़ाया।

स्कूल चरित्र } आठ वर्ष की आयु में वे झंग स्कूल में भरती हुए क्योंकि उन के पिता वहाँ अध्यापक थे। अँगरेजी में तो वे अपनी श्रेणी के दूसरे लड़कों के ही बराबर थे, पर फारसी, गणित इत्यादि दूसरे विषयों में वे उन सब से बहुत आगे थे। फारसी के उन्होंने बहुत से महत्वपूर्ण ग्रन्थ पढ़ लिए थे: और वहाँ शिक्षा समाप्त कर के स्कूल छोड़ने के पहले ही उन्होंने मौलानाए रूमी, शमस तबरेज, और दीवाने हाफिज पढ़ लिए थे। इन पुस्तकों में यद्यपि कई स्थलों पर ऐसे विचार हैं जो बाहर से नव-युवकों के नैतिक विकास के लिए हानिकारक देख पड़ते हैं, फिर भी इन के अन्दर वह गूढ़-ज्ञान भरा पड़ा है जिस का पूर्वीय देशों में शताब्दियों तक सन्मान होता रहा है, और जहाँ कहीं कवि की दृष्टि बहुत ऊँची उठी है, वहाँ शुद्ध-हृदय पाठक का मन मोहित होकर अपने आप को भूल जाता है। इन में से कई एक श्लोकों का वस्तुतः बड़ा गहरा जादू चलता है, उपासक की प्रेम और भक्ति से सराबोर मूर्ति अपने आप मानसिक नेत्रों के सम्मुख आ उपस्थित होती है और यह हो नहीं सकता कि मनुष्य अपनी ओर निरन्तर बहने वाली विचार की चुम्बकीय धारा के प्रभाव का अनुभव न करे। ये पुस्तकें भी वह वैरागी पर प्रभाव डाले बिना नहीं रहीं। पहले ही स्वभाव से गूढ़ज्ञानवादी होने के कारण इस पर उनका गहरा प्रभाव हुआ। वह घण्टों ध्यान पूर्वक आकाश की ओर देखता रहता। इर्द गिर्द के लोगों का कोलाहल भी इस ध्यान को बहुत कम भँग कर सकता। वह उस सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर की महिमा का चिन्तन करता था जिस ने कि अनन्त गगनमण्डल में असंख्य उज्ज्वल ज्योतियाँ छिटकाई हैं। इस आयु में उनका ईश्वर की सत्ता में प्रबल विश्वास था, और जब एक समय वे अपने रात्रीय निरीक्षणों में लगे हुए थे और उन की माता ने उन्हें डाँटा तो वे कहने लगे—"माँ, आकाश में उन चमकते हुए तारों और उन भिन्न २ आकृतियों को देखिए: उन का बनाने वाला जरूर कोई है और मैं उस तक पहुँचने की विधि ढूँढ रहा हूं। तू भी ऐसा ही कर"। यद्यपि यह उत्तर वैरागी के लिए बहुत साधारण था, पर एक ग्यारह या बारह वर्ष के बालक के मुँह से यह बड़ा ही चौंका देने वाला मालूम होता है।

स्कूली लड़कों की प्रवृत्ति कविता करने की ओर बहुत होती है बल्कि जिन छात्रों में कविता के लिए प्रवृत्ति नहीं भी होती वे भी छन्द बनाते हुए देखे जाते हैं। शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति होगा जिस के अन्दर स्कूली दिनों में कवि बनने का शौक न कूदा हो। लेकिन यह शौक, प्रायः व्यापक होने पर भी स्थायी नहीं होता। यह बहुत थोड़े दिन रहता है, और एन्ट्रेंस क्लास पास करते ही लोप हो जाता है। पर गुरुदत्त की यह बात न थी। उन के अन्दर कविता का तत्व बहुत अधिक था और कविता के लिए स्वाभाविक प्रवृत्ति रखने के कारण उन के छन्द कृत्रिमता से रहित होते थे। उन के अन्दर सहज-जात कवि के विशेष गुण पाये जाते थे। उन की कविता मधुर, सुन्दर, और सरल होती थी, और वह प्रायः अनायास ही बनाई जाती थी। छन्द शास्त्र में उनकी शक्ति इतनी बढ़ी हुई थी कि, कहते हैं, उन्होंने उर्दू के एक लम्बे वाक्य का बिना पूर्वचिन्तन के तत्काल ही फारसी पद्य में अनुवाद कर दिया था। परन्तु उन्होंने अपनी इस काव्यमयी रुचि को बढ़ाया नहीं। मिडल की परीक्षा में उत्तीर्ण होजाने के उपरान्त, वे अपनी जन्म-भूमि मुलतान में हाई स्कूल में पढ़ने के लिए भेजे गए। उन दिनों उन के स्वाध्याय की प्रिय पुस्तक मसनवी मौलाना रूम थी। असाधारण तीव्र बुद्धि रखने के कारण वे अपनी श्रेणी के अच्छे लड़कों में से थे, और परीक्षा में सदा उच्च स्थान पर रहते थे। वे अपने अध्यापकों और विशेषतः हेडमास्टर, बाबू एस. ए. सरकार के कृपापात्र बन गए थे। हेडमास्टर साहिब ने, उन की महान् शक्तियों पर भरोसा होने के कारण, पहले ही से उन के भावी चरित का पता दे दिया था। उन्हें अध्ययन का बड़ा शौक था। मुलतान में कोई ऐसा पुस्तकालय न था जिस में वे ज्ञान-वृद्धि के लिए न गए हों। स्कूल का बड़ा पुस्तकालय और लड्डेखाँ के बाग का पुस्तकालय ये दोनों उन्होंने थोड़े ही समय में बिलकुल समाप्त कर दिए थे। मास्टर दयाराम उन दिनों स्कूल में अध्यापक थे। उन्होंने जब गुरुदत्त की धर्म की ओर प्रबल प्रवृत्ति देखी तो उन्हें "इण्डिया इन ग्रीस" और "बायबल इन इण्डिया" नामक दो पुस्तकें पढ़ने को दीं। इस के थोड़े ही दिन पहले उन्होंने "आईनए मज़हिबे हनूद" नामक एक पुस्तक देखी थी। इन पुस्तकों से उन्हें अपने देश के प्राचीन इतिहास के सम्बन्ध में बहुत कुछ जानकारी प्राप्त हुई। "आईनए मज़हबे हनूद" से, जिस में हिन्दू मत की अच्छी २ बातें लिखी हैं, उन्होंने परमात्मा के एक विशेषण, अनहद, का जप करना सीखा, और कुछ काल तक यह जप करते रहे। इस के शीघ्र ही उपरान्त उन्हें मानसिक विकास के लिए प्राणायाम की आवश्यकता का पता लगा। वे इसे नित्य लगातार करने लगे। इसका फल यह हुआ कि उन के मन में, जो पहले ही बड़ा तीक्ष्ण था, एकाग्रता की शक्ति बहुत बढ़ गई। वे किसी विषय में अपने मन को इतना

लीन कर सकते थे कि उन्हें अपने आस पास की चीजों की कुछ भी खबर न रहती थी। वे अपने मन को बाह्य चेष्टा से हटा कर अपने निरीक्षण के विषय में इतना प्रवृत्त कर सकते थे कि वे उस के हृदय में प्रवेश करके उस के सभी अङ्गों की सूक्ष्म परीक्षा कर सकते थे। उन की अद्भुत धारणा-शक्ति का बड़ा कारण यही था। वे प्रत्येक विषय का अपने मन में अनुभव करलेते थे जिस से यह विषय उन के मन पर ऐसी अच्छी तरह से अंकित हो जाता था कि फिर उसे कोई भी बाह्य पदार्थ मिटा न सकता था।

हाई स्कूल की शिक्षा ने गुरुदत्त की प्रवृत्ति बिलकुल बदल दी। अँगरेज़ विद्वानों के ग्रन्थों के पाठ और मनन से उन के पुराने विश्वास हिल गए। जो श्रद्धा उनकी बातों से पहले टपका करती थी अब वह दिखाई न देती थी। इस परिवर्तन का कारण मानसिक अयोग्यता न थी, क्योंकि गुरुदत्त में छान-बीन की अद्भुत शक्ति थी, और वे बिना किसी कठिनता के प्रसंग के विषयों की सँगति लगा सकते थे। कितना ही जटिल विचार, और कैसी ही भिन्न भिन्न कल्पनाओं का सँमिश्रण क्यों न हो, उन का मन कभी भ्रम में न पड़ता था। परन्तु जिन दिनों में वे मुलतान में शिक्षा पा रहे थे, पँजाब में एक भारी धार्म्मिक हल्चल हो रही थी। पश्चिमी विचारों के देश में महावेग के साथ अकस्मात् घुस आने, नवीन सभ्यता की चमक दमक, जीवन और विचार की नई रीतियों के प्रचार और मूर्ति-पूजा के विरुद्ध ईसाई मिश्नरियों के हिन्दुओं के प्रति हृदयंगम और शब्दचातुर्य-पूर्ण प्रोत्साहन ने शिक्षित समाज के विचारों को उलट पलट दिया था। स्कूलों की पाठ्य पुस्तकें भी, थोड़ी बहुत, संशयवाद को उत्पन्न, और उत्साहित करती थीं। पण्डित गुरुदत्त ने देखा कि जो फारसी ग्रन्थ उन्हों ने पढ़े थे,और जिन हिन्दू विचारों के अन्दर उनका पालन पोषण हुआ था वे बहुत ज़ियादा कल्पनात्मक और अयुक्त हैं। इसलिए स्वभावतः ही उनका मन इन से विरक्त हो गया। वे संशयात्मन् हो गए, यहाँ तक कि परमात्मा के अस्तित्व में भी सन्देह करने लगे। ऐसे समय में जब कि पाश्चात्य सभ्यता की लहर प्रत्येक पदार्थ को बहाती हुई लिए जा रही थी, जब अविश्वास और संशय ने धर्म्म के प्रदेश से श्रद्धा को निर्वासित कर दिया था, जब,फलतः लोग बड़ी संख्या में ईसाई मत को ग्रहण कर रहे थे,और जब जनता के अन्दर भारी अशान्ति फैल रही थी, एक शक्तिशाली सुधारक का आगमन हुआ। उसके प्रादुर्भाव ने इस क्रम को बिलकुल बदल दिया। महा प्रतिभाशाली होने के कारण उसने जडवादियों की युक्तियों को एकदम चकना चूर कर दिया। मुसलमान, ईसाई, और हिन्दू जो भी उस के साथ शास्त्रार्थ करने और उसके बतलाए हुए धर्म्म की वृद्धि को रोकने के लिए आगे आए उन में से प्रत्येक को हार मान कर भागना पडा। उन्हों ने देखा कि उनका मुका-

चला एक प्रतिभाशाली महापुरुष से है, जिसने कि उन्हें पूर्ण रूप से निग्रह स्थान में करके उनके भागने के लिए भी कोई रास्ता नहीं छोड़ा। इन लोगों के गर्व का टूटना प्रकट करता है कि जिन मतों और पन्थों को पक्ष ग्रहण करके ये लड़ते थे वे स्वाभाविक जीवनशक्ति से शून्य थे। उसके विचार बड़े ही युक्ति संगत और उत्कर्ष कारी थे और जिस वैदिक धर्म्म का वह प्रचार करता था वह मनुष्य की शारीरिक, नैतिक, और आध्यात्मिक प्रकृतियों की एकतानता के लिए बड़ा ही सहायक था। उच्च से उच्च पश्चिमीय विचार उसे किसी प्रकार प्रभावित न कर सकता था। वह बड़ी ही ऊँची चिट्टान पर खड़ा था, और जिस धर्म्म का वह जनता को उपदेश देता था वह बड़ा ही पवित्र, उच्च, और आत्मा को उत्साह देने वाला था, उस में झूठ की गंध भी न थी। ज्यों ही इस धर्म्म के आदर्श और सचाईयाँ लोगों के सामने रखी गईं लोगों ने उन्हें बड़ी उत्सुकता के साथ ग्रहण कर लिया। वह उमड़ा हुआ जन-प्रवाह जो प्रतिदिन वैदेशिक धर्म्मों की शरण ग्रहण कर रहा था एकदम रुक गया, अशान्ति और उत्तेजना झट जाती रही, और सब कहीं शान्ति और एकतानता का राज्य दिखाई देने लगा। गुरुदत्त भी वैदिक धर्म्म की ओर आकृष्ट हुए, और उन की जिज्ञासु क्षमताएँ वहाँ तृप्त हो गईं। उस समय पण्डित रैमल-दास और लाला चेतनानन्द उन के परम मित्र थे। ये दोनों पहले ही वैदिक धर्म्म को ग्रहण कर चुके थे। गुरुदत्त उन से परमात्मा और अन्य धार्म्मिक विषयों पर बात चीत किया करते थे। इन्हीं के कहने पर आप ने सत्यार्थ प्रकाश (प्रथम संस्करण) पढ़ा, और २० जून १८८० ई० को आर्य्य समाज में प्रविष्ट हुए। आर्य्य समाज के इतिहास में वह बड़ा ही शुभ दिन था। उस दिन से इस की उन्नति का एक नया युग आरम्भ होता है, क्योंकि उन के वैदिक धर्म्म प्रचार से आर्य्य समाज ने अनेक विद्वानों की सहानुभूति और सहकारिता लाभ की। आर्य्य समाज का सभासद बनने के शीघ्र ही उपरान्त उन्होंने अष्टाध्यायी का अध्ययन आरम्भ किया। इस के साथ उन्हें इतना प्रेम था कि उन्होंने मुलतान आर्य्य समाज के कर्म्मचारियों से कहा कि मुझे पढ़ाने के लिए एक पण्डित मँगा दीजिए और यदि तुम ऐसा कोई पण्डित मँगा कर न दोगे तो मैं समझूँगा कि तुम्हारा धर्म्म उथला है। कर्म्मचारियों ने इस प्रार्थना पर तुरन्त ध्यान देकर अक्षयानन्द नामक एक पण्डित को बुलालिया। गुरुदत्त ने उस से कुछ सप्ताह पढ़ा। गुरु शिष्य को सन्तुष्ट न कर सकता था क्योंकि वह उस के अनन्त प्रश्नों का उत्तर देने में असमर्थ था। विद्यार्थी जी ने पण्डित जी से केवल १½ अध्याय ही पढ़ कर विधिविरुद्ध पढ़ना छोड़ दिया। उन्होंने पुस्तक को स्वतन्त्र रीति से, शायद स्वामी जी के वेदाङ्ग प्रकाश की सहायता से, पढ़ना आरम्भ किया। उन्हें इस पुस्तक पर प्रशंसनीय अधिकार प्राप्त था।

मुलतान में उन्हें डाक्टर वेलनटाइन कृत "ईज़ी लेसन्ज़ इन संस्कृत ग्रामर" नामक एक पुस्तक मिली। इसे उन्होंने थोड़े ही दिनों में पढ़ डाला। यह छोटी सी पुस्तक वर्तमान शिक्षा-प्रणाली के अनुसार लिखी गई है, और गुरु की सहायता के बिना भी पढ़ी जा सकती है। इस में व्याकरण के बहुत से नियम आदि हैं, जिन से संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान हो जाता है। इस निबन्ध के लेखक ने स्वयम् इसे पढ़ा है, और वह अपने अनुभव से कह सकता है कि नव-छात्रों के लिए यह पुस्तक बहुत ही उपयोगी है। पण्डित गुरुदत्त इसे समाप्त करने के उपरान्त, ऋग्वेदादि भाष्य भूमिका का संस्कृत भाग पढ़ने लगे, और वे इसे पूर्ण रूप से समझते जाते थे। इस के विषय में उन की बहुत ही अच्छी राय थी, और जिन लोगों को बड़ी आयु, घर के काम काज इत्यादि के कारण अष्टाध्यायी का पढ़ना कठिन प्रतीत होता था उन्हें वे इस के पढ़ने की सिफारश करते थे। कई सज्जन उन के कहने से इस पुस्तक को पढ़ने लगे। उन्होंने अभी थोड़ा ही पढ़ा था कि उन्हें मालूम होने लगा कि वे संस्कृत के अच्छे लम्बे २ वाक्य समझने के योग्य हो गए हैं। इस विषय पर इतना लम्बा लिखने से हमारा उद्देश यह है कि जो लोग संस्कृत का पढ़ना इसलिए छोड़ देते हैं कि उनकी आयु बड़ी होगई है या उन्हें व्याकरण की कोई सुगम सी पुस्तक नहीं मिलती, उन्हें पता लग जाय कि यदि वे चाहें तो वे इस भाषा के ज्ञान को बढ़ा सकते हैं। मुलतान समाज के सभी कर्म्मचारी गुरुदत्त की उन्नति में दिलचस्पी लेते थे, और एक बार उन्हों ने उन की आर्य्योद्देश रत्न-माला और वेद भाष्य भूमिका में परीक्षा भी ली थी। वे समाज में नियम पूर्वक जाया करते थे, और सामाजिक लोग भी उन्हें बहुत पसन्द करते थे।

विद्या की कोई ही ऐसी शाखा होगी जिसकी ओर स्कूल में गुरुदत्त ने ध्यान न दिया हो। अँगरेज़ी साहित्य में उन्हों ने मिल्टन, काऊपर, और शेक्सपीयर पढ़े थे, फारसी में उन्हों ने मसनवी मौलाना रूमी, हाफ़िज़, और अन्य प्रसिद्ध २ ग्रन्थों पर अधिकार प्राप्त कर लिया था, अरबी में उन्हों ने सर्फ़ नहव और मरा नहव पढ़ ली थीं। भौतिक विज्ञान उनका मन भाता विषय था; साथ ही उन्हों ने तर्क शास्त्र, मनोविज्ञान, और तत्त्वज्ञान की अनेक पुस्तकें भी पढ़ डाली थीं। चौदह या पन्द्रह वर्ष के बालक के लिए यह एक असाधारण बात है। साधारणतः एन्ट्रेन्स क्लास में पढ़ने वाले लड़कों का ज्ञान बड़ा ही परिमित होता है, कई कई लड़के तो शुद्ध अङ्गरेज़ी की दो एक लाइनें भी नहीं लिख सकते। उन्हें कुछ एक पुस्तकों के जानने की आवश्यकता होती है। इन्हें ही वे रट लेते हैं, और पूछने पर तोते की तरह सुना देते हैं। विषय को भली भान्ति समझ कर अपनाने की बात उन में बहुत कम होती है। उन्हें तर्क शास्त्र, मनोविज्ञान, और तत्त्वज्ञान का कुछ भी पता

नहीं होता, ये नाम ही उन्हें बड़े अपरिचित से प्रतीत होते हैं । पर पण्डित गुरुदत्त ने एन्ट्रेन्स पास करने के पहले ही इनमें खासी योग्यता प्राप्त करली थी। अपनी श्रेणी में वह एक उज्ज्वल रत्न थे। उनका बहुत सा समय फालतू पुस्तकों के पढ़ने में व्यतीत होता था, इसलिए श्रेणी में सदा वे प्रथम नम्बर पर न रहते थे। दूसरे लड़के जो सदा पाठ्य पुस्तकों को ही याद करने में लगे रहते थे, इस बात में उन से बढ़ जाते थे, और कक्षा के पाठों में उन से नम्बर ले जाते थे, पर उन में से कोई भी गुरुदत्त के समान विस्तृत और विविध विद्याओं का ज्ञान रखने का गर्व नहीं कर सकता था । एन्ट्रेन्स में पढ़ते समय गुरुदत्त बड़ी सफलता पूर्वक एफ़० ए० के छात्रों का मुकाबला कर सकते थे। जो कुछ वे पढ़ते थे, केवल उसे रट ही नहीं लेते थे, प्रत्युत उसे भली भान्ति समझते थे। एक दार्शनिक प्रश्न के जो विविध अर्थ निकल सकते हैं उनको गुरुदत्त अनायास ही समझ लेते थे। शेक्सपीयर को ऐसे जोश और सफाई से बोलते थे मानों सचमुच ही नाटक खेला जा रहा हो—स्वर, चेष्टा और ताल सब प्रसङ्ग के अनुकूल होते थे। उनके अध्यापक भी इन क्षमताओं से अनभिज्ञ न थे। एक दफ़े एक प्रसिद्ध ग्रन्थकार का एक कठिन प्रबन्ध था। उस की समाप्ति "Here it is" (यह लीजिए) शब्दों के साथ होती थी । हेडमास्टर साहब ने लड़कों की योग्यता की परीक्षा लेने, और उन्हें यत्न करने के लिए उत्साहित करने के उद्देश से कहा कि जो लड़का इसे यथार्थ रीति सुनाएगा उसे पाँच रुपये इनाम दिया जायगा। सब ने वह वचन सुनाने का उद्योग किया पर सफलता न हुई। अन्ततः गुरुदत्त को वेदी पर बुलाया गया। उन्हों ने अपने सहपाठियों की विफलता को देखा था, पर इस से उन का मन विक्षुब्ध नहीं हुआ था। उन्हों ने हेडमास्टर साहब से प्रार्थना की कि कृपया मुझे मेज़ पर खड़े होने की आज्ञा दीजिये जिस से सब लोग मुझे देख सकें । आज्ञा मिल गई और वे बड़ी फुर्ती से मेज़ पर चढ़कर वस्तुतः प्रशंसनीय रीति से उस वचन को सुनाने लगे। ज्यों ही वे इस पद "Here it is" (यह लीजिए) पर पहुँचे उनका रूप और भावभंगी बिलकुल उसके अनुरूप हो गये। इसी प्रयोजन के लिए उन्हों ने जेब में एक पुस्तक रखी हुई थी, वह उन्हों ने समुचित स्वर के साथ "यह लीजिए" कहते हुए जेब से निकाल कर देदी। इस पर एक दम प्रशंसा-सूचक करतल-ध्वनि हुई। हेडमास्टर साहब ने उनकी पीठ पर थपथपाया और पांच रुपये पारितोषिक दिया । एन्ट्रेन्स क्लास के लड़के के लिए यह अद्भुत कर्म वस्तुतः बड़ा ही असाधारण और अपूर्व है।

अध्यापक लोग गुरुदत्त से उनकी प्रखर बुद्धि के कारण ही प्रेम नहीं करते थे, प्रत्युत एक और बात, अर्थात् उनकी सचाई के कारण भी उन पर

कृपा दृष्टि रखते थे। स्कूल में सचाई के लिए उन का नाम एक कहावत हो गया था। कैसी ही अवस्था क्यों न हो वे कभी झूठ न बोलते थे। अपना चरित्र पवित्र होने के कारण वे किसी से न डरते थे। इस दृष्टि से वे साधारण लड़कों से बहुत उच्च थे। जो दुराचार हमारे स्कूलों और कालजों के लड़कों में फैल रहे हैं, उन पर कुछ लिखने का यह समय नहीं। हमारे पास एक नामी डाक्टर–डाक्टर केल्लाग—का इस विषय में प्रमाण है। वे कहते हैं कि इङ्गलेण्ड के विद्यालयों और अन्य संस्थाओं के लड़कों में कईएक घोर दुराचार बड़े भयानक रूप से फैल रहे हैं। वास्तव में इस खराबी का पाश्चात्य सभ्यता और शिक्षा की पाश्चात्य रीतियों के साथ अटूट सम्बन्ध है। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि भारत में इस खराबी के पालन पोषण का काम आधुनिक प्रणाली ने किया है। हमारे कहने का यह कदापि अभिप्राय नहीं कि हमारे स्कूलों में पढ़ने वाले सभी छात्र शीलभ्रष्ट हैं। हमारे कथन का तात्पर्य केवल यही है कि वर्तमान स्कूलों में अनेक ऐसे प्रभाव हैं जिनका लड़कों के चरित्र पर बुरा असर होता है, और जो लोग स्कूल में पढ़ चुके हैं वे हमारे कथन को सत्य बतलायेंगे। कई ऐसे भी छात्र हैं जो इन प्रभावों से बड़े यत्न के साथ दूर रहते हैं। पण्डित गुरुदत्त उन्हीं में से एक थे। उन पर दुष्ट कामनाओं का कुछ भी प्रभाव न पड़ा था। इस से प्रकट होता है कि विधाता ने ही उन्हें विषया-सक्ति से उच्च होने के योग्य बनाया था। विधाता उन से कोई श्रेष्ठ और उच्चतर काम लेना चाहते थे। मुलतान में वे कभी कभी गूढ़ज्ञान में पड़कर अपने कई एक पुराने स्वभावों पर आग्रह पूर्वक डटे रहते थे। वे ऐसा क्यों करते थे इसका कोई युक्तिसङ्गत उत्तर नहीं मिलता। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि कर्म की स्थिर रीति से पैदा होने वाला अप्रतिरोधनीय प्रभाव इसका कारण न था क्योंकि उनकी सङ्कल्प शक्ति बाल्यावस्था में ही इतनी प्रबल थी कि वे बद्धमूल स्वभावों को उखाड़ कर फेंक सकते थे। उन्हें साधु और संन्यासियों से मिलने का बड़ा शौक था, और उन से वार्तालाप कर के उन्हें विशेष आनन्द प्राप्त होता था। एक बार वे अपने चचा के साथ मुलतान में आये हुए एक संन्यासी को मिलने गये। वहाँ उन के साथ निम्नलिखित बात चीत हुई।

गुरुदत्त विद्यार्थी—महाराज! योग सीखने की सर्वोत्तम विधि कौनसी है—जो पतञ्जलि की पुस्तक में लिखी है वह या कोई और?

संन्यासी—पतञ्जलि की विधि ही ठीक है, शेष सब कपोल कल्पित हैं।

गुरुदत्त विद्यार्थी—क्या आप स्वामी दयानन्द के विषय में कुछ जानते हैं?

संन्यासी—हाँ, हम जङ्गलों मे इकट्ठे रहे हैं। एक दफे एक स्थान में हम

एक पण्डित से भागवत पुराण की कथा सुनने आया करते थे । स्वामी दयानन्द इस पुराण की बातें सुनकर बहुत क्रुध होते थे, पर मैं उन्हें यह कह कर शान्त किया करता था कि संन्यासी को क्रोध से बचना चाहिए।

गुरुदत्त विद्यार्थी—क्या वेदों में सब प्रकार के ज्ञान के बीज पाये जाते हैं?

संन्यासी—हाँ।

गुरुदत्त विद्यार्थी—क्या वेद में सैन्य-सञ्चालन कला और व्यूह-रचना (ड्रिल) आदि के नियम भी हैं?

संन्यासी—हाँ; मैं यह सब जानता हूँ, और यदि मेरे साथ कोई भी छः मनुष्य वन में जाना पसन्द करें तो मैं उन्हें महाभारत और रामायण की शैली पर शिक्षा दे सकता हूँ।

गुरुदत्त विद्यार्थी—स्वामीजी, आप कहाँ कहाँ फिर आए हैं, और आप ने कौन कौन से स्थान देखे हैं?

संन्यासी—प्रायः सारा संसार, अलास्का, बेरिङ्ग इत्यादि । अलास्का को संस्कृत में अलावर्त देश कहते हैं।

गुरुदत्त विद्यार्थी—क्या आप को उन स्थानों की भिन्न भिन्न भाषाओं का ज्ञान हैं? यदि है, तो ज़रा रूसी भाषा बोलकर दिखलाइये।

संन्यासी—हाँ! पर मेरे रूसी भाषा में बोलने से क्या लाभ होगा जब कि तुम इसे समझ नहीं सकते । तुम्हें इतना बता देना ही पर्याप्त होगा कि उस भाषा में व्यञ्जन ज़्यादा हैं *।

एक और अद्भुत कहानी सुनिए जो कि पण्डित जी के एक विश्वस्त मित्र ने, जिसको उन्होंने आप सुनाई थी, हमें बताई है। पण्डित जी के माता पिता उन से बहुत प्रेम करते थे। मुलतान में उन्हों ने उन के लिए एक विशेष सेवक रख छोड़ा था। वह सदा उन के साथ छाया की तरह पीछे २ लगा फिरता था, और उन्हें बहुत कम अकेले छोड़ता था। खेलों में, स्कूल में, पढ़ने लिखने के कमरे में वह सदा उनके साथ लगा रहता। एक दिन गुरुदत्त चाचिङ्गाल नामक एक खेल खेल रहे थे। एक लड़का उनको पीठ पर मारकर दौड़ गया। गुरुदत्त उसके पीछे दौड़े पर लड़का चालाक होने के कारण बड़ी तेज़ी से भाग गया। मगर वह उसके पीछे ही दौड़ते रहे। थोड़ी ही देर में वे नगर के दरवाज़ों के बाहर निकल गये। लड़का अन्त को एक वृक्ष-समूह में अन्तर्धान हो गया। गुरुदत्त के सामने एक दीवार आजाने

* लाला लाजपतराय कृत "पण्डित गुरुदत्त का जीवन चरित्र" से लिया गया॥

से वे भागने से रुक गए। वे दीवार के पास जाकर ठहर गए और मन में सोचने लगे कि इस पर चढ़ूं या न चढ़ूँ। इतने में उन का नौकर भी आगया। पर गुरुदत्त चढ़ने का निश्चय कर चुके थे। उन्हों ने उसे बाहर ठहरे रहने के लिए कहा और आप दीवार फाँद गए। उस चार दीवारी के अन्दर वे अभी थोड़े ही गज़ दौड़े थे कि उनका सारा शरीर कांप उठा। उन्हें अपने चारों ओर का वायुमण्डल बिलकुल ही भिन्न प्रकार का मालूम हुआ। उन्हों ने समझा कि मैं किसी भयानक स्थान में आगया हूँ। पर उनका मन आतङ्कित नहीं हुआ और वे आगे और आगे दौड़ते गए यहांतक कि एकाएक उन्हें अपने चारों ओर की वृक्षावली में खड़खड़ाहट का शब्द सुनाई दिया, और ज्यों ही उनकी दृष्टि उस ओर गई उन्हों ने एक विशालकाय फ़क़ीर को अपनी ओर आते हुए देखा—उसके नेत्र उल्का-प्रकाश के समान चमक रहे थे, और उसके मुखमण्डल का भाव कुछ ऐसा था कि उसे देखकर हृदय में सम्मान और भय दोनों एक साथ पैदा होते थे। गुरुदत्त उनके प्रादुर्भाव पर विस्मित हो गए और उन्हें कुछ डर का अनुभव होने लगा। साधु उनके निकट आया, और उन से उनका नाम और वहाँ आने का कारण पूछा। तब वह उन्हें पेड़ों के अन्दर ले गया। वहाँ उसने उन ने कुछ शब्द कहे, और कहा कि किसी से मत डरो। गुरुदत्त को तब कुछ शान्ति आई। फिर वह झट उन्हें अपनी कुटि में ले गया। यह एक भद्दा सा मकान था, पर अन्दर से अतीव स्वच्छ था। वहाँ साधु ने उन से उन के पठन पाठन के विषय में पूछा, फिर कुछ मिनट बाद उन की शिखा को पकड़कर एक दम शान्त और सानुनय रीति से उसे झटकाया। गुरुदत्त ने उस समय यह अनुभव किया कि मैं एक खूब सजे सजाए कमरे में बैठा था, नेत्रोंके सामने एक बड़ा पेना पड़ा है,और उस पेने में पुस्तक के पाठ में निमग्न एक बालक का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। दो एक मिनट में चोटी के बाल छूट गए और वह सारा दृश्य लोप होगया। तब साधु ने आशीर्वाद देकर उन्हें विदा किया। गुरुदत्त दीवार फाँद कर अपने नौकर के साथ घर लौट आए। पर यह सारी बात गुप्त रक्खी गई।

हमारे कई एक पाठकों को यह कहानी चाहे अविश्वास्य प्रतीत हो, पर है यह सच्ची। संन्यासी के जादू के असर से जो दृश्य विद्यार्थी जी के सम्मुख उपस्थित हुआ था, उसे इस समय किसी प्रकार युक्तियुक्त सिद्ध करना कठिन है। सम्भव है यह कोई दृष्टि-भ्रम हो, या किसी प्रकार का दिवास्वप्न हो जिस में कि उन्हों ने अपना ही प्रतिबिम्ब देखा हो। दर्पण की स्थिति, लड़के का स्थान, और उस का भाव सब उन की अवस्था के ही सदृश थे। इस बात का ज्ञान उन्हें उस समय हुआ जब कि वे एक रात भोजन के उपरान्त प्रतिदिन की

तरह पढ़ने बैठे। यह ज्ञान कैसे हुआ, इस का भी कुछ पता नहीं। हम इस का कारण–कार्य्य सम्बन्ध स्थापित करने में असमर्थ हैं। मनुष्य के जीवन में कई घड़ियाँ ऐसी आती हैं जब कि पुरानी और भूली हुई बातें, जो पहले लाख यत्न करने पर भी याद न आती थीं, एकदम मानसिक नेत्रों के सामने आ उपस्थित होती हैं मानों उन को हुए अभी थोड़े ही दिन हुए हों। अनेक बार ऐसा भी होता है कि जिस प्रश्न को हल करने के लिए मनुष्य घण्टों सोचता रहा था, और उसे सफलता न हुई थी, वह कठिन समस्या, जब मनुष्य किसी और विषय में योग दे रहा है, एकदम पूर्ण रूप से खुल जाती है। प्रायः एक अदृष्ट रीति से इस अचिन्तित समाधान के होने का कारण सुगमता से मालूम हो नहीं सकता। लेकिन यह मनो-विज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली एक घटना है, इसका विरोध नहीं किया जासकता। हम में से जिनको गूढ भावमय प्रश्नों पर विचार करने का अवसर मिला है वे हमारी इन बातों को सत्य प्रमाणित करेंगे। इस विषय में अन्तिम अपील अनुभव के पास है; और जिस बात की पुष्टि और अनुमोदन अनुभव करता है वह प्रत्यक्ष रूप से असम्भव हो नहीं सकती। पर इस सम्बन्ध में केवल यही बात समाधान नहीं चाहती। एक रात जब गुरुदत्त सोने लगे तो उन्हें ऐसा अनुभव हुआ मानों वही साधु उन्हें बुला रहा है। उन्हों ने उन कम्पनों का स्पष्ट अनुभव किया जो उनके पास साधु के निमन्त्रण को लारहे थे। दूसरे दिन गुरुदत्त संन्यासी के पास गए। वह उन्हें देखकर बहुत प्रसन्न हुआ। उसने गुरुदत्त से कहा कि तुम ने मेरी आज्ञा का पालन करके बहुत अच्छा काम किया है। तब उसने उनकी तन्दुरुस्ती का हाल पूछा और कल फिर आने की आज्ञा देकर विदा कर दिया। विद्यार्थी ने वैसा ही किया। साधु ने पहले उन से उन के संस्कृत अध्ययन के विषय में कई एक प्रश्न पूछे, फिर उत्साह–जनक शब्दों में कहा कि संस्कृत पर अधिक ध्यान देना क्योंकि इसी से तुम मनुष्य–मात्र की भारी सेवा कर सकोगे। फिर वह उन्हें अपनी कुटि में ले गया और वहाँ जाकर यमों और नियमों की एक बड़ी ही विद्वत्तापूर्ण और विस्तृत व्याख्या की। उन्हें कई एक ऐसी विधियाँ भी बतलाईं जिनका यहाँ वर्णन करना हमारी शक्ति से बाहर है। उन्हें कहा गया कि इन का पूर्ण रीति से पालन करना अन्यथा घोर दण्ड भोगना पड़ेगा। इस में उन्हें केवल तीन भूलें माफ़ की गईं। गुरुदत्त वहाँ से आकर संन्यासी की बताई हुई विधियों के अनुसार करने लगे। मगर उन से एक अबोधपूर्वक भूल होगई, पर साधु ने वह ठीक करदी और भविष्यत् के लिए उन्हें सावधान कर दिया। इस पर गुरुदत्त अधिक सावधान हो गए, पर अपनी ओर से पूर्ण यत्न करने पर भी उन से दूसरी भूल हो ही गई। साधु ने फिर चेतावनी दी और कहा कि यह

चेतावनी है इस के बाद फिर भूल क्षमा न की जायगी । अब कहिए साधु और विद्यार्थी के संलाप का क्या समाधान हो सकता है ? कई लोग सारी कहानी को केवल कपट रचना समझेंगे, और दूसरे इस पिछले विस्तार को मूढ़ विश्वास कहेंगे । लेकिन हम समझते हैं कि इन दोनों प्रतिज्ञाओं में कोई सार नहीं । इस कहानी की सत्यता को पण्डित गुरुदत्त के उपर्युक्त मित्र ने प्रमाणित किया है और उसे इस के झूठ घड़ने का कोई प्रयोजन न था । साधु का सम्भाषण भी युक्ति से सिद्ध हो सकता है । साधु के अन्दर अतीव प्रबल मानसिक शक्तियाँ थीं यह निर्विवाद रूप से सिद्ध है । उसके मुखमण्डल पर वह दिव्य तेजोमण्डल था, जो उस से मिलने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मोहित कर लेता था, और गुरुदत्त उस की इच्छा-शक्ति की प्रबल चुम्बकीय धाराओं का प्रतिरोध न कर सकते थे । संसर्ग या सम्भाषण मेस्मरिज़्म के द्वारा किया जा सकता है । मेस्मरिज़्म की अवस्था में मनुष्य हज़ारों मीलों की बातों को ठीक ठीक तौर पर बयान कर सकता है । वर्तमान लेखक ने एक लड़की को मेस्मरिज़्म (मोहन्-विद्या) के प्रभाव के नीचे कई हज़ार मील की दूरी पर स्थित एक घर का, जिसका कि उसे पहले कुछ भी पता न था, ठीक ठीक हाल बताते देखा है । घर के स्वामी ने लड़की की बताई प्रत्येक बात के सत्य होने की साक्षी दी । साधारण अवस्था में उस कन्या को उस से मेस्मरिज़्म के संमोहन में पूछी हुई बातों का कुछ भी ज्ञान न था । मानव-मन की शक्तियाँ और क्षमताएँ किसी प्रकार कम और क्षुद्र नहीं । जिन लोगों को विचार—संक्रान्ति की सम्भावना में सन्देह हो, उन्हें "मानसिक सूचना" की पुस्तकों का पाठ करना चाहिए । योगी का गुरुदत्त के साथ संसर्ग यद्यपि नैमित्तिक था, पर इस से उन्हें लाभ बहुत हुआ । इस से उनकी व्यक्तिगत पवित्रता के नियमों में श्रद्धा और विश्वास को पुष्टि मिली । यम नियमो की शिक्षा और उन नियमों को भँग करने पर भारी दण्ड की धमकी ने उन पर बड़ा हितकर प्रभाव डाला । वे अपनी गति विधि में बड़े सावधान रहने लगे, और उनका मानसिक तथा नैतिक भाव, जो पहले ही साधारण लड़कों से उच्च था, और भी उच्चतर हो गया । बाद में जाकर इस ने उन के प्रतिभा-विकास में भारी सहायता दी क्योंकि मनुष्य का हृदय जितना अधिक पवित्र होगा, उतना ही अधिक उसकी महत्त्वाकांक्षा उच्च और गौरवान्वित होगी, और उसके विचार के भ्रष्ट होने का सुयोग उतना ही कम होगा, क्योंकि ऐसी बातों को उत्पन्न करने वाले कारणों का वहाँ विशेष रूप से अभाव होता है । उनके विचार और कर्म्म दिन पर दिन पवित्र होते गए, यहाँ तक कि अपने कालेज के दिनों में वे उन इने गिने युवकों में से एक थे, जिन

को उनके श्रेष्ठ जीवन और पवित्र आचार के कारण उनके दूसरे विद्यार्थी भाई आदर की दृष्टि से देखा करते हैं।

कालेज-जीवन } गुरुदत्त ने नवम्बर १८८० ईस्वी में 'एन्ट्रेन्स' पास किया, और जनवरी १८८१ ई० में स्थानीय गवर्नमेण्ट कालेज में पढ़ने के लिए लाहोर चले आए। उस समय पञ्जाब में शिक्षा अभी प्रथम अवस्था में ही थी। सारे प्रान्त में केवल एक ही कालेज था, और प्रान्त के सभी भागों के लड़के अपने हाई स्कूलों में शिक्षा समाप्त करने के उपरान्त आगे पढ़ने के लिए लाहोर आया करते थे। गवर्नमेण्ट कालेज उस समय विद्या का केन्द्र था। शिक्षक वर्ग सभी अनुभवी, विद्वान्, और बुद्धिमान् थे। डाक्टर लाइटनर महोदय, जो अपने पूर्वीय विद्याओं के पाण्डित्य के लिए उस समय जगद्विख्यात थे, और जिनको अभी तक भी पञ्जाब में बड़े कृतज्ञता-पूर्ण भाव के साथ स्मरण किया जाता है, कालेज के प्रिन्सिपल थे। उन के महानुभावी और प्रबुद्ध नेतृत्व में कालेज बड़ा लोक प्रिय होगया था। प्रोफेसर लोग विद्यार्थियों से शुभ स्नेह रखते थे, और इसके बदले में विद्यार्थी गण प्रोफेसरों से प्रेम और उनका संमान करते थे। छात्रों के प्रति उदासीनता का भाव, और उनके नैतिक हित का सर्वथा परित्याग जो उन लोगों का आजकल विशेष गुण बन रहा है जिनके सिपुर्द की शिक्षा देने का उत्तम काम है, उस समय बिलकुल न थे, न ही उस समय प्रोफेसरों के प्रति वह अनादर का भाव मौजूद था, जो इस समय छात्रों में पाया जाता है। इसी कारण कालेज योग्य पुरुष पैदा करता था। प्रतिभाशाली होने के कारण गुरुदत्त ने ज्ञान सागर में गहरा गोता लगाया, और सभी उपर्युक्त सुअवसरों ने उन की बुद्धि और चरित्र पर बड़ा उत्कर्षकारी प्रभाव डाला। कालेज में भरती होने के थोड़े ही मास उपरान्त उन्हों ने ख्याति लाभ की। उनके सद्भाव की उच्चता, सचाई के भारी आदर, विचार की गम्भीरता, आचार की श्रेष्ठता, प्रायः सभी विद्याओं में जानकारी की विशालता, और उन के सभी कामों में दिखलाई देने वाले सुदृढ़ सङ्कल्प ने प्रोफेसरों और विद्यार्थियों के ध्यान को आकर्षित किया और वे इन सद्गुणों के लिए उन की प्रसंशा करने लगे। जिस प्रकार चुम्बक लोहे को आकृष्ट करता है वैसेही वे अपने सद्गुणों से विद्यार्थियों को आकर्षित करने लगे। पाश्चात्य लेखकों की पुस्तकों के अध्ययन ने उनके कालेज-जीवन के पहले दो-तीन वर्षों में उन के मन में भारी अशान्ति उत्पन्न करदी। उनकी बुद्धि जगदीश्वर के अस्तित्व में विश्वास नहीं करती थी, यद्यपि उनकी आध्यात्मिक प्रकृति और उनके नैतिक गुण, जो उच्च और श्रेष्ठ थे, जगत् पिता के अस्तित्व की प्रबल और असंदिग्ध साक्षी देते थे। उनका हृदय परमात्मा, और उसके उपकार और दया में दृढ़ विश्वास रखता था लेकिन उनकी बुद्धि हृदय की

आशाओं को स्वीकार नहीं करती थी। उन के मानसिक विमर्श में संशय की छाया साफ़ दिखाई देती थी। उस समय वे मिल और बेन की पुस्तकों को ही बड़े चाव से पढ़ते थे; उनके आचार-सम्बन्धी विचारों को इन ही तत्त्ववेत्ताओं के ग्रन्थों से भोजन मिलता था, और हमारे कर्म्मों के अच्छा या बुरा होने के विषय में जो अपर्याप्त परीक्षा ईसाई मत बतलाता था उसके वे घोर विरोधी थे। ब्राह्म समाज उस समय बड़े ज़ोरों पर था, और इस समाज के ज़ोर देने से ही ईसाई धर्म्म का आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त बहुत प्रसिद्ध हो गया था। किसी बात के धर्म्मानुकूल या धर्म्मविरुद्ध होने का निर्णय करने में अपने अन्तःकरण को प्रमाण मानने का मत बहुत फैलने लगा था, इसलिए गुरुदत्त ने इस विषय पर जनता में प्रकाश डालने के लिए "रीजनरेटर आव आर्य्यावर्त" नामक पत्र में, जिसके सम्पादक वास्तव में वे आप ही थे, एक प्रभावशाली लेख लिखा। वह लेख पढ़ने के लायक है, इस लिये हम अपने पाठकों की ज्ञानवृद्धि के लिए उसे यहाँ उद्धृत करते हैं—

"अन्तःकरण के विषय में ब्राह्म समाज का मत सहजावबोध-वादियों का मत है यह सम्प्रदाय यह कहता है कि हमारे अन्दर एक नैतिक शक्ति या नैतिक सहज ज्ञान है जो कि हमें सत्य और असत्य का उसी प्रकार अनुभव कराता है जिस प्रकार कि नेत्र रङ्ग का अनुभव कराते हैं। जो लोग इस सिद्धान्त को नहीं मानते वे कहते हैं कि अन्तःकरण या विवेक कोई सहज शक्ति नहीं प्रत्युत यह एक उपार्जित क्षमता है। यह दूसरी इन्द्रियों से किसी प्रकार भी भिन्न और अलग नहीं। इस की प्राप्ति मुख्यतः अनुभव और संग से होती है। अन्तःकरण के स्वरूप की व्याख्या करने का यत्न करने के पहले हम अपने पाठकों को इन दो मतों से पैदा होने वाले प्रभेद दिखलाना चाहते हैं।

"अब इन दो दार्शनिक सम्प्रदायों—सहजावबोध के मानने वालों, तथा अनुभव और संग के मानने वालों—का भेद केवल निगूढ़ कल्पना की ही बात नहीं; यह व्यावहारिक परिणामों से भरा हुआ है, और इस उन्नति के युग में व्यावहारिक मत के सभी बड़े २ भेदों का आधार है। व्यावहारिक संस्कारक सदा उन विषयों में परिवर्तन चाहता है जिन का समर्थन कि प्रबल और विस्तृत मनोभाव करते हैं या वह प्रतिष्ठित सत्य घटनाओं की प्रत्यक्ष आवश्यकता या अव्यर्थता की परीक्षा करना चाहता है; और उन प्रबल मनोभावों का कैसे जन्म हुआ और वे सत्य घटनाएँ कैसे आवश्यक और अव्यर्थ प्रतीत होने लगीं, यह दिखलाना उस की युक्ति का एक अनिवार्य भाग होता है। अतएव इस के और उस तत्त्व ज्ञान के बीच एक स्वाभाविक शत्रुता है जो मनोभाव और नैतिक घटनाओं के परिस्थिति और सँग के द्वारा समाधान को निरुत्साहित करता है और उन्हें मनुष्य-प्रकृति के अन्तिम तत्त्व कहना पसन्द करता है,

जिस तत्त्व ज्ञान को कि अनुकूल सिद्धान्तों की सहजोपलब्ध सचाइयाँ मानने के परायण है और जो सहजावबोध को हमारे तर्क से उच्चतर प्रमाण के साथ बोलने वाली प्रकृति की और परमेश्वर की वाणी समझता है"। उपर्युक्त शब्द उन्नीसवीं शताब्दि के सब से बड़े तत्त्ववेत्ता के हैं। इन से यह स्पष्ट है कि यह सिद्धान्त नहीं, सुधार के लिए उपयोगी है और न ही सामान्य उन्नति और उत्कर्ष के लिए योग्य है। इस विचार-सरणि में चाहे अभी वह अनुद्यम और परिवर्तन-विरोध न भी हो जोकि ऊपर के शब्दों में दिखलाया गया है फिर भी निश्चय है कि भविष्य में ये इस में ज़रूर पैदा जायँगे। हमारा यह सच्चा विश्वास है कि यह प्रवृत्ति बड़े २ सामाजिक रोगों के युक्ति संगत उपचार में भारी बाधा, और मानवोत्कर्ष के लिए भारी प्रति-बंधक रही है। ब्राह्म समाज की प्रवृत्तियों में इस मौलिक दोष पर ब्राह्म सुधारकों को अवश्य ध्यान देना चाहिए।

"यदि अन्तःकरण की आज्ञाओं के विपरीत उपदेश देना मेरे लिए असम्भव होता, या हमारी दूसरी क्षमताओं के स्वाभाविक परिवर्तन और व्यापक ह्रास में यह शक्ति पवित्र और एकरस रह सकती तो इस प्रश्न को हम इस प्रकार न उठाते। परन्तु हमारे दुर्भाग्य से यह शक्ति बाह्य प्रभावों और अन्य प्रयोजनों के इतनी शीघ्रता से वशीभूत होजाती है कि प्रायः प्रश्न उठता है—"क्या मुझे अपने अन्तःकरण की आज्ञा का पालन करना चाहिए"? और ऐसे अनेक मनुष्य हुए हैं जिन्होंने इस प्रश्न के उत्तर में 'नहीं' कहा है।

"इस में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता कि विनीत हिन्दू पूर्ण निष्कपटता, पूजा और धर्म-निष्ठा के भाव के साथ अपने इष्ट देव की मूर्ति के सामने सिर निवाता और प्रार्थना करता है कि मेरे यत्न सफल हों; न ही हमें इस बात की सत्यता में कुछ कम विश्वास है कि जब प्रतिमा भंजक महमूद ने सोमनाथ की बहु मूल्य मूर्ति को तोड़ा तो उस का अन्तःकरण भी उस ब्राह्म समाजी से कुछ कम शान्त और गम्भीर था, जोकि अकपट हृदय और शुद्ध अन्तःकरण के साथ ईश्वर की प्रार्थना करता है। यदि ये बातें सत्य हैं तो इस में रत्ती भर भी सन्देह नहीं होसकता कि यह, यदि यह बिलकुल स्वाभाविक ही है, अनुभव की शक्ति नहीं, प्रत्युत यह हमारे भावों में एक पौष्टिक तत्त्वहै; इन भावों के जाने की दिशा केवल संग या शिक्षा से प्रतिष्ठित होती है"।

यह पौष्टिक तत्व क्या है? बालक के झूठ बोलने से घबराने का कारण उसके माता पिता और अन्य मनुष्यों के भय या उन्हें प्रसन्न करने की आशा के सिवा और क्या होसकता है? अब यदि हमें दूसरे मनुष्यों को अप्रसन्न करने का डर या प्रसन्न करने की आशा न हो. या यदि नरक का भय या स्वर्ग की आशा न हो, या ईश्वर आज्ञा के विरुद्ध चलने का डर या उसके

अनुकूल चलने की आशा न हो तो कौनसी शक्ति नियम में बाँधे रखने वाली होगी ? "जितना जितना यह बाह्य भय या आशा, यह विरोध और सहानुभूति मन पर किया करती है उतना उतना ही अन्तःकरण थोड़ा या बहुत कोमल या कठोर होता जाता है। तब इसको रोकने वाली शक्ति यह है कि मन में पहले से ही भावों की एक राशि मौजूद है, यह हमारी क्रियाओं की व्यवस्था करती है। जब हम पहले से मौजूद उन भावों के विरुद्ध कोई कर्म करते हैं तो यह भाव-राशि उसका प्रतिरोध करती है, और सम्भवतः यही पीछे से अनुताप के रूप में प्रकट होती है। जब ये भाव काफी प्रबल होते हैं और इन्हें पवित्र समझा जाता है, तो मनुष्य उन भावों के विरुद्ध कर्म करने को असम्भव समझ कर छोड़ देता है। इसीको अन्तःकरण की सरलता कहा जाता है। यदि नैतिक क्षमता के विषय में यह मत सत्य है तो अन्तःकरण न केवल सहजोपलब्ध क्षमता ही नहीं होसकता, प्रत्युत झूठी और सच्ची अनेक प्रकार की संगतियों में प्रतिरुद्ध होने, और शिक्षा तथा बाह्य प्रभावों की क्रिया से झुक जाने के कारण यह निर्दोष नीति के आधार का युक्तिसंगत हेतु भी नहीं होसकता।"

"अन्तःकरण" पर यह लेख १८८२ ई० में लिखा गया था। गुरुदत्त उस समय कालेज की पहिली कक्षा (फर्स्टईयर क्लास) में पढ़ते थे। भाव की धीरता, विचार की निर्दोषता और तत्त्वज्ञान की जटिल संस्थाओं पर अधिकार जो इस दोषालोचनात्मक मनोहर लेख से टपक रहे हैं निश्चय ही द्रष्टव्य हैं। सोलह या सत्रह वर्ष के लड़के में, जो अभी ही कालेज में भरती हुआ है, ऐसे गम्भीर गुणों का पाया जाना एक विचित्र बात है। पाठकों को यह सुनकर आश्चर्य्य होगा कि इस आयु में उन्होंने तत्त्वज्ञान के अनेक भारी भारी ग्रन्थ जो इस देश में मिल सकते थे, पढ़ लिए थे। शायद ही कोई ऐसा प्रसिद्ध दार्शनिक हो जिसके ग्रन्थ अँगरेजी में मिलते हों और ये उन्होंने गहरे विचार और पूर्ण मनोयोग से न पढ़े हों। स्मरण शक्ति के प्रबल होने के कारण विविध तत्त्ववेताओं के मुख्य मुख्य प्रत्यय और मत उनके मन पर अमिट रूप से अंकित होजाते थे, और उन्हें किसी तत्त्ववेता के मत का निश्चय करने के लिये उसके ग्रन्थों को देखने का बहुत ही कम प्रयोजन होता था। तत्त्वज्ञान का इतना बड़ा पण्डित होने पर भी वे दूसरी विद्याओं के कुछ कम ज्ञाता न थे। गणित वे इतना जानते थे जितना कि बी० ए० की परीक्षा के लिए आवश्यक होता है। विज्ञान उनके अध्ययन का विशेष विषय था और इसमें उनकी जानकारी बहुत विस्तृत थी। अरबी व्याकरण के नियम उनके जिह्वाग्र थे जिनका कि वे प्रत्येक समय उपयोग कर सकते थे, और उन्होंने उस भाषा के कई ग्रन्थ पढ़े थे। एक सज्जन के शब्दों में, जो उस समय उनका परम मित्र था और जो अब एक ऊँचे सरकारी पद पर नियत हैं, " वे गणित में इतने ही निपुण थे

जितने कि विज्ञान में, तत्त्वज्ञान के इतने ही पण्डित थे जितने कि भाषाओं के ।" प्रायः उनके अवकाश का सारा समय उन पुस्तकों के पढ़ने में व्यतीत होता था जो कि कालेज की पढ़ाई में न थीं, कालेज के दहाने के बाहर वे श्रेणी की पाठ्य पुस्तकें बहुत कम खोलते थे, फिर भी वे किसी परीक्षा में अनुत्तीर्ण नहीं हुए। उनकी सफलता का रहस्य यह था कि श्रेणी में बैठते समय वे पाठ पर पूर्ण योग देते थे । वे प्रोफेसरों के व्याख्यानों को बड़े ही ध्यान से सुनते थे और उनकी सारी प्रमुख बातों को लिखकर समझ लेते थे । वे पंजाब विश्व-विद्यालय की एफ०ए० की परीक्षा में मई १८८३ में बैठे, और उनके सहपाठी ला० लाजपत राय हमें निश्चय दिलाते हैं कि उन्होंने गुरुदत्त को घर पर कभी कालेज की या श्रेणी की पुस्तकें पढ़ते नहीं देखा था फिर भी वे परीक्षा में प्रथम रहे ।

पण्डित गुरुदत्त का अपने सहपाठियों और विशेषतः अपने मित्रों के जीवन और विचार पर गहरा प्रभाव था । इन्होंने धर्म्म और तत्त्वज्ञान के प्रश्नों पर विचार करने के लिए एक समिति प्रतिष्ठित करनेका प्रस्ताव किया। यह समिति यथाविधि १८८२ में बन गई । समिति में दिलचस्पी लेने वाले लोगों की सर्व-सम्मिति से गुरुदत्त इसके मन्त्री बनाए गए। उस समय उनके विचार, जैसा कि हम कह चुके हैं, अज्ञेयवादी थे, कभी कभी उनकी चिन्ता नास्तिकता के रङ्ग में भी रङ्गी होती थी । समिति में सब प्रकार के विषयों पर विचार होता था । सदस्यों में सब धर्म्मों के मानने वाले लोग थे । कुछ हिन्दू थे कुछ मुसलमान, कुछ ब्राह्म, और कुछ आर्य्य । वे अपने अपने धर्म्मों की दृष्टि से विचाराधीन प्रश्नों को हल करते थे । यह समिति अपने सदस्यों में खोज का भाव पैदा करने का काम करती थी । उनमें से प्रत्येक दूसरों के विश्वासों को जानने का यत्न करता था। समिति के स्थायी आर्य (हिन्दू) सदस्य ये थे—लाला शिवनाथ, ला० लाजपत राय, ला० हँसराज, ला० सदानन्द, ला० चेतनानन्द, ला० रुचिराम, दीवान नरेन्द्रनाथ, पण्डित हरिकृष्ण, पण्डित रामेश्वरनाथ कौल इत्यादि इत्यादि । पण्डित गुरुदत्त एक प्रतिभाशाली मनुष्य थे, इसलिये दूसरे सदस्य उनके विचारों का बड़ा मान करते थे, और उनमें से बहुत से उनके मन के प्रबल सद्भाव से प्रभावित थे ।

सन् १८८३ ई० में पण्डित गुरुदत्त के धर्म्म सम्बन्धी विचार प्रायः नास्तिकता की सीमा को पहुंच गए थे । उन्होंने सम्भवतः उस वर्ष के प्रायः मध्य में "धर्म्म" पर एक व्याख्यान दिया। हमारे माननीय भाई लाला जीवनदास, भूतपूर्व प्रधान लाहौर आर्य समाज के परिश्रम से उस व्याख्यान का कुछ भाग आर्य जनता को इस समय प्राप्तव्य है । जो पृष्ठ इस समय प्राप्य

हैं उनमें पण्डित गुरुदत्त ने धर्म्म के आदि मूल पर विचार किया है। धर्म्म के विरुद्ध यह एक भारी आक्रमण है। आरम्भ में ही वे कहते हैं धर्म्म की व्यापक कल्पना पर इन व्याकुल कर देने वाली परन्तु पूर्णतः सत्य चिन्ताओं के स्थूल वर्णन से मेरा उद्देश्य यह दिखलाना है कि मनुष्य जाति के, विशेषतः व्यक्तियों के भाव धर्म्म द्वारा किस प्रकार आन्दोलित होते हैं। इससे हमें एक ऐसी शिक्षा मिलती है जिस पर कि सदा ध्यान देते रहने की आवश्यकता है: यदि इस शिक्षा का प्रकट करना अभीष्ट न होता तो मैं इन खिन्न चिन्ताओं के वर्णन करने का कभी कष्ट न उठाता। शिक्षा यह है कि धर्म्म सम्बन्धी सर्वप्रकार के प्रश्नों पर विचार करते समय हमें अपने चित्तविकारों से प्रभावित न होकर सदा तर्क का ही आश्रय लेना चाहिए। कई ऐसे विषय भी हैं जहाँ मनुष्य मनभाते विचार रख सकता है। पर धर्म्म में हमारा सम्बन्ध केवल सत्य के साथ ही है जहाँ तक कि सत्य तर्क द्वारा मालूम होसकता है। निस्सन्देह दूसरों के भावों और मतों को अज्ञानपूर्वक ठेस लगाने से बढ़कर और कोई कुत्सित कार्य नहीं। इस कारण मैं अनावश्यक रीति से धार्मिक सत्यता रूपी उस उच्चतर प्रश्न के मूल पर विचार नहीं करूंगा जिससे कि मेरा वर्त्तमान विषय सर्वथा अलग है। मैं अपने विषय पर पूरी पूरी वैज्ञानिक रीति से विचार करना चाहता हूं; यह एक ऐसी रीति है जो न ही तत्त्वज्ञानी के, और न ही वेदान्ती के स्वार्थों के लिए अहितकर है। मैं अपने प्रयोजनों के लिए मनुष्य—प्रकृति के सुप्रतिष्ठित नियमों और अन्य निरुपपत्तिक व्यापकताओं को अनुमान का आधार बनाऊँगा और अपने परिणामों को सार्वत्रिक इतिहास की घटनाओं से प्रमाणित करूँगा।

प्रत्यय की सरलता गुरुदत्त के शील का मुख्य गुण था। ऐसे जीवन के लिए जो मन और कर्म्म में एक रूप न हो उनके अन्दर असीम घृणा थी। जिस दम्भ और छल की ऐसी बड़ी मात्रा वर्त्तमान समय के कथन मात्र सभ्य संसार में स्पष्ट देख पड़ती है वे उनकी प्रकृति में बिलकुल न थे। वे अपने जीवन में कभी चिरकाल तक नास्तिक नहीं रहे। ऐसे दिन थे जब कि उनके मन का भाव निस्सन्देह नास्तिक था, पर इन दिनों की संख्या बहुत कम थी। "धर्म्म" पर व्याख्यान उन दिनों में दिया गया था जब कि उनकी आध्यात्मिक क्षमता पहले से अच्छी होगई थी। उन्होंने अपने विश्वासों को कभी छिपाया नहीं, बल्कि जिन दिनों वे आस्तिक न थे उन दिनों उन्होंने अपने प्रत्यय साफ प्रकट कर दिए थे, और उपर्युक्त व्याख्यान उनकी निष्कपटता का प्रबल प्रमाण है। परन्तु जिन दिनों का वृत्तांत हम लिख रहे हैं उन दिनों में उनकी मानसिक दशा एक रूप बहुत कम होती थी, इसलिये वे कर्म्म का कोई स्थिर मार्ग ग्रहण न कर सकते थे। जब आस्तिक प्रवृत्ति प्रधान होगई तो

उन्होंने परमेश्वर के अस्तित्व में अपने विश्वास को स्पष्ट कह दिया। सन् १८८३ ई० में उनकी मानसिक और आध्यात्मिक क्षमताओं के बीच भारी संग्राम होरहा था। उनके चरित-बल और तर्क-शक्ति के प्रबल होने के कारण उनकी बात चीत से उनके अनेक मित्रों के ईश्वर-विषयक विचार हिल गए थे, प्रत्युत एक मित्र ने तो उसी वर्ष उन्हें यहाँ तक लिखा था कि हमें ईश्वर के अस्तित्व में अपने अविश्वास का प्रकाश सर्वसाधारण में कर देना चाहिये। इसीसे हम उनके रोज़नामचे में इस बात का एक नोट देखते हैं, "लाला— लिखते हैं कि हमें अपने नास्तिक होने की घोषणा कर देनी चाहिये।" इस कल्पना की सूचना देने वाला पत्र सम्भवतः उन्हें उस समय मिला जब कि उनका चिन्ता-भाव बदल चुका था, अन्यथा इस विषय में वे अवश्य कोई नियत मार्ग स्थिर करते।

सन् १८८३ ई० में पण्डित गुरुदत्त बड़े ही व्यापृत थे। जनवरी में उन्होंने उपर्युक्त व्याख्यान दिया और मार्च में आर्य समाज के सम्बन्ध में एक "विज्ञान-श्रेणी" स्थापित की। यह श्रेणी गवर्नमेण्ट कालेज के विज्ञान-महोपाध्याय डाक्टर ओमन की संरक्षकता में कार्य करती थी। पण्डित जी का काम एक तरफ नहीं अनेक तरफों में होरहा था। एक ओर "विज्ञान–श्रेणी" के स्वार्थों के लिये काम करते थे तो दूसरी ओर उन्हें "रीजनरेटरआव आर्यावर्त्त" नामक पत्र के लिए लेख लिखने पड़ते थे। यह पत्र आर्य प्रेस के स्वामी लाला शालिग्राम ने जारी किया था।

इस समय एक ऐसी घटना हुई जिसने उनके जीवन की गति को बिलकुल बदल दिया। स्वामी दयानन्द अजमेर में मृत्यु शय्या पर पड़े थे। यह समाचार लाहोर में ९ अक्तूबर को पहुँचा। लाहोर आर्य समाज के अधिकारियों ने लाला जीवन दास और पण्डित गुरुदत्त को फौरन अजमेर भेजा। पण्डित जी का वहाँ जाना क्या उनके अपने आप और क्या आर्य समाज दोनों के लिए लाभदायक हुआ। इसी से उनके जीवन ने पलटा खाया और आर्य समाज के इतिहास में एक भारी युग आरम्भ हुआ। जब वे अजमेर पहुँचे स्वामी जी की अवस्था बहुत शोचनीय हो चुकी थी। सारे शरीर पर फफोले उभर आए थे और हिलने जुलने में भी भारी कठिनता होती थी। ऐसी कड़ी परीक्षा के नीचे साधारण मनुष्य एक मिनट न ठहर सकता। लेकिन स्वामी जी थे कि हा तक न करते थे। उनका मुखमण्डल सदा की तरह शान्त और प्रसन्न था। कष्ट और परिताप का वहाँ चिन्ह मात्र भी न था। पण्डित गुरुदत्त ऐसे तीव्र-बुद्धि और शीघ्रग्राहक मनुष्य के लिए वस्तुतः यह एक विस्मयोत्पादक दृश्य था। ये निःशब्द विस्मय के साथ महर्षि की ओर घण्टों देखते रहे। इस समय उन्होंने अपने जीवन-काल में पहली बार आदर्श संस्कारक को देखा। स्वामी

जी ने भी उन्हें पहले न देखा था और उनकी शक्तियों से सर्वथा अनभिज्ञ थे। इस मिलाप पर महर्षि के तीक्ष्ण नेत्रों ने आर्यों के सारे समूह में से शीघ्र उन्हें पहचान लिया कि यही मनुष्य जनता की स्थायी सेवा करने के योग्य है। दूसरी ओर गुरुदत्त ने उनके आचार को जाना और उनके जीवन के आकर्षणशील प्रभाव का अनुभव किया। मानो एक प्रकार से दो आत्माओं के बीच गाढ़ सम्बन्ध पैदा होगया। महर्षि के दर्शन से नास्तिकता भागने लगी और उनके मृत्यु-दृश्य पर तो बिल्कुल ही जाती रही। मृत्यु के दो एक घण्टे पहले महर्षि ने अपने नौकरों और सेवकों में दोशाले आदि बाँटे, और जब परलोक गमन में कुछ एक मिनट रह गए तो उन्होंने पण्डित गुरुदत्त के सिवा बाकी सब लोगों को कमरे से बाहर चले जाने की आज्ञा दी। महान् सुधारक मृत्यु-शय्या पर पड़ा था। उसके शांत और प्रसन्न मुखमण्डल से स्वर्गीय ज्योति टपक रही थी। उसे संसार और संसार के दुःखों की कुछ भी चिन्ता न थी। वह अपने प्रभु की स्तुति कर रहा था। उसे मृत्यु का कुछ भी डर न था। प्रत्युत वह परम पिता के साथ मिलाप के कारण आनन्द का अनुभव कर रहा था। "भगवन्, तेरी इच्छा पूर्ण हो" कहते हुए स्वामी जी ने आँखें बन्द कर लीं। पण्डित गुरुदत्त ने यह सब देखा। वे ध्यानपूर्वक चिरकाल तक देखते रहे, तब उनके अन्दर परिवर्तन पैदा हुआ। उनके मनमें नास्तिकता का अन्तिम अवशेष नष्ट होगया। उनकी सारी प्रकृति रूपान्तरित होकर एक उच्चतर और श्रेष्ठतर वस्तु बनगई। उनके सभी संशय दूर होगए, और वे एक सर्वथा नवीन मनुष्य बन गए। उन्होंने देखा कि सत्य के लिए जीवन व्यतीत करने वालों को मृत्यु से कोई डर नहीं लगता। भूत और भविष्यत् में एक अनन्त जीवन है। आत्मा के अमर होने के कारण हमें धर्म के स्वार्थों को संसार के विचारों के नीचे नहीं दबने देना चाहिए। और उन्हें मालूम होगया कि मृत्यु एक स्थान से दूसरे स्थान में चले जाने से बढ़कर और कुछ नहीं, और जो लोग भक्ति और पुण्यशीलता का जीवन व्यतीत करते हैं उन्हें इससे ज़रा भी डर नहीं। इस उज्ज्वल दृश्य ने गुरुदत्त के मन पर अद्भुत प्रभाव डाला। इसके बाद हम इन्हें पूर्ण परिश्रम के साथ आस्तिकता और धर्म का प्रचार करते देखते हैं। आर्यसमाज की जो सेवा उन्होंने की वह आर्य लोग पहले ही जानते हैं, और उनका नाम आर्यसमाज के आकाश में एक उज्ज्वल तारे की तरह चमक रहा है। उपर्युक्त स्मरणीय घटना के बाद गुरुदत्त आर्य साहित्य के गम्भीर अध्ययन में लग गए। जितना अधिक वे स्वामी दयानन्द की पुस्तकों का अध्ययन करते थे महर्षि के प्रति उनकी भक्ति उतनी ही प्रचण्ड और वैदिक धर्म में उनकी श्रद्धा उतनी ही प्रगाढ़ होती जाती थी। उन्होंने सत्यार्थप्रकाश को कम से कम

अठारह बार पढ़ा था । वे कहते थे कि जितनी बार मैं उसे पढ़ता हूं मुझे मन और आत्मा के लिए कुछ न कुछ नवीन ही भोजन मिलता है । उनका कथन है कि पुस्तक गूढ़ सचाइयों से भरी पड़ी है ।

स्वामी दयानन्द की मृत्यु का समाचार अजमेर से फ़ौरन सामाजिक चेष्टाओं के विविध केन्द्रों में तार द्वारा भेजा गया । इस से देश पर भारी अन्धकार छागया, और कुछ काल के लिए समाज में विचार के नेता पूर्ण रूप से स्तम्भित और मूर्च्छित हो गए । सामाजिक लोग अपनी संस्था की मृत्यु पर अन्धकार-मयी निराशा के साथ विचार करने लगे । कर्णधार-हीन नौका के सदृश आर्य्य समाज का जहाज़ भी चिट्टानों से टकराकर टुकड़े २ हो जायगा । शोक और निराशा ही सब सामाजिक मण्डलों में देख पड़ती थी । प्रत्येक आर्य्य का हृदय दुःख से झुक रहा था । लाला साईंदास जैसे पुरुष भी जिनकी प्रकृति शान्त थी और जिनका मन घोर से घोर विपद् काल में भी न डोलता था, इस क्षति पर फूट २ कर रोते थे । तमसावृत घड़ियों में, जबकि आर्य्य समाज में प्रत्येक वस्तु निराशा-भरी देख पड़ती थी, लाहोर आर्य्य समाज के एक तीव्र-बुद्धि सज्जन को एक विचार सूझा, और उसने उदासचित्त के साथ इसे अपने धर्म्म-भाइयों को बताया । उस समय इसके स्वीकृत होने की बहुत कम आशा थी, परन्तु वास्तविक अनुभव ने उसके विपरीत प्रमाणित किया । विश्व विश्रुत संस्कारक का स्मारक बनाने का प्रस्ताव जिस किसी को बताया गया, उसी ने इस के साथ सहानुभूति प्रकट की । फलतः लाहोर आर्य्य समाज ने स्वामी जी की मृत्यु के बाद एक सप्ताह के अन्दर अन्दर इसे क्रियात्मक रूप में लाने के लिए एक कल्पना तैयार की । परन्तु पण्डित गुरुदत्त के अजमेर से लौटने तक इसका जनता में प्रकाश नहीं किया गया । जब यह पण्डित जी को बताई गई तो उन्हों ने इसे पसन्द किया और यथावकाश प्रस्तावित संस्था के हितार्थ काम करने का वचन दिया । लाहोर में आने के शीघ्र ही बाद उन्हों ने एक व्याख्यान दिया । इस में उन्हों ने महर्षि दयानन्द का मृत्यु-दृश्य, जिसे कि उन्हों ने देखा था, ऐसी स्पष्ट रीति से वर्णन किया कि सुनने वालों के हृदय पिघल उठे । दयानन्द की स्मृति में एक कालेज बनाने का प्रस्ताव विधि पूर्वक ८ नवम्बर १८८३ ई० को जनता के सामने रखा गया । सब प्रकार के लोगों ने इसे पसन्द किया । पण्डित गुरुदत्त की उस समय की वक्तृता बड़ी ही हृदयद्रावक आवेशपूर्ण, और प्रभावशालिनी थी । उस समय ७०००) रुपया चन्दा हुआ ।

यद्यपि आर्य समाजियों ने एक अतिविशाल संस्था का सूत्रपात किया जिस से निर्बल हृदयों को उत्साह और आर्य समाजों को जीवन मिलने की आशा की गई थी, परन्तु उन लोगों को, जो संसार के झगड़े झमेलों में धर्म्म

के अभिलाषी थे, इस से बहुत थोड़ी सान्त्वना मिली। धर्म्म के क्षेत्र में, दूसरे सभी क्षेत्रों की तरह, केवल अव्यवहार्य विचारों की अपेक्षा दृष्टान्त से बहुत अधिक कार्य निकलता है। कितना ही अद्भुत और स्फूर्तिशाली धर्म्म क्यों न हो, इस का जनता पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ता जब तक की उस की सच्चाइयों को अपने जीवनों में दिखलाने वाले मनुष्य मौजूद न हों। महर्षि दयानन्द, जिन्हों ने अपने जीवन में वैदिक धर्म्म के उक्त आदर्शों को अद्वितीय शुद्धता के साथ मूर्तिमान किया था, अपनी मानव लीला समाप्त कर गए थे; और उन का स्थान लेने वाला अब कोई न था। फलतः कार्य शक्ति शिथिल हो गई थी, और कई एक मनुष्य थोड़े बहुत निरुत्साह हो गए थे। लेकिन उन लोगों को क्या मालूम था कि पञ्जाब की राजधानी में एक ऐसी आत्मा पल रही है जो एक दो वर्ष में आर्य समाज पर अपनी ज्योति डालेगी, और चारों ओर के अंधकार को अपने देदीप्यमान प्रकाश से दूर करदेगी। आर्य समाज में डी० ए० वी कालेज की प्रतिष्ठा से पैदा होने वाले कोलाहल के होते हुए भी गुरुदत्त की आत्मा ऊंची और ऊंची ही होती जा रही थी। वे वैदिक धर्म्म की गहरी सचाइयों को अपने अन्दर ग्रहण कर रहे थे। उन्हों ने प्राणायाम और अन्य साधनों का अभ्यास आरम्भ कर दिया था, और उन के सभी यत्न आत्मोन्नति के लिए थे। वे कालेज की पढ़ाई की कुछ भी परवाह नहीं करते थे। उन का बहुत सा समय आध्यात्मिक प्रश्नों पर विचार करने में ही व्यतीत होता था। इस सारे पुरुषार्थ और उच्च जीवन के लिए परिश्रम का फल दो तीन वर्ष के बाद पूर्ण रूप से प्रगट हुआ।

अब दयानन्द-एङ्गलो-वैदिक कालेज की संस्था में ही वे भाग लेने लगे। १८८५ ई० में बी० ए० की परीक्षा में उत्तीर्ण होजाने के उपरान्त वे कालेज के पक्ष का बड़े ज़ोर शोर से समर्थन करने लगे। इस विषय पर उन्हों ने प्रान्त के भिन्न २ समाजों में व्याख्यान दिए। इस का परिणाम यह हुआ कि शिक्षित समाज इस संस्था में दिलचस्पी लेने लगा। उन की विद्वत्ता, उन की श्रेष्ठ वृत्ति, उनका निर्मल चरित्र, और उन की बातों की सी सरलता सब कहीं श्रोताओं की एक भारी संख्या को खींच लेती थी, और उन की हृदयंगम और प्रबल अपीलें बड़ी ही मनोमोहक और ललित होने के कारण कालेज के लिए लोगोंसे दान लेने में बड़ा ही अद्भुत असर रखती थीं। रुपया चारों ओर से बरसने लगता था, यहां तक कि जिन लोगों के पास उस समय नकद रुपया नहीं होता था वे कानों की बालियाँ, चाँद, अनन्त, और अपने शरीर के ऐसेही अन्य आभूषण दे डालते थे। आर्यपत्रिका के नीचे दिए अवतरण से यह मालूम हो जायगा कि पण्डित गुरुदत्त के व्याख्यानों का कैसा आदर था।

" तब लाहोर आर्य्य समाज के योग्य सदस्य, पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी बी०ए० उठे। उन्हों ने एक बड़ी ही प्रभावशाली और विद्वत्तापूर्ण वक्तृता की । इस में उन्होंने ऋग्वेद के एक मन्त्र की व्याख्या करके यह दिखलाया कि स्वर्गीय महर्षि स्वामी दयानन्द सरस्वती का यह वचन सर्वथा सत्य है कि वेद सब सत्य विद्याओं के भण्डार हैं। उन्होंने एकही मन्त्र का प्रमाण देकर यह दिखला दिया कि वायु के सभी गुणों का इस में बड़ा ज़ोरदार वर्णन है। उन्होंने यह भी कहा कि कई एक दृष्टियों से वेदों का अध्ययन बड़ा ही आवश्यक है । उन्हों ने कहा कि जो लोग वेदों को रद्दी पुस्तकें समझते हैं, उन्हें भी इन के ज्ञान के प्रचार में दिलचस्पी लेनी चाहिए.क्योंकि यदि वे वस्तुतः बच्चों-की-सी बातोंकी पुस्तकें हैं तो उन पर से जनता की श्रद्धा को दूर करने का यही एक उपाय है। अन्त में उन्हों ने कहा कि देश के प्रत्येक शुभचिन्तक का सब से पहला धर्म्म यह है कि वह एङ्गलो–वैदिक–कालेज के लिए चन्दा दे । इस वक्तृता पर १०,०००) रुपये एकत्र हुए। इस के थोड़े ही दिन बाद उन्हों ने पिण्डी में एक व्याख्यान दिया जिस पर १६००) रुपये एकत्र हुए। अगले एप्रिल में उन्हें पेशावर जाना पड़ा। वहाँ कम से कम २६००) रुपये मिले। कुछ मास उपरान्त वे दुबारा अमृतसर गए और वहाँ डी० ए० वी० कालेज पर एक प्रभावशाली व्याख्यान दिया, जिसने आर्य्य–पत्रिका के शब्दों में, उपस्थित जनता के हृदयों को हिला दिया और बड़ा ही अद्भुत असर पैदा किया। उन्हों ने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिखाया कि स्वामी दयानन्द की स्मारक स्वरूपा इस संस्कृत और पाश्चात्य विद्याओं और वैज्ञानिक शिक्षा की पाठशाला की प्रतिष्ठा में सहायता देना सभी आर्यों का परम कर्त्तव्य है। जनता पर उनकी अपील का भारी प्रभाव पड़ा। उनकी वक्तृता के समाप्त होते ही ९०८।) नकद इकट्ठे हो गए।

जिस वर्ष पण्डित गुरुदत्त ने बी० ए० पास किया उसके अगले वर्ष का एक बड़ा भाग डी० ए० वी० कालेज के उद्देश्यों पर व्याख्यान देने में व्यतीत हुआ। यद्यपि उन्होंने एम०ए० की परीक्षा देने का निश्चय किया था पर उन्होंने अपनी पुस्तकों पर बहुत कम ध्यान दिया। उनका बहुत सा समय शतरँज खेलने में (इस खेल का उन दिनों उन्हें बड़ा शौक था) धार्म्मिक शास्त्रार्थों में, और अपने मित्रों तथा अन्य सज्जनों के साथ, जो उनके पास एक बड़ी संख्या में उपदेश, परामर्श, और ज्ञान लेने के लिए एकत्र होते थे, सामाजिक विषयों पर वार्तालाप करने में व्यतीत होता था। कई ऐसे मनुष्य मौजूद हैं, जो उनके सदा साथी थे और उन के साथ एक ही घर में रहते थे, वे कहते हैं कि हम ने उन्हें आने वाली परीक्षा की तैयारी के लिए हाथ में पुस्तक लेकर बहुत कम पढ़ते देखा था। फिर भी वे पास होने वाले लड़कों में सब से

पहले नम्बर पर रहे, और उन्हों ने पदार्थ-विज्ञान (फ़िज़िक्स) में डिग्री प्राप्त की । सन् १८८६ ईस्वी के साथ, जब कि उन्होंने एम० ए० पास किया, उनका कालेज-जीवन समाप्त हो गया ॥

आर्य्यसमाज के लिये उनका काम । एम०ए० पास करने के बाद १८८६ ई० में वे गवर्नमेंट कालेज, लाहोर में साइन्स के असिस्टेण्ट प्रोफेसर नियत हुए । अब लौकिक जीवन में विधि पूर्वक प्रविष्ट होजाने के कारण वे दयानन्द एङ्गलो-वैदिक-कालेज के लिए जीजान से कार्य करने लगे । वे प्रायः सभी वार्षिक उत्सवों पर जाते थे । उनके व्याख्यान इतने लोकप्रिय थे कि प्रायः प्रत्येक समाज अपने उत्सव पर उनकी वाग्मिता से लाभ उठाने के लिए उत्सुक रहती थी । आर्यपत्रिका ने उनका नाम " डी० ए० वी० कालेज संस्था पर वार्षिक उत्सवों में हमारा प्रसिद्ध व्याख्यानदाता " रख दिया था । कालेज से उन्हें क्या क्या आशाएँ थीं इनकी पूरी पूरी कल्पना करना असम्भव है । समाज के साधारण सदस्य उसे इस देश में वैदिक पाण्डित्य और वैदिक ज्ञान का एक भावी केन्द्र,और उस वैदिक सभ्यता का घर और पालन स्थान समझते थे जो कि सारे वायुमण्डल को उन हितकर तत्त्वों से भर देगी जोकि भारतीय लोगों में परमार्थनिष्ठा और धर्म्म के उच्च आदर्शों की वृद्धि के अनुकूल हैं । गुरुदत्त में बड़ा ही मानसिक परिज्ञान था, इसलिये उनकी आशाएं कहीं ऊँची होंगी । इस बात का समर्थन उस असीम उत्साह और व्यग्रता से होता है जिसके साथ कि वे कालेज के लिए काम करते थे । इसके विषय में जो कुछ भी वे कहते थे वह उनकी आत्मा की भीतरी गहराई से निकला दिखाई देता था । मगर वे बरस भर (१८८६) निरन्तर काम नहीं कर सके । उनके बूढ़े पिता रोग ग्रस्त होगए, इस लिए उनका बहुत सा समय उनकी सेवा शुश्रूषा में व्यतीत हुआ । कालेज के लिए धन इकट्ठा करने के उद्देश से आगरा और अवध के संयुक्तप्रान्त में प्रतिनिधि दल भेजने का विचार १८८६ ई० में पैदा हुआ था । पण्डित गुरुदत्त को साथ जाने की कोई आशा न थी, क्योंकि उनके पिता की अवस्था बिगड़ गई थी, व्याधि ने घटने के स्थान में घोर रूप धारण कर लिया था । घर पर रहकर पिता की सेवा करना उनके लिए आवश्यक था, फिर भी उन्होंने प्रतिनिधि दल के साथ न जा सकने का बहुत अनुभव किया और इस के लिए सच्चे हृदय से खेद प्रकट किया । लाला लाजपत राय के नाम उस समय की लिखी हुई एक चिट्ठी में वे लिखते हैं—" मेरे पिता मुज़फ्फ़र गढ़ में बहुत निर्बल और रोग ग्रस्त हैं । वे चाहते हैं कि मैं उनके पास रहूं । अब मैं लाहोर में स्थानापन्न होकर काम कर रहा हूं । उनके यहाँ आने से अनावश्यक तौर पर व्यय बढ़ जायगा । इसके अतिरिक्त, उनके यहाँ होने से वे मुझे लाहोर से हिलने न देंगे, और मेरी सामाजिक तथा अन्य कामों के लिए बाहर जाने की

प्रतिज्ञा व्यर्थ होजायगी। पिता के प्रति कर्त्तव्य और देश के प्रति कर्त्तव्य के बीच झगड़ा होगया है, मन कि कर्त्तव्यविमूढ़ होरहा है; प्रत्येक छुट्टी के दिनमें मुलतान जाता और वापस आता हूं"। इसके थोड़े ही दिन बाद एक और चिट्ठी आई। इसमें उन्होंने लिखा—"गुरुदत्त विद्यार्थी को यह देखकर खेद होता है कि वह मुजफ्फर गढ़ छोड़ नहीं सकता। छुट्टी का सारा काल वह इसी जगह बितावेगा। वह इधर उधर घूमने में अशक्त है। पिता जी बहुत बीमार हैं और उनकी प्रबल कामना है कि मैं हर समय उनके पास रहूँ। मैं नहीं जानता कि पिता जी को प्रसन्न करने के लिए मुझे कैसे २ त्याग करने पड़ेंगे—कहिए आप इस विषय में क्या सलाह देते हैं?"

सन् १८८६ की गरमी की छुट्टियाँ पिता की सेवा शुश्रूषा में मुजफ्फर गढ़ में व्यतीत हुईं। रोगी की अवस्था में न केवल कोई उन्नति ही न हुई, प्रत्युत रोग ने बड़ा उग्ररूप धारण कर लिया, और पण्डित जी को उनके नीरोग होने की कोई आशा न रही। पर वे पितृ-भक्त पुत्र की तरह उनकी सेवा शुश्रूषा करते, उन्हें आप औषध खिलाते, और उनके रोग-सम्बन्धी सर्व प्रबन्धों का निरीक्षण करते रहे। अन्त को रोग अपना ज़ोर लगा चुका, और आराम के कुछ चिन्ह दिखाई देने लगे। रोगी सर्वथा नीरोग हो गया। इसी बीच में छुट्टियाँ समाप्त हो गईं और पण्डित गुरुदत्त लाहौर वापस आगए। इस समय वे लाहौर के गवर्नमेण्ट कालेज में साइन्स के स्थानापन्न असिस्टेण्ट प्रोफेसर थे। वह वर्ष बीत गया; और उन्हें खेद था कि वे जाति की यथेष्ट सेवा न कर सके।

अगले वर्ष सन् १८८७ में मिस्टर ओमन के छुट्टी चले जाने पर वे उन के स्थान में साइन्स के प्रोफेसर के तौर पर काम करने लगे।

लेकिन क्या असिस्टेण्ट प्रोफेसरी के दिनों में और क्या प्रोफेसरी के दिनों में उनका हृदय सदा डी० ए० वी० कालेज में ही था। और हम उन्हें दुबारा गरमियों की छुट्टियों में उसी संस्था के हितार्थ बाहर जाकर व्याख्यान देने के लिए उद्यत पाते हैं।

पहले साल की तरह गरमियों की छुट्टियों में कालेज के लिए धन एकत्र करने के उद्देश से एक प्रतिनिधि दल तैयार किया गया, लेकिन दुर्भाग्य से इस परोपकारमय दौरे पर निकलने के कुछ दिन पहले पण्डित जी के पिता बीमार हो गए। उनका घर पर ठहरना आवश्यक हो गया। लेकिन वे कालेज की सेवा के लिए बड़े उत्सुक थे। उनके पिता बड़े ही बुद्धिमान् और देशानुरागी पुरुष थे, साथ ही वे इस संस्था के शुभचिन्तक भी थे। उन्हों ने पुत्र के मन के गुप्त भाव को समझ लिया और पुत्र की किसी विधिपूर्वक प्रार्थना के बिना ही उसे प्रतिनिधि दल में सम्मिलित होने की आज्ञा प्रदान की।

यह प्रतिनिधि दल सन् १८८७ के जुलाई मास में लाहौर से चला। इस में लाला लालचन्द्र एम० ए०, लाला मदनसिंह बी० ए०, लाला द्वारिका दास एम० ए०, लाला लाजपतराय, सिवानी के प्रसिद्ध ठेकेदार और रईस लाला ज्वालासहाय, और हमारे विद्यार्थी जी सम्मिलित थे। कोई विशेष लक्ष्य न था। प्रायः सभी बड़े २ नगरों में ठहरते जाते थे। इस सारे काल में पण्डित जी का मन किसी प्रकार भी शान्त न था। अपने पिता की अवस्था का समाचार पाने के लिए वे बड़े व्याकुल रहते थे और पता लेने के लिए मुज़फ्फर गढ़ को तार भेजते रहते थे। जब छुट्टियां समाप्त हो गईं तो सारा दल लाहौर लौट आया। आने के शीघ्र ही बाद पण्डित जी रावलपिण्डी समाज के वार्षिक उत्सव पर गए। वहाँ डी० ए० वी० कालेज की संस्था पर जो व्याख्यान उन्हों ने दिया वह बड़ा ही अद्‌भुत था। उसके अन्तिम शब्द जो बड़े ही हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी हैं, ये हैं—"यदि तुम्हें विश्वास है कि तुम्हारे अन्दर आत्मा है,यदि तुम्हें विश्वास है कि बाह्य शरीर के नाश के साथ ही तुम्हारे जीवन का अन्त नहीं हो जायगा, प्रत्युत तुम्हारे भीतर कोई ऐसा पदार्थ भी है जो तुम्हारे शरीरान्त के बाद भी जीता रहेगा, और यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी यह आत्मा उन्नति करती रहे और यदि तुम्हें इस बात का पता है कि विद्या द्वारा ही यह काम हो सकता है तो तुम्हें डी० ए० वी० कालेज की प्रतिष्ठा में अवश्य सहायता देनी चाहिए। आत्मा की उन्नति का काम मनुष्यमात्र की उन्नति का काम है। इसलिए हिन्दू, मुसलमान, और ईसाई सब को इस पुण्य कार्य में सम्मिलित होना चाहिए।" इस अपील के असर से उसी समय १२५३ रुपये ४ आने ६ पाई एकत्र हुए। पिण्डी से आने के कुछ ही घण्टे बाद उन्हें अपने पिता की शोक जनक मृत्यु का समाचार मिला। इस दुर्घटना का उनके मन पर ज़रूर भारी असर हुआ होगा। उन्हों ने मुलतान में अपने नातेदारों को तार भेजा कि मेरे आने तक शव का दाह कर्म न करना। उनके स्वजातीय लोगों को जब यह मालूम हुआ कि पण्डितजी पिता का अन्त्येष्टि संस्कार वैदिक रीति से करना चाहते हैं तो उन्हों ने उन की माता से कहा कि शव हमें देदो, पर माँ पुत्र की इच्छा के विरुद्ध कुछ न करना चाहती थी। बरादरी ने घोर विरोध किया पर पण्डित गुरुदत्त की ही अन्त को जीत हुई।

पिता की मृत्यु के थोड़ी ही देर बाद जनता ने पण्डित गुरुदत्त की शक्तियों से भारी काम लेना शुरू कर दिया। पिता की मृत्यु ने उन्हें विविध घरेलू दुःखों में डाल दिया। पिता की मृत्यु, विशेषतः जब कि वह बड़ा ही सदय,श्रेष्ठ,और स्नेही हो, मनुष्य पर एक भारी विपत्ति है। उस पूज्य मूर्ति का अन्तर्धान होजाना जिसके प्रेममय हाथों ने जीवन के अतीव कण्टक पूर्ण मार्गों

में मनुष्य की रक्षा की थी, और जिसके उत्साह और धैर्य्य-भरे शब्द कठिनाई और अधःपतन के समय मन में नवशक्ति का संचार करते थे कोई साधारण विपत्ति नहीं। शीघ्रग्राहक व्यक्तियों को इसका बड़ा ही तीक्ष्ण अनुभव होता है, पर पण्डित गुरुदत्त इस महान शोक से अभी मुक्त भी न होने पाए थे कि उन्हें समाजों के वार्षिक उत्सवों पर डी० ए० वी० कालेज की संस्था के लिए व्याख्यान देने को कहा गया। इस संस्था के लिए भारी सम्मान रखने के कारण उन्होंने सार्वजनिक हित की बातों के सामने अपने निज के कामों को कुछ भी महत्व न दिया, और निमन्त्रण को शीघ्र ही स्वीकार कर लिया। लाहौर आर्य समाज का १०वाँ वार्षिक उत्सव, उनके पिता की मृत्यु के कुछ ही दिन पीछे २६ और २७ नवम्बर को आ गया और उस अवसर पर उन्होंने डी० ए० वी० कालेज पर एक उज्ज्वल वक्तृता की। जिस उत्साह, और जिस गम्भीर भाव के साथ वे उस समय बोले उसका स्थूल वर्णन करने का यत्न करना भी असम्भव को सम्भव करने की सी बात होगी। जिस समय वे बोल रहे थे मण्डप में मृत्यु की सी निःशब्दता थी; तीन सहस्र श्रोता चित्रवत् मूक बैठे थे। जो कुछ भी उनकी जिह्वा से निकलता था उसमें तत्परता और अनन्य भाव कूट कूट कर भरे थे। उनका भाव, उनकी भाषा, उनके हृदय से निकले हुए शब्द इस बात का स्पष्ट प्रमाण थे कि जो कुछ वे कहते हैं उसका वे अनुभव करते हैं। हमने ऐसी प्रभावशाली वक्तृता पहले बहुत कम सुनी है। निस्सन्देह हृदय के शब्द, सरल होते हुए भी, सरलता और उत्सुकता से शुभ अत्युत्कृष्ट वाग्मिता से भी बढ़कर होते हैं। वे अपने कथन की पुष्टि स्वामी दयानन्द के जीवन के दृष्टांतों से करते थे; और हमारा यह लिखना सर्वथा सत्य है कि हमने अनेक व्यक्तियों के नेत्रों से अश्रुधारा बहती देखी।"

सन् १८८० के अन्तिम मास, ज़ियादातर, महत्वपूर्ण धार्मिक विषयों पर व्याख्यान देने में व्यतीत हुए। इन व्याख्यानों में से तीन विशेष उल्लेख के योग्य हैं। उनके विषय, अर्थात् 'जीवन का उद्देश' 'सत्य' और 'आर्य समाज' धार्मिक जगत् के लिए बड़े ही काम के हैं। लेकिन सबसे अधिक मनोरञ्जक और शिक्षाप्रद व्याख्यान जो उपर्युक्त समय में दिया गया वह आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व' पर था यह सन् १८९० ई० में एक पुस्तिका के रूप में छप गया।

नए वर्ष के आरम्भ होते ही पण्डित गुरुदत्त का काम दुगुना होगया। वे बड़े ही दृढ़बद्ध और उत्साही बन गए, और उनके अवकाश का अधिक समय लोगों में धर्म्म और नीति के हितकर विचारों के प्रचार में बीतने लगा।

व्याख्यानों की झड़ी सी लगने लगी। पढ़े लिखे लोग, विशेषतः आर्यसमाज के सभासद, प्रातः और सायं एक बड़ी संख्या में उनके घर पर जाते थे और वैदिक तत्त्वज्ञान के गहन और गूढ़ विषयों पर वार्त्तालाप करते थे। ये वार्त्तालाप प्रायः आनन्द और उत्साह से भरे होते थे और कई कई घण्टों तक जारी रहते थे। कोई भी जिज्ञासु व्यक्ति पण्डित जी के पास ऐसा नहीं गया जिसके प्रश्नों का समाधान उन्होंने न किया हो। ये प्रश्न विविध प्रकार के और विविध शास्त्रों से सम्बन्ध रखने वाले होते थे, और वस्तुतः यह बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि पण्डित जी ने इन कठिन और गूढ़ विषयों पर कैसे अधिकार प्राप्त किया होगा। मानों वे विद्या की मूर्ति थे। संस्कृत, अरबी, पदार्थ विज्ञान, भूगर्भ विद्या, रसायन शास्त्र, वनस्पति शास्त्र, शरीर शास्त्र, नक्षत्रविद्या, गणित, तत्त्वज्ञान, भाषातत्त्वशास्त्र—इन सबसे और कई औरों से भी—वे अच्छे जानकार ज्ञात होते थे, और जो लोग उनके पास शङ्का-समाधान के लिये जाते थे वे उनके पाण्डित्य को देखकर चकित रह जाते थे। पण्डित जी अभी मुश्किल से ही सत्ताईस वर्ष के हुए थे कि उनका देहान्त होगया। इस छोटे से समय में उनका इतना विस्तृत ज्ञान सम्पादन कर लेना सदा एक आश्चर्य और प्रशंसा का एक विषय बना रहेगा। उनके स्वरूप को देखकर सभी संशय मिट जाते थे। ऐसे भी अनेक मनुष्य हैं जो कहते हैं कि एक बार पण्डित जी की वर पर बात सुन लेने के बाद फिर हमारे मनमें किसी विषय पर कभी कोई संशय उत्पन्न ही नहीं हुआ। शायद यह विरोधाभास देख पड़ेगा, और कई लोग यह समझेंगे कि पण्डित जी के विषय में हमने जो कुछ कहा है उसमें अत्युक्ति का लेश है, लेकिन यदि उन लोगों की साक्षी कुछ प्रामाणिक होसकती है जो इस विद्यादिग्गज के साथ इकट्ठे रहे हैं तो हम पाठकों को विश्वास दिलाते हैं कि हमारे कथन में झूठ की गंध भी नहीं। कई बातें ऐसी हैं जो पहिले सर्वथा अप्रकटनीय देख पड़ती है लेकिन यदि उन पर पर्याप्त ध्यान दिया जाए और मनको एकाग्र करके कुछ समय के लिए उनके जटिल तथा सूक्ष्म रूपों पर विचार किया जाय तो वे पूर्णतः स्पष्ट और निर्मल होजाती हैं।

सन् १८८८ का वर्ष पण्डित गुरुदत्त के जीवन में बड़ा ही स्मरणीय था। इसी साल उन्हों ने मोनियर विलियम्स की "इण्डियन विज़डम" पर दोषालोचनात्मक व्याख्यान दिए, स्वर विद्या का अध्ययन किया, वेदमन्त्रों के उच्चारण करने की शुद्ध रीति जारी की। यह एक ऐसा काम था, जिसके परिमाण की कल्पना करना सुगम नहीं। यदि वे कोई और काम न भी करते तो केवल इतना ही उन्हें अपने समय के महापुरुषों में उच्च स्थान दिलाने के

लिए पर्याप्त था। लेकिन सब से बढ़कर बहुमूल्य काम जो उन्हों ने किया, और जिस के लिए हम सब को उनका कृतज्ञ होना चाहिए, वह उनका वैदिक धर्म्म का प्रबल प्रतिपादन है। उन दिनों वैदिक धर्म्म को ब्राह्मणों ने बहुत कुछ कलङ्कित कर रखा था। पश्चिमीय विचारों से प्रभावित शिक्षित लोग आर्य्यसमाज के सिद्धान्तों पर असंख्य प्रश्न करते थे। इन लोगों का उन्हीं के शस्त्रों से मुकाबला करने के लिए धर्म्म के एक बड़े ही प्रबल व्याख्याता का प्रयोजन था। एक ऐसे विद्वान् की आवश्यकता थी जो केवल विपक्षियों की आपत्तियों का युक्तिसंगत रीति से खण्डन ही कर सके और संशयात्मक लोगों के अनुरागहीन प्रश्नों का आदर और सहानुभूति के भाव के साथ उत्तर ही दे सके प्रत्युत अन्य धर्मों से इसकी सर्वश्रेष्ठता का भी समर्थन कर सके। और ऐसा मनुष्य जगदीश्वर ने पण्डित गुरुदत्त के रूप में समाज को प्रदान किया था। उन्हों ने बड़ा ही उत्कृष्ट कार्य्य किया। उनके निर्भय होकर सत्य का प्रकाश करने के लिए उनके विपक्षी भी उनकी प्रशंसा करते थे। दिसम्बर १८८८ ईस्वी में जो व्याख्यान उन्हों ने लाहोर आर्य्यसमाज के उत्सव पर दिया वह स्थायी रूप से संग्रह करने योग्य है। उन्हों ने कहा कि "आधुनिक विज्ञान चाहे उस में कितने ही गुण क्यों न हों, जीवन की समस्या पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। वह मनुष्य के आत्मा में आन्दोलन पैदा करने वाले सब से महान् और कठिन प्रश्न—मनुष्य जाति के आदि मूल और इसके अन्तिम भाग्य—के हल करने में कुछ भी सहायता नहीं करता। आधुनिक विज्ञानी चाहे प्रत्येक नाड़ी और हड्डी को चीर डाले, चाहे लहू की बूँद की अतीव प्रबल सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र द्वारा जो सम्भवतः उसे मिल सकता है, बड़ी सूक्ष्म परीक्षा कर ले, पर इस प्रश्न पर उस से कुछ भी बन नहीं पड़ता। वह जीवन के रहस्य को खोल नहीं सकता। वह चाहे शताब्दियों तक चीर फाड़ और परीक्षण करता रहे पर जीवन की समस्या के विषय में उसका ज्ञान कुछ भी बढ़ न सकेगा। यह समस्या वेदों की सहायता के बिना हल की जा नहीं सकती। वही केवल इस अद्भुत रहस्य का उद्घाटन कर सकते हैं और उन्हीं की ओर वैज्ञानिक लोगों को अन्त को आना पड़ेगा। इस प्रवृत्ति के चिह्न पहले ही हैं। वेदों को प्राचीन ऋषि सब विद्याओं का स्रोत समझते थे और उन का यह विश्वास सत्य भी था। वे केवल उन्हीं के अध्ययन में लगे रहते थे, और उन के अन्दर भरी हुई सचाइयों का चिन्तन करते थे। उस समय आर्यावर्त में इतना सुख और इतनी समृद्धि थी कि उस के समान अब कहीं दिखाई नहीं देती। लोक और परलोक दोनों का ही सुख वेदों के अध्ययन का फल है। बड़े ही दुःख का विषय है कि आर्यावर्त वैदिक धर्म्म से पतित हो गया है। जिस रसातल को यह पहुँचा है वहाँ पहुँचने से यह बच नहीं

सकता था। इस ने अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ा चलाया है। परन्तु यद्यपि पिछली बातों पर विचार कर के अँधकार सा दीखने लगता है फिर भी भावी आशाएँ आनन्द-दायक हैं। सचाई का वही नित्य सूर्य्य अर्थात् वेद पुनः प्रकट हो गया है। इस ने मूढ़ विश्वास के बादलों को सर्वथा छिन्न भिन्न कर दिया है। संसार पर छाया हुआ अशुभ अँधकार दूर हो गया है और भास्कर पहले के से तेज के साथ पुनः चमक रहा है। यह सुखद अवस्था स्वामी दयानन्द के परिश्रम का ही फल है। उसी ने हमें उस प्रकाश के दर्शन कराए हैं जिस का कि प्राचीन ऋषि आनन्द लूटा करते थे। लेकिन यद्यपि कई एक ने इस कृपा को देखा और इस का आदर किया है, फिर भी बहुत से लोग, चिरकाल से अँधकार में रहने का स्वभाव होने के कारण या तो इस में सन्देह करते हैं या उस प्रकाश में जाने से हठपूर्वक इनकार करते हैं। जिन लोगों की आत्माएँ मूढ़ विश्वास के अँधकार से बाहर निकल चुकी हैं उन सब का यह परम कर्त्तव्य है कि वे संशयात्मक लोगों के संशय की, और धर्म्मांध तथा दुराग्रही लोगों की धर्म्मांधता तथा दुराग्रह की चिकित्सा करें। इस का केवल यही उपाय है कि उस संस्था की सहायता की जाए जहाँ कि आगामी पीढ़ियाँ क्रमशः और अगोचर रीति से अन्ततः वहाँ जाने के लिए तैयार की जा रही हैं। वक्ता ने किसी संस्था का नाम नहीं लिया, जनता जानती थी कि किस संस्था की उन्हीं सहायता करनी चाहिए। महाघोष करतल-ध्वनि में वक्ता बैठ गए।"

सन् १८८८ वह वर्ष था जिस में कि पण्डित गुरुदत्त लगातार काम करते रहे। इसी वर्ष के आरम्भ से उन के अन्दर वह रोग बढ़ने लगा, जो एक परिवर्तित रूप में, अन्त को उन्हें इस संसार से उठा ले गया। कुछ तो साम-वेद की स्वरें लगाने और संशोधन के काम से, कुछ अष्टाध्यायी श्रेणी पर परिश्रम करने से और कुछ बाहर के नगरों में डी० ए० वी० कालेज के हितार्थ लगातार और लम्बे २ दौरे करने से उन का शरीर असाधारणतः दृढ़ होने पर भी, शिथिल हो गया था। वह भारी आयास सहन नहीं कर सकता था। पण्डित जी को कुछ विश्राम कर के अपनी तन्दुरुस्ती को सुधारने का परामर्श दिया गया। पहले पहल तो उन्हों ने इस उपदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करलिया लेकिन लोगों को आर्य्य-समाजी बनाने के काम में समुज्ज्वल सफलता की आशा ने उन के आत्मा पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था और उन के अन्य सब विचार इस के नीचे दब गए थे। कुछ ही क्यों न हो वे काम करने से रुक नहीं सकते थे। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से आर्य्य सामाजिक प्रचार का उस प्रारम्भिक अवस्था में चार संन्यासी अच्युतानन्द, प्रकाशानन्द, स्वात्मानन्द, और महानन्द पण्डित जी के मित्र बन गए। वे बड़े समझदार

लिए पर्याप्त था। लेकिन सब से बढ़कर बहुमूल्य काम जो उन्हों ने किया, और जिस के लिए हम सब को उनका कृतज्ञ होना चाहिए, वह उनका वैदिक धर्म्म का प्रबल प्रतिपादन है। उन दिनों वैदिक धर्म्म को ब्राह्मणों ने बहुत कुछ कलङ्कित कर रखा था। पश्चिमीय विचारों से प्रभावित शिक्षित लोग आर्य्यसमाज के सिद्धान्तों. पर असंख्य प्रश्न करते थे। इन लोगों का उन्हीं के शस्त्रों से मुकाबला करने के लिए धर्म्म के एक बड़े ही प्रबल व्याख्याता का प्रयोजन था। एक ऐसे विद्वान् की आवश्यकता थी जो केवल विपक्षियों की आपत्तियों का युक्तिसंगत रीति से खण्डन ही कर सके और संशयात्मक लोगों के अनुरागहीन प्रश्नों का आदर और सहानुभूति के भाव के साथ उत्तर ही देसके प्रत्युत अन्य धर्मों से इसकी सर्वश्रेष्ठता का भी समर्थन कर सके। और ऐसा मनुष्य जगदीश्वर ने पण्डित गुरुदत्त के रूप में समाज को प्रदान किया था। उन्हों ने बड़ा ही उत्कृष्ट कार्य्य किया। उनके निर्भय होकर सत्य का प्रकाश करने के लिए उनके विपक्षी भी उनकी प्रशंसा करते थे। दिसम्बर १८८८ ईस्वी में जो व्याख्यान उन्हों ने लाहोर आर्य्यसमाज के उत्सव पर दिया वह स्थायी रूप से संग्रह करने योग्य है। उन्हों ने कहा कि "आधुनिक विज्ञान चाहे उस में कितने ही गुण क्यों न हों, जीवन की समस्या पर कुछ भी प्रकाश नहीं डालता। वह मनुष्य के आत्मा में आन्दोलन पैदा करने वाले सब से महान् और कठिन प्रश्न—मनुष्य जाति के आदि मूल और इसके अन्तिम भाग्य—के हल करने में कुछ भी सहायता नहीं करता। आधुनिक विज्ञानी चाहे प्रत्येक नाड़ी और हड्डी को चीर डाले, चाहे लहू की बूँद की अतीव प्रबल सूक्ष्म-दर्शक यन्त्र द्वारा जो सम्भवतः उसे मिल सकता है, बड़ी सूक्ष्म परीक्षा कर ले, पर इस प्रश्न पर उस से कुछ भी बन नहीं पड़ता। वह जीवन के रहस्य को खोल नहीं सकता। वह चाहे शताब्दियों तक चीर फाड़ और परीक्षण करता रहे पर जीवन की समस्या के विषय में उसका ज्ञान कुछ भी बढ़ न सकेगा। यह समस्या वेदों की सहायता के बिना हल की जा नहीं सकती। वही केवल इस अद्भुत रहस्य का उद्घाटन कर सकते हैं और उन्हीं की ओर वैज्ञानिक लोगों को अन्त को आना पड़ेगा। इस प्रवृत्ति के चिह्न पहले ही हैं। वेदों को प्राचीन ऋषि सब विद्याओं का स्रोत समझते थे और उन का यह विश्वास सत्य भी था। वे केवल उन्हीं के अध्ययन में लगे रहते थे, और उन के अन्दर भरी हुई सचाइयों का चिन्तन करते थे। उस समय आर्यावर्त में इतना सुख और इतनी समृद्धि थी कि उस के समान अब कहीं दिखाई नहीं देती। लोक और परलोक दोनों का ही सुख वेदों के अध्ययन का फल है। बड़े ही दुःख का विषय है कि आर्यावर्त वैदिक धर्म्म से पतित हो गया है। जिस रसातल को यह पहुँचा है वहाँ पहुँचने से यह बच नहीं

सकता था। इस ने अपने पैरों पर आप कुल्हाड़ा चलाया है। परन्तु यद्यपि पिछली बातों पर विचार कर के अँधकार सा दीखने लगता है फिर भी भावी आशाएँ आनन्द-दायक हैं। सचाई का वही नित्य सूर्य्य अर्थात् वेद पुनः प्रकट हो गया है। इस ने मूढ़ विश्वास के बादलों को सर्वथा छिन्न भिन्न कर दिया है। संसार पर छाया हुआ अशुभ अँधकार दूर हो गया है और भास्कर पहले के से तेज के साथ पुनः चमक रहा है। यह सुखद अवस्था स्वामी दयानन्द के परिश्रम का ही फल है। उसी ने हम उस प्रकाश के दर्शन कराए हैं जिस का कि प्राचीन ऋषि आनन्द लूटा करते थे। लेकिन यद्यपि कई एक ने इस कृपा को देखा और इस का आदर किया है, फिर भी बहुत से लोग, चिरकाल से अँधकार में रहने का स्वभाव होने के कारण या तो इस में सन्देह करते हैं या उस प्रकाश में जाने से हठपूर्वक इनकार करते हैं। जिन लोगों की आत्माएँ मूढ़ विश्वास के अँधकार से बाहर निकल चुकी हैं उन सब का यह परम कर्त्तव्य है कि वे संशयात्मक लोगों के संशय की, और धर्म्मांध तथा दुराग्रही लोगों की धर्म्मांधता तथा दुराग्रह की चिकित्सा करें। इस का केवल यही उपाय है कि उस संस्था की सहायता की जाए, जहाँ कि आगामी पीढ़ियाँ क्रमशः और अगोचर रीति से अन्ततः वहाँ जाने के लिए तैयार की जा रही है। वक्ता ने किसी संस्था का नाम नहीं लिया, जनता जानती थी कि किस संस्था की उन्हीं सहायता करनी चाहिए। महाघोष करतल–ध्वनि में वक्ता बैठ गए।"

सन् १८८८ वह वर्ष था जिस में कि पण्डित गुरुदत्त लगातार काम करते रहे। इसी वर्ष के आरम्भ से उन के अन्दर वह रोग बढ़ने लगा, जो एक परिवर्तित रूप में, अन्त को उन्हें इस संसार से उठा ले गया। कुछ तो साम-वेद की स्वरें लगाने और संशोधन के काम से, कुछ अष्टाध्यायी श्रेणी पर परिश्रम करने से और कुछ बाहर के नगरों में डी० ए० वी० कालेज के हितार्थ लगातार और लम्बे २ दौरे करने से उन का शरीर असाधारणतः दृढ़ होने पर भी, शिथिल हो गया था। वह भारी आयास सहन नहीं कर सकता था। पण्डित जी को कुछ विश्राम कर के अपनी तन्दुरुस्ती को सुधारने का परामर्श दिया गया। पहले पहल तो उन्हों ने इस उपदेश को प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार कर लिया लेकिन लोगों को आर्य्य-समाजी बनाने के काम में समुज्ज्वल सफलता की आशा ने उन के आत्मा पर पूर्ण अधिकार जमा लिया था और उन के अन्य सब विचार इस के नीचे दब गए थे। कुछ ही क्यों न हो वे काम करने से रुक नहीं सकते थे। सौभाग्य से या दुर्भाग्य से आर्य्य सामाजिक प्रचार की उस प्रारम्भिक अवस्था में चार संन्यासी अच्युतानन्द, प्रकाशानन्द, स्वात्मानन्द, और महानन्द पण्डित जी के मित्र बन गए। वे बड़े समझदार

मनुष्य थे, और वैदिक धर्म्म, इसके सिद्धान्त और संसार में इसके विधान के विषय में जानकारी लाभ करने की सच्ची रुचि दिखलाते थे। पं० गुरुदत्त उन के साथ बड़े आदर और दया का वर्ताव करते थे। उनके अगाध पाण्डित्य, अद्वितीय बुद्धि, और जानकारी के भारी भण्डार ने स्वामियों को मोहित करलिया। वे उनकी संगति को छोड़ना पसन्द न करते थे। दिन रात वे उन के घर पर बैठे देखे जाते थे। उनका सम्बन्ध वेदान्त सम्प्रदाय के साथ था, लेकिन उनका सारा वेदान्त-वाद पण्डित जी के सामने इस तरह उड़ गया जिस प्रकार कि सूर्य्य के सामने ओस उड़ जाती है। मन के अशान्त होने, और समाश्वासन और पथप्रदर्शन के लिए निश्चित और दृढ़ प्रत्यय न होने के कारण ये लोग आध्यात्मिक पिपासा से सूखे हुए मनुष्य की तरह अमृत की प्रचंड लालसा रखते थे, और यह अमृत उन्हें पण्डितजी ने स्वेच्छापूर्वक दे दिया। पूर्णरूप से परितृप्त हो जाने के कारण उन्होंने वैदिक धर्म्म के प्रचारार्थ काम करने की अभिलाषा प्रकट की, और अपनी सेवा स्वेच्छापूर्वक प्रतिनिधि सभा के सिपुर्द करदी। कुछ समय तक वे दृढ़ उत्साह के साथ काम करते रहे। इसके बाद उनमें से दो .... गिर गए। इन सन्यासियों के वैदिक धर्म्म प्रवेश ने पण्डित जी के स्वास्थ्य पर कुछ कम असर नहीं डाला, पर उन दिनों केवल वे ही उनके घर जाने वाले न थे। बहुत से समाजी और गैर-समाजी लोग उन्हें प्रतिदिन मिलने जाते थे। कई लोग तो कुछ सीखने के लिए, कई मनोरञ्जन के लिए, और कई उनके पाण्डित्य की थाह लेने के लिए जाते थे। उपकारशील स्वभाव रखने के कारण वे उन्हें कभी चले जाने को न कहते थे और रात को देर तक उनके साथ बैठे रहते थे। इन समूहों का अनुमान ला० लाजपतराय के निम्नलिखित लेख से होसकता है—"मुझे एक विश्वस्त दर्शक ने बताया है कि इस वर्ष में अनेक दिन तक ये चारों पूज्य संन्यासी उनके साथ रहे और भिन्न २ धार्म्मिक विषयों पर उनके साथ वार्तालाप करते रहे, इस लिए लोग उनके घर को सच्चे अर्थों में भली भांति एक आश्रम कह सकते थे। सच्ची बात तो यह है कि अनेक लोग उसे आश्रम समझते भी थे। अनेक आत्माएँ सत्य की तलाश में उन के घर जाती थीं और वैदिक धर्म्म के प्रेम से अपने मन रूपी भण्डार को भर लाती थीं। सब प्रकार के लोग, क्या गृहस्थ और क्या संन्यासी, मनुष्य-जीवन की गहन समस्याओं को खोलने और ज्ञान के उस चमकते हुए सूर्य्य से प्रकाश लाभ करने के लिए उनके पास आते थे। आर्य्य समाज की बहुमूल्य सेवा करते हुए भी उन्होंने अपनी मानसिक और आध्यात्मिक उन्नति की उपेक्षा नहीं की। दूसरे अगणित ग्रन्थों के अतिरिक्त उन्हों ने दस उपनिषद्, गोपथ और ऐतरेय ब्राह्मण, निरुक्त के कुछ भाग, चरक, सूर्य्यसिद्धान्त और पतञ्जलि का महाभाष्य स्वामी दयानन्द के वेदाङ्ग

प्रकाश की सहायता से पढ़े। स्वामी दयानन्द के ग्रन्थ तो उनको विशेष प्रिय थे। कहते हैं उन्हों ने स्वामी जी का सत्यार्थप्रकाश, विशेषतः मुक्ति वाला समुल्लास, अनेक बार पढ़ा था, और जितना ज़ियादह और जितनी अधिक बार वे उसे पढ़ते थे, उसके जगद्विख्यात लेखक में उनकी श्रद्धा उतनी ही अधिक और प्रगाढ़ होती जाती थी। स्वामी जी की प्रतिभा के प्रति पूजा और सम्मान का भाव उनके अन्दर दिन पर दिन बढ़ता जाता था, और सन् १८८९ के मध्य के निकट यह भाव अपनी चरम सीमा को पहुंच गया। आप काम में इतना दृढ़ होने पर भी उन्हों ने कभी किसी विद्या अभिलाषी को पढ़ाने से इनकार नहीं किया। " इस भारी आयास ने दुःख और रोग पैदा कर दिया, देखिए उनके रोज़नामचे में ये बातें लिखी मिलती हैं—

१२ जनवरी—कई बार लहू आया, बहुत दुःख।

१४ जनवरी—पाखाने के रास्ते लहू आरहा है।

२२ जनवरी—बहुत ज़ियादह बीमार हो गया।

१ फर्वरी—मेरा व्याधि-काल आरम्भ होता है।

१२ फर्वरी—बहुत बीमार, लहू और निर्बलता।

१ मार्च—अजीर्ण अभी दूर नहीं हुआ।

१६ मार्च—जी बहुत मतलाता है, और नासिका में से दो तीन लहू की बूँदे गिरीं।

१ अक्तूबर—पाखाने के रास्ते बहुतसा लहू गया।

२ अक्तूबर—जी का मतलाना।

ये छोटी और अव्यवस्थित बातें उनके शरीर के अन्दर होने वाले कष्ट का केवल एक अधूरा सा पता देती हैं। उनकी सहन शक्ति बड़ी प्रबल थी, भारी से भारी पीड़ा के समय भी वे हा न करते थे। इस वर्ष के अन्त में उन का शरीर प्रायः पूर्ण रूप से ध्वंस हो चुका था, फिर भी वे बड़ी धुन के साथ काम करते ही जाते थे। लोग उनके बाहरी रूप से उनकी अवस्था को जान नहीं सकते थे। उनका मुखमण्डल सदा शान्त और प्रसन्न रहता था।

सन् १८८९ का सारा वर्ष पण्डित गुरुदत्त पुनः असाधारण तौर पर काम करते रहे। "उपदेशक श्रेणी" की प्रतिष्ठा के कि लिए एक संस्था बनाने के शीघ्र ही बाद उन्हों ने एक महाभाष्य-श्रेणी खोलदी। पण्डित गुरुदत्त का जो पावन प्रभाव आर्य्य समाजियों पर था उस से उत्साही मनुष्यों के एक समूह के मन में वैदिक साहित्य के अध्ययन की कामना उत्पन्न हुई। इनकी इस कामना को पूर्ण करने के लिए कुछ प्रबन्ध होना आवश्यक था। लाहौर में पण्डित गुरुदत्त के बिना और कोई ऐसा व्यक्ति न था जो सुशिक्षित लोगों को ठीक तौर पर आर्य शास्त्र पढ़ा सकता, इसलिए पण्डित जी ने इस भारी काम को अपने

ऊपर लिया। यह श्रेणी उनके घर पर ही लगा करती थी। पहले पहल तो विद्यार्थियों की संख्या काफी बड़ी थी, पर यह क्रमशः घटती गई क्योंकि अधिकतर पढ़ने वाले दफ्तरों के क्लर्क (लेखक) थे और वे पढ़ने के लिए अपने दफ्तरों से समय पर न आ सकते थे। अन्यथा इस श्रेणी को और सब प्रकार से सफलता प्राप्त हुई। प्रत्येक आर्य इसकी उपयोगिता का अनुभव करता था। बाहर के नगरों के कई एक सज्जनों ने भी इस श्रेणी में भरती होने की रुचि प्रकट की। लाला नारायणदास एम० ए० एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर ने जिन के मनमें उस समय पण्डित जी के प्रति सच्चा सम्मान था, पण्डित जी की उस सार्वजनिक सेवा को जो कि वे महाभाष्य-श्रेणी द्वारा कर रहे थे बड़ा ही पसन्द किया, और तीन मास के लिए आप भी उस श्रेणी में भरती होने का निश्चय किया। यह बड़े ही महत्व की बात है। एक्स्ट्रा असिस्टेण्ट कमिश्नर ऐसे उच्च पदवी धारी एक प्रतिपन्न ग्रेजुएट विद्वान् का पण्डित जी से केवल संस्कृत पढ़ने के लिए तीन मास की छुट्टी लेने पर उद्यत होजाना श्रेणी की विशिष्टता और पण्डित जी की योग्यता का कुछ कम प्रमाण नहीं है। अब जब कि पण्डित गुरुदत्त इस संसार में नहीं हैं, लोग उनकी संस्कृत में योग्यता के विषय में चाहे कुछ ही क्यों न कहें, पर इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि उनके जीवन काल में बड़े से बड़े सर्वज्ञ समालोचक भी उन्हें संस्कृत का भारी विद्वान् समझकर उनका सम्मान करते थे। पण्डित गुरुदत्त का संस्कृत-पाण्डित्य गम्भीर ही नहीं प्रत्युत विस्तृत भी था। उसका बहुत बड़े प्रदेश पर प्रसार था। वे धारा-प्रवाह संस्कृत बोल सकते थे, लोगों ने जब उन्हें आर्यमन्दिर में महामण्डल वालों के विरुद्ध व्याख्यान देते हुए संस्कृत की वाग्धारा बहाते देखा तो उनके आश्चर्य की कोई सीमा न रही। महाभाष्य-श्रेणी दीर्घजीवी नहीं हुई, पर इसने अपने अल्प जीवन में ही विद्यार्थियों को बहुत लाभ पहुंचाया। यदि यह कुछ देर और जीती रहती तो निस्सन्देह यह अष्टाध्यायी के पण्डित और निर्दोष ज्ञान रखने वाले मनुष्य पैदा कर देती।

स्वामी दयानन्द के ग्रन्थों के अध्ययन ने पण्डित जी के मन पर अद्भुत प्रभाव पैदा किया था। उनके विचार बड़े ही शांत और संयत होगए थे, उनका मन स्थूल बातों को छोड़कर सूक्ष्म बातों की ओर जाता था। आत्मिक उन्नति ही उनके प्रयत्नों का मुख्योद्देश बन गई थी। वे कोई भी ऐसी बात नहीं करते थे, जो प्रत्यक्ष या परोक्ष रीति से उस उद्देश की ओर लेजाने वाली न हो। एक प्रकार से वे गृहस्थ साधु थे। वे दुनिया का काम काज करते हुए भी जल में कमल की तरह दुनिया से अलग थे। कहते हैं दो एक बार उन्हों ने वानप्रस्थ हो जाने की अभिलाषा प्रकट की थी ताकि वे निर्विघ्नता पूर्वक अपनी उद्देश-सिद्धि में लग सकें, लेकिन अपने परिवार के विचार ने उन्हें ऐसा करने नहीं दिया।

अनेक मनुष्य उनके आश्रित थे, जो उनकी सहायता के बिना या तो भूके मरने लगते या उनकी बहुत ही दुर्दशा हो जाती। और वे इस बात का भली भाँति अनुभव करते थे इसलिए वे वन में नहीं गए।

एप्रिल १८८९ में डाक्टर ओमन के छुट्टी से वापस आजाने पर वे गवर्नमेण्ट कालेज की प्रोफेसरी से अलग होगए। पण्डित गुरुदत्त यद्यपि विपुल वेतन पाते थे पर उन के पास कुछ भी रुपया संचित न था क्योंकि परिवार की आवश्यकताओं को पूरा करने के बाद जो धन उन के पास बच रहता था वह सब वे दीन दुःखियों को बांट दिया करते थे। अपने आश्रित लोगों का पालन पोषण करने के लिए जरूरी था कि वे कुछ काम करें। कई सज्जनों ने उन्हें यह सलाह दी कि आप शिक्षा-विभाग के डायरेक्टर से मिलकर किसी आसामी के लिए प्रार्थना करें। पर उन्हों ने ऐसा करना पसन्द नहीं किया क्योंकि उन का उद्देश यथासम्भव उस व्यवसाय से अलग रहना था जो कि आत्मिक उन्नति में सहायता नहीं देता। और इस में उन की सिवा उस व्यवसाय के जो उन्हें अच्छी मासिक आय देने के अतिरिक्त उन के आध्यात्मिक ज्ञान को भी बढ़ाने वाला हो, और कौन सहायता कर सकता था? यह दुष्प्राप्य संयोग केवल किसी धार्मिक पत्र के सम्पादन में ही मिल सकता था, इस लिए पण्डित गुरुदत्त ने तत्त्वज्ञान, वेदान्त और ब्रह्मज्ञान के विषयों पर विचार करने वाला एक सामयिक पत्र निकालने का निश्चय किया। इस विश्वास ने १८८९ के मध्य में क्रियात्मक रूप धारण किया। वैदिक मेगज़ीन नाम का एक सामयिक पत्र जारी किया गया। पहला अङ्क जुलाई में निकला। इस उच्च कोटि के सामयिक पत्र के निकलने से साहित्यिक और धार्मिक जगत् में हल चल मच गई क्योंकि जुलाई का अङ्क उज्ज्वल लेखों से सुशोभित था। आर्य्य जगत् ने दिल खोलकर सहायता की। क्योंकि आर्य्य लोग इस बात का अनुभव करते थे कि वैदिक मेगज़ीन के रूप में उन के पास वैदिक धर्म्म का एक प्रबल प्रचारक है। भारतवर्ष में जनता ने इस पत्र का हृदय से स्वागत किया, और विदेश के पत्रों में इस की बड़ी ही प्रशंसात्मक समालोचना हुई।

धार्म्मिक सुधार और पुनरुद्धार के लिए वैदिक मेगज़ीन एक भारी यत्न था। इस पत्र का उद्देश "वैदिक साहित्य के विविध भागों का अनुवाद, सार, समालोचना, और विवेचना कर के वेदों में बढ़ती हुई दिलचस्पी को पूरा करना; वैदिक तत्त्वज्ञान की आन्तरिक सचाइयों को, जो कि जड़वाद के इस युग के लिए इतनी ज़रूरी हैं, प्रकट करना; संसार के साम्प्रदायिक या पंथाई पर करुणाहीन धर्म्मों के मुकाबले में, वेदों का परोपकारी और सदय धर्म्म पेश करना; अविद्या-जन्य पुराने मूढ़विश्वासों पर कुल्हाड़ी चलाना; कालानुवर्ती

और लोकप्रिय नीतियों के विपरीत सच्चे सुधार के नियमों की शिक्षा देना; विवादात्मक लेख और आलोचनाएँ प्रकाशित करके वेदों की पवित्र और सरल सचाइयों को ताजा रखना; स्वार्थ पर कपटी पुरोहितों पाण्डित्यदर्शी भावा तत्त्वविदों, और उथले जड़वादियों के हठ पूर्ण मिथ्या-प्रचार या निर्व्याज अन्यथा ग्रहण को दूर करना" था। इस कार्य्य के परिमाण की कल्पना सुगमता से हो सकती है। जब तक मनुष्य वैदिक साहित्य का अच्छा पण्डित और समकालीन विचारों का पूर्ण ज्ञाता न हो उसे इस कार्य में सफलता नहीं हो सकती। उस के लिए समस्त संसार के विशेषतः भारत मण्डल के सभी धर्म्मों का ज्ञान रखना परमावश्यक है। उस का दार्शनिक ज्ञान बहुत विस्तृत और विज्ञान के साथ उस का परिचय बहुत गहरा होना चाहिए। इस लिए जो व्यवसाय पण्डित गुरुदत्त ने अपने लिए चुना वह बड़ा ही कष्टसाध्य था क्योंकि इस से मनुष्य की शक्तियों को बहुत ज़ियादा काम करना पड़ता था। इस से सम्बन्ध रखने वाले विविध कर्त्तव्यों को सन्तोष जनक रीति से केवल वे आप ही पूरा कर सकते थे, समाज में कोई ऐसा मनुष्य न था जो इस में कोई प्रकृत सहायता दे सकता। इस के अतिरिक्त यदि कोई ऐसे मनुष्य थे भी, तो विद्वत्तापूर्ण लेख पुरस्कार दिए बिना प्राप्त न हो सकते थे, पर पुरस्कार देने का सामर्थ्य पण्डित जी में न था, इस लिए सारा बोझ खुद पण्डित जी को ही उठाना पड़ा। उन के मेगज़ीन का विद्वत्तापूर्ण लेखों से, जोकि उन के नाम और ख्याति के योग्य हों, भरा होना आवश्यक था। इस के लिए उन्हें घोर से घोर परिश्रम करना पड़ता था। लाला लाजपत राय लिखते हैं कि "उन्हों ने प्रोफेसर मेक्समूलर के सारे ग्रन्थ, न्याय, मीमांसा, वैशेषिक, योग, निरुक्त, स्वामी दयानन्द का वेदभाष्य, पतञ्जलि का महाभाष्य, मनुस्मृति, और अन्य अनेक ग्रन्थ जिन की गिनती करना कठिन है, पढ़ डाले थे।" इतने ग्रन्थों के अध्ययन के लिए उन के शरीर को इतना भारी आयास करना पड़ा जितना कि वह उठा न सकता था। जुलाई १८८९ के पिछले दिनों में वे शिकायत करने लगे, कि 'मुझ में से कुछ बिजली सी निकल गई है' और अगस्त के आरम्भ में उन्हें जुकाम ने आघेरा। जुकाम के साथ, शीघ्र ही बाद, खाँसी और ज्वर हो गये, और इन को रोकने का भारी प्रयत्न करने पर भी सितम्बर तक इन की तीव्रता प्रतिदिन बढ़ती ही गई। अन्ततः उन्हें पहाड़ों पर ले जाना पड़ा; उन की तन्दुरुस्ती को सुधारने के लिए मरी सब से उत्तम स्थान समझा गया। वहाँ उन के एक सच्चे और उत्सुक भक्त, सरदार उमराव सिंह, ने उन का स्वागत किया, परन्तु अच्छी से अच्छी डाक्टरी सहायता और सरदार साहब की तरफ से पूरी २ सेवा शुश्रूषा के होते भी रोग के घटने के कोई चिह्न नहीं दिखाई दिए। उन का शरीर जो असाधारणतः

बलवान् था, वहाँ थोड़े दिन ठहरने से ही अत्यन्त दुवला होगया। पेशावर समाज का वार्षिक उत्सव उन दिनों होने वाला था, उन्हों ने उस में सम्मिलित होने का निश्चय कर लिया। वे इतने लम्बे सफर का कष्ट नहीं उठा सकते थे, पर जब एक वार उन्हों ने निश्चय कर लिया तो फिर उन्हें उसे कार्य में परिणत करने से रोकना कठिन था। मित्रों के वार २ रोकने पर भी वे पेशावर चले गए। वहाँ जाकर वे केवल दर्शक ही नहीं बने रहे प्रत्युत उन्हों ने उत्सव में क्रियात्मक भाग लिया। उन का वेदों पर व्याख्यान उत्सव के सभी व्याख्यानों से अच्छा था। यह भाषण उन्हों ने भी अपनी पूरी शक्ति के साथ किया; इस भारी आयास का परिणाम यह हुआ कि रोग की तीव्रता दुगनी होगई, और लाहौर पहुँचने के जल्दी ही बाद वे सर्वथा खाट से लग गए, काम करने की सारी शक्ति शरीर से जाती रही। सारा अक्तूवर रोग की तीव्रता वढ़ती ही गई लेकिन अक्तूवर के अन्त में आराम के कुछ चिह्न दिखाई देने लगे। पण्डित जी खुद भी नीरोग होने की आशा करने लगे। उस समय उन्हें पूर्ण विश्राम करना चाहिए था, या नहीं, वे निचले न बैठ सकते थे। उन्हों ने डी० ए० वी० कालेज की प्रवन्धकर्त्री समिति में खूब भाग लिया। कल्पना कीजिए कि एक मनुष्य लगातार कष्ट और रोग से हड्डियों का केवल ढाँचा रह गया है और फिर भी सार्व-जनिक हित के वाद प्रतिवाद में विना किसी विवेक के भाग ले रहा है। पण्डित गुरुदत्त का यह चिराभ्यस्त दोष था। वे ऐसी वातें अदूरदर्शिता या ऐसे कर्मों के परिणामों से अनभिज्ञ होने के कारण नहीं प्रत्युत भीतर से एक प्रवल आवेग के कारण करते थे।

इस मानसिक आयास ने अत्यन्त क्लांति और क्षीणता पैदा करदी, और थोड़ी सी दूर जाने में भी अशक्त होने के कारण वे कई दिन तक शय्या पर ही लेटे रहे। उनकी शक्ति दिन पर दिन घटती जाती थी और वे क्षीण और क्षीण होते जाते थे। इस परम कष्ट के समय उन्हें गुजराँवाले भेजा गया और वहाँ डाक्टर फ़तेचन्द उनकी चिकित्सा करने लगे। पण्डित गुरुदत्त गुजराँवाले में वहुत दिन रहे। डाक्टर साहव भी उन पर विशेष योग देते थे, पर लाभ कुछ नहीं हुआ। रोग चङ्गा होसकने वाली अवस्था का उल्लङ्घन कर चुका था। पण्डित जी की दशा में कुछ भी उन्नति न थी; इसके विपरीत भयानक लक्षण पैदा होगए थे, इस लिए उन्हें लाहौर वापस लाया गया, और एक विशेष वङ्गला किराए पर लेकर उसमें उन्हें रखा गया।

लाहौर में उनकी चिकित्सा पञ्जाव-प्रसिद्ध पं० नारायणदास वैद्य करने लगे। पण्डित नारायणदास ने पुराने क्षय रोग के अनेक रोगी चङ्गे किये थे, और उनके उपचार से पण्डित गुरुदत्त की अवस्था में भी कुछ उन्नति हुई। कई लोग उनके नीरोग होने की आशा करने लगे, परन्तु अकस्मात् रोग का

प्रत्यावर्तन हुआ । इसके पीछे " शेर अली नाम के एक हकीम जालन्धर से मँगाए गए " । लाला लाजपतराय कहते हैं कि " उनके उपचार ने जादू का सा असर किया, और प्रायः एक सप्ताह के अन्दर ही पण्डित जी का पूर्ण-रूप से नीरोग होजाना केवल कुछ दिनों की ही बात मालूम होने लगी " । लेकिन यह सम्भवतः बुझते हुए दीपक की टिमटिमाहट थी । रोग का फिर प्रत्यावर्तन हुआ और " इसके असर से पण्डित जी फिर मुक्त नहीं हुए । "

१८ मार्च का सवेरा हुआ । भगवान् भास्कर अपने पूर्ण तेज के साथ संसार को प्रकाशित करने लगे । आकाश में बादलों का निशान तक न था । पक्षी आनन्द के गीत गारहे थे । लोग खुशी खुशी अपने दैनिक कार्यों पर जा रहे थे । चारों ओर आनन्द ही आनन्द था । लेकिन आर्यों के हृदय आनन्द से ख़ाली थे । प्रत्येक मुखमण्डल से शोक टपक रहा था । ' कोई आशा नहीं, कोई आशा नहीं ' यही शब्द अनेक लोगों के मुँह से निकलते मालूम होते थे ।

पण्डित गुरुदत्त शय्या पर बीमार पड़े थे । यद्यपि वे पूर्ववत् शान्त थे पर उनकी जीवन-शक्ति शनैः शनैः घटती जा रही थी । अब कोई चारा न था। विधाता के कामों में कौन हस्तक्षेप कर सकता है । उनका जाना आवश्यक है, परमपिता उनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । जगत् पिता के बुलाने पर उनका जाना आवश्यक है । और हमारे पण्डित जी को इसका शोक नहीं । वे शोकातुर हों भी क्यों ? क्या वे अपने परमपिता से मिलने नहीं जा रहे ? जब कि चारों ओर शोक के आँसुओं की झड़ी लग रही है, जब कि माता का हृदयभेदक विलाप वायु को चीर रहा है, जब कि बच्चों की आँखें आँसूओं से तेजहीन हो रही हैं, पण्डित गुरुदत्त संसार के दुःखों और चिन्ताओं की कुछ भी परवा न करते हुए मुस्करा रहे हैं ।

वे इस संसार के नहीं, इसलिए इसे छोड़ते हुए उन्हें खेद नहीं होता । प्रत्युत वे प्रसन्न हैं क्योंकि अपने घर वापस जाने से कौन आनन्द नहीं मनाता। वे घर से बहुत दिन तक अनुपस्थित रहे हैं । अब उन्हें शीघ्रता करनी चाहिए । दिन बीत गया, पीड़ा प्रायः असहनीय होगई, लेकिन हमारे चरित्र-नायक ने हा तक नहीं की । रात होने लगी । उनके मित्रों की चिन्ता बढ़ रही है । वे एक दूसरे से पूछते मालूम होते हैं कि क्या भगवान् हमें उनका जीवन दान देंगे ? क्या हमारे प्रिय पण्डित जी इस संसार से जा रहे हैं ? हाँ वे जारहे हैं, और कोई भी शक्ति अब उन्हें हमको नहीं देसकती । रात के बारह बज गए । अब जीवन जल्दी २ घटने लगा । पाँच २ मिनट बाद नाड़ी देखी जाती थी । अब सब आशा नष्ट हो चुकी थी । सहसा पण्डित जी ने करवट बदला और वेद-मंत्र उच्चारण करने लगे । तब उन्होंने अपने मित्र भक्त रैमलदास से ईशोपनिषद् पढ़कर सुनाने को कहा । मन्त्र पढ़ते २ और भजन गाते २ समय बीतने लगा।

एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः। फिर सवेरा हुआ। १०वीं मार्च का प्रातःकाल। इस लोक पर पण्डित गुरुदत्त के निवास का यह अन्तिम दिवस था। सवेरे ७ बजे उनका प्राण पखेरू उड़ गया। कुछ क्षणों में ही उनकी मृत्यु हो गई। उन के शरीर-परित्याग से आर्य्यसमाज रूपी गगनमण्डल का एक चमकता दमकता तारा छिप गया, और अपने पीछे एक अभेद्य अँधकार छोड़ गया।

आर्य्यपत्रिका ने "हमारी क्षति" शीर्षक एक लम्बा और हृदयद्रावक लेख लिखा—

"एक मनुष्य, एक असाधारण मनुष्य, एक अलौकिक मनुष्य, संस्कृत विद्या का एक सच्चा और अद्वितीय पण्डित—प्राचीन ऋषियों का एक सच्चा वंशज—इस संसार से उठा गया। आर्य्यसमाज के भूषण और गर्व, सत्य और ज्ञान का आदर करने वाले सभी लोगों के अभिमान पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी अब हमारे पास नहीं। हो, वह पुण्यात्मा अब नश्वर शरीर में बन्द नहीं। युवा और वृद्ध हम सब उन्हें ढूँढ रहे हैं, सच तो यह है कि हमें अभी इस बात का विश्वास नहीं होता कि वे हमें छोड़ गए हैं। हमारी क्षति की अलौकिकता और गुरुत्व ही इस संस्कार को बनाए रखने में सहायता देता है कि वे अभी तक भी हमारे पास हैं। हा, हम फिर उन जैसा मनुष्य कब देखेंगे! हम फिर ऐसा मनुष्य कब देखेंगे जिसके रोम रोम में सच्चाई के प्रकाश—वैदिक धर्म्म के सनातन सिद्धान्तों—को फैलाने की कामना, और परमेश्वर की वाणी, और उन लोगों की वाणी के द्वारा, जिन्हों ने कि उस की वाणी को जाना और समझा है, संसार को पुनः परमेश्वर के सामने लाने की कामना रम रही है! हा, गुरुदत्त विद्यार्थी! इस समय तेरी क्षति असमाधेय है। अपने विशेष क्षेत्र में तू कोई भी ऐसा मनुष्य पीछे नहीं छोड़ गया जो वह काम कर सके जिसे कि तू ने करना था।

हे युवक! तेरी आत्मा वस्तुतः श्रेष्ठ थी, और तेरा अल्पकालिक जीवन अपने तेज से चकाचौंध कर देने वाला था यद्यपि तुझे इस बात का ज्ञान न था। यह बात तेरे लिए थी भी ठीक, क्योंकि तेरा लक्ष्य बहुत उच्च था, तू गौतम, पतञ्जलि, व्यास, याज्ञवल्क्य और स्वामी दयानन्द को अपना आदर्श समझता था, और उनकी संगति तथा नेतृत्व में सदा प्रसन्न रहता था। इतना श्रेष्ठ और इतना होनहार होकर इतनी जल्दी संसार से चल दे। हमें तुझ से क्या क्या आशाएँ थीं, और तू सचाई के लिए क्या क्या न कर दिखलाता यदि विधाता को तेरा यहाँ कुछ देर और रखना स्वीकार होता! परन्तु उसकी इच्छा अवश्य पूर्ण होती है। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि तेरी आत्मा अब पहले से अनन्त गुना प्रसन्न, और

भौतिक बन्धनों से मुक्त होगी, फिर भी हम यह कामना किए बिना रह सकते कि तू हम में कुछ काल और रहता ! अब भी हमें व्यथित नहीं होना चाहिए क्योंकि यदि तूने, आत्म के जगत पिता की गोदी में असंख्यात वर्षों तक आराम लेने के पहले, एक वार फिर जन्म लेना है तो तू अवश्य हमारे पास आयगा, उस समय तेरी शक्तियाँ सचाई के प्रचार के लिए पहले से सौ गुना अधिक बढ़ी हुई होगी !

पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी वर्त्तमान मास की १९वीं तारीख को सवेरे साढ़े सात बजे हम से विदा हुए। उनका देहांत क्षय रोग से हुआ। यह भयानक रोग इस देशमें बड़ा ही बढ़ रहा है। लेकिन यदि पण्डितजी का चरित्र, उनके बल, उनकी नैतिक उच्चता, और धार्मिक तीव्रता के कारण हमारे अध्ययन और अनुकरण के योग्य था, तो उसका अन्तिम दृश्य भी उस उच्च आत्मा के समुचित ही था। अपनी व्याधि के पूरे छः मास में, जब कि वे चारपाई से उठ नहीं सकते थे, वे कभी भी दुःख से अशांत, व्याकुल, और अधीर नहीं हुए। उनकी सारी यातनाएँ उनकी वीर आत्मा से आन्तरिक वेदना का हलका सा चिन्ह भी प्रकट नहीं करा सकीं—उस दारुण ज्वर के, जो कि उनके शरीर का एक भाग बन गया था, प्रचण्ड से प्रचण्ड आक्रमण के समय भी वे अस्थायी आराम के समय की तरह ही गम्भीर और शान्त रहते थे। हाँ, सच्चा आर्य्य होने के कारण वे सच्चे आर्यों की तरह कष्ट सहना जानते थे। वे विधाता की इच्छा पर अपने आपको छोड़ देना जानते थे, ज़ियादातर इसलिए क्योंकि उन्होंने दयानन्द को ऋषियों की तरह मरते देखा था, और अवसर मिलने पर वे ऋषि की मृत्यु का बड़े उल्लास और भक्ति के साथ वर्णन किया करते थे। गुरुदत्त विद्यार्थी ! मृत्यु और कष्ट के समय कौन है जो तेरी तरह शान्त रहने की आकाँक्षा न रखता हो।

जिस समय पुण्य आत्मा ने नश्वर शरीर को छोड़ा तो यह शोक समाचार कि हमारा प्यारा भाई अपने परम पिता के पास चला गया है, नगर के प्रत्येक कोने में, जहाँ एक भी आर्य रहता था पहुँच गया, और दो ही घण्टों के अन्दर यह आग की तरह सारे नगर में फैल गया। यद्यपि इस दिन ऐतवार न था और न ही कोई और छुट्टी थी, फिर भी नौ बजे के पहले पहले हमारे परलोक-गत भाई के घर के सामने कोई पाँच छः सौ मनुष्य एकत्र होगए। वे सब शोकाकुल और उदास थे। कई तो इतनी भारी क्षति का चिन्तन करके चुप और बेसुध होरहे थे, कई चुपचाप फूट फूट कर रोरहे थे, और कई उस श्रेष्ठ युवक के विविध गुणों और योग्यताओं का बखान कर रहे थे। हा, ऐसा कौनसा पाषाण-हृदय था जो वृद्धा माता के हृदय-वेधक विलाप को सुनकर न पसीजा हो। उसके सारे पुत्रों में से केवल गुरुदत्त ही उसके

पास रहने पाया था। वह उसकी अन्तिम सन्तान था, और उसे ढलती उम्र में प्राप्त हुआ था। माता का स्नेह अथाह होता है, पर बुढ़ापे में पाये हुए इस बच्चे के प्रति, विशेषतः जब कि वह महामान्य था, उसका प्रेम और भी गाढ़ा और स्वर्गीय था। माता ! हां, तू हमें माता से भी बढ़कर है, तू, जिसने हमें गुरुदत्त विद्यार्थी सा पुत्र दिया,—तेरी क्षति का अनुमान और अनुभव सिवा माता के और कोई कर नहीं सकता ! परन्तु विश्वास रख कि तेरा पुत्र नाश नहीं हुआ, वह अपने स्रष्टा की गोदी में आनन्द ले रहा है, पर यदि उसने मुक्ति का भागी बनने के लिए संसार में एक बार फिर आना है, तो वह एक सच्चा ऋषि बनकर करोड़ों नर नारियों को बचाएगा।

कोई दस बजे शव को श्मशान भूमि में लेजाने की तैयारी होने लगी। जनसमूह में से कई एक मनुष्यों ने यह प्रस्ताव किया कि मृतपुरुष का इस महानिद्रा की अवस्था में चित्र लिया जाय क्योंकि ऐसी अवस्था के चित्र से सबको अनेक बहुमूल्य शिक्षाएँ मिलेंगी, इससे इस बात का पता लगेगा कि मनुष्य की सारी बड़ाई अनित्य है, और केवल परमात्मा और उसकी बड़ाई ही नित्य है ! परन्तु कई एक महत्वपूर्ण कारण देकर इस प्रस्ताव पर आपत्ति की गई। प्रस्तावकों ने फिर ज़ोर दिया कि और नहीं तो कम से कम सारे समूह का जलते हुए शव समेत चित्र लेलिया जाय। इस पर यद्यपि कोई आपत्ति नहीं हुई, लेकिन ऐसा करना व्यर्थ समझा गया क्योंकि मृतक का चित्र पहले ही मौजूद था, और जो लोग वस्तुतः इस युवक के काल से शिक्षा ग्रहण करना चाहते थे वे उसकी जीवन-घटनाओं पर विचार करके यह शिक्षा ले सकते थे। शव का जुलूस कोई साढ़े दस बजे निकला। अब लोगों का जमघटा कोई सात सौ तक पहुँच चुका था। यह शाह आलमी बाज़ार में से होकर निकला। ज्यों २ यह आगे बढ़ता जाता था त्यों २ लोगों की संख्या भी बढ़ती जाती थी। बाज़ार के दोनों ओर दुकानों पर लोग पंक्ति बाँधे खड़े थे। वे जहाँ एक ओर समाज की भजनमण्डलियों और डी० ए० वी० बोर्डिंग हाऊस के लड़कों के गाए हुए भजनों और वेदमन्त्रों की यथायोग्यता की प्रशंसा करते थे वहाँ साथ ही इस बात पर सच्चा और प्रकृत खेद भी प्रकट करते थे कि ऐसा योग्य मनुष्य, संस्कृत का इतना बड़ा विद्वान्, केवल पच्चीस वर्ष की छोटी सी आयु में ही संसार से चल दिया। सारे बाज़ार में मकानों की छत्तों परसे अरथी पर पुष्पवर्षा होती जाती थी। जब पूरे दो घण्टे के बाद, आवश्यक स्थानों पर ठहरते हुए, अरथी खुले मैदान में आई तो उसके साथ कम से कम एक सहस्र मनुष्यों का समूह था। बारह बजने के बहुत देर बाद, प्रायः कोई एक बजे शव को श्मशान भूमि में रखा गया। विधिपूर्वक वेदी तैयार करने

और चिता बनाने के बाद, शव को ठीक नियमानुसार जलाया गया। सामग्री और घी आदि जो शव के साथ जलाए गए सब कोई साठ रुपए के थे। देह के पूर्णतया जल चुकने के बाद लाला हँसराज ने घटना के अनुकूल एक छोटी सी प्रार्थना कराई। तब लोग स्नान करने और घर वापस आने के लिए श्मशान भूमि से चले आये।"

अपने काल के

केवल वैदिक विद्वान्

स्वामी दयानन्द सरस्वती.

की

स्मृति में

समर्पित

उनका

निष्कपट और अनुरक्त

प्रशंसक, लेखक.

लाहोर
पहली जून १८८८.

गुरुदत्त विद्यार्थी.

❀ वैदिक संज्ञा-विज्ञान ❀
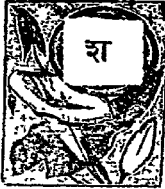
शब्द-की उत्पत्ति, स्वरूप और नित्यता का प्रश्न संस्कृत साहित्य में बड़े महत्त्व का प्रश्न रहा है। इस प्रश्न के उच्च दार्शनिक स्वरूप में संदेह नहीं हो सकता, परन्तु वह असाधारण विशेषता, जो प्रत्येक संस्कृतज्ञ के ध्यान को आकर्षित करती है, इसके उस प्रभाव की सर्वव्यापकता है जो कि यह मानव ज्ञान के अन्य विभागों पर डालता है। प्राचीन संस्कृत समयों के निरुक्तकार, वैयाकरण और भाषा-तत्त्ववेत्ता ही केवल इस प्रश्न को नहीं उठाते; परन्तु मर्मज्ञ और सूक्ष्म दार्शनिक, अन्तिम और सर्वोत्तम संस्कृत मीमांसिक, महामुनि व्यास के शिष्य, षड्दर्शनों में एक के प्रवर्त्तक, धर्म्मसूत्रकार जैमिनि भी इस प्रश्न के प्रभाव से अपने विषय को पृथक् नहीं रख सके। अपनी मीमांसा के आरम्भ में ही वह इस विचार को उठाते हैं और अपने ग्रन्थ के एक बड़े भाग को (यथा प्रमाण) इस प्रश्न के स्पष्टीकरण में लगाते हैं। मानव-वाणी के सम्बन्ध में अनुकरणवाद और अन्य कृत्रिम वादों पर विवाद करने में निपुण, आधुनिक भाषातत्त्वविज्ञान के पाठक के लिए ऐसे प्रश्नों से उत्पन्न होने वाले झगड़े की विशालता का अनुभव करना कठिन नहीं। संस्कृत साहित्य में जो स्थान इस विचार को दिया गया है उसका उल्लेख हमने कुछ इस दृष्टि से नहीं किया, कि इस सारे वितंडा का अन्त कर दें, जो कदाचित् अनिवार्य है, प्रत्युत प्रश्न के उठाने में हमारा प्रयोजन यह है कि संक्षेपतः इसी विचारान्तर्गत एक अन्य और अधिक उपयोगी प्रश्न, अर्थात् वैदिक संज्ञाविज्ञान की व्याख्या के प्रश्न को उठावें।

आज पर्यन्त वैदिक संज्ञाविज्ञान की व्याख्या के लिए सारे स्वीकृत उपायों का आधार किन्हीं पूर्व-कल्पित भावों पर रखा गया है। विषय की गम्भीरता चाहती है कि इन पूर्व-कल्पित भावों का सावधानता के साथ परीक्षण और अध्ययन हो, और इनमें से उस बाह्य सामग्री को काट छाँट करके निकाल दिया जाय जिससे कि भ्रमोत्पत्ति की संभावना है। और साथ ही ऐसी नवीन और अधिक युक्तिसंगत रीतियों का अन्वेषण और व्यवधान करना चाहिये जिनसे इस विषय पर अधिक प्रकाश पड़ सके।

अस्तु, अब उन रीतियों की परीक्षा होनी चाहिये, जिनका आज तक अनुसरण होता रहा है। संक्षेप से, संख्या में वे तीन हैं, और कोई उत्तम नाम न मिलने के कारण वे पौराणिक, पूर्वकालीन और समकालीन शैली कहला सकती हैं।

नोट—यह लेख प्रथमवार 'आर्य्यपत्रिका' ११ जुलाई, १ अगस्त, १९ सितम्बर और १० अक्तूबर १८८५ के अंकों में क्रमशः प्रकाशित हुआ था॥

पहले पौराणिक शैली को लीजिये । यह शैली वेदों को मिथ्या-कथा, धार्मिक परिकथा की कल्पनात्मक भाषा में साधारण नैसर्गिक तथ्यों का चित्र, यथार्थ का रोचक में सांकेतिक प्रदर्शन, प्राथमिक सत्य का अनावश्यक आडम्बर और दिखलावे के ऊपरी स्तर में पड़ा होना प्रकट करती है । अब, जहाँ तक पौराणिक शैली के जाल-कर्म में विचार को इस प्रकार मूर्त्तिमान करने का सम्बन्ध है, यह मानव-जीवन और अनुभव की अपेक्षाकृत असभ्य और सरलावस्था को ग्रहण करती है । प्राथमिक जांगलिक दशा के इस आधार से यह शनैः शनैः ईश्वर और धर्म्म के भावों को विकसित करती है और ऐसा होते ही मिथ्या-कथाओं का काल समाप्त होजाता है । आगे यह इस प्रकार युक्ति देती है—सभ्यता की प्राथमिक अवस्थाओं में, जब कि प्राकृतिक नियमों का ज्ञान कम होता है और उनकी समझ बहुत ही कम होती है, मनुष्य के मानसिक व्यापारों के संपादन में उपमा बड़े महत्त्व का काम करती है । थोड़ा सा भी साहश्य अथवा सादृश्य का आभास ही उपमा के प्रयोग के प्रतिपादनार्थ पर्य्याप्त होता है । मानवीय अनुभव के असभ्य प्रारम्भों के ऐसे काल में स्थूलतम प्राकृतिक शक्तियाँ मानव मनको, प्रधानतः गतियों द्वारा प्रभावित करती है । वायु चलती हुई, अग्नि जलती हुई, पत्थर या फल गिरता हुआ, इन्द्रियों को सारतः जंगमवत् प्रभावित करता है । अब, शारीरिक बल के चेतन व्यवसाय के सारे क्षेत्र में, इच्छा क्रिया से पूर्व होती है, और क्योंकि जगत् में एक असभ्य का अतिविषमानुभव भी इस ज्ञान को ग्रहण करता है, अतः ऐसा तर्क करना बुद्धि से अत्युक्ति का काम लेना नहीं, कि यह प्राकृत शक्तियां जिनसे इन्द्रियगोचर क्रियाएँ होती हैं इच्छा शक्ति सम्पन्न हैं । प्राकृतिक शक्तियों में जब इस प्रकार चेतनत्वारोप हो जाता है तो फिर उनको देवता बनते कुछ देर नहीं लगती । वह प्रबल प्रताप, अप्रतिहत सामर्थ्य, और प्रायः महावेग, जिससे कि एक असभ्य को ये शक्तियाँ काम करती दिखाई देती हैं उसके अन्दर भय, त्रास और पूजा का भाव उत्पन्न कर देती हैं । अपनी निर्बलता, दीनता और हीनता का भाव उस असभ्य मनको शनैः शनैः आ घेरता है, और बुद्धिद्वारा आरोपित चेतनत्व अब चित्तावेग से देवत्व को प्राप्त होजाता है । इस मतानुसार, वेद, जो निस्सन्देह आदिम काल की पुस्तकें हैं; ऐसे ही भाव-विशिष्ट पुरुषों की प्रार्थनाएँ हैं । यह प्रार्थनाएँ प्राकृत शक्तियों की हैं जिनमें कि आँधी और वर्षा भी सम्मिलित हैं । इन प्रार्थनाओं से असभ्य लोगों के बदला लेने तथा पूजा के मानोभावों का परिचय मिलता है ।

जब आनुमानिक मनोविज्ञान इन स्वीकृत तत्त्वों को, चाहे वे शुद्ध हो या अशुद्ध, देदेता है तो फिर सापेक्ष भाषातत्त्वज्ञान और सापेक्ष मिथ्याकथाविज्ञान

उनको अतीव पुष्ट करते हैं। विविध देशों की मिथ्याकथाओं की तुलना दिखाती है कि मानव बुद्धि का व्यापार समान है, तथा मिथ्याकथाओं के घड़ने का यह क्रम न केवल सब कहीं सार्वत्रिक ही है प्रत्युत एकसा भी है। स्कन्डीनेविया, यूनान और भारत की देवमालाओं में जल वायु के प्रभावों से उत्पन्न होने वाले आकस्मिक भेदों के अतिरिक्त और कोई स्पष्ट भेद नहीं। सापेक्ष भाषातत्त्वज्ञान इन दृश्यचमत्कारों की सर्वव्यापकता और समानता को ही नहीं मानता, प्रत्युत भाषारूपी वेश में, जिससे कि यह चमत्कार आवृत होते हैं, उनकी स्वरसंवादी एकता को भी निदर्शित करता है।

इन तीन स्रोतों अर्थात् सापेक्ष भाषातत्त्वज्ञान, आनुमानिक मनोविज्ञान और सापेक्ष मिथ्याकथाविज्ञान से प्राप्त साक्षी, वस्तुतः बहुत बड़ी है, और हमने इस शैली के स्वरूप का, तथा उस साक्षी का वर्णन जिस पर कि इसकी सिद्धि का निर्भर है, अपेक्षाकृत, अधिक इसलिए किया है कि कम से कम न्याय्यता के विचार से ही इस शैली का मूल्य और विशिष्टताएँ कम न समझी जाएँ।

सापेक्ष भाषातत्त्वज्ञान और सापेक्ष मिथ्याकथाज्ञान के परिणाम अस्वीकृत न होने चाहियें। वे हमारे विवाद में प्रारम्भिक स्थान या उपस्थित विषय में स्वीकृत सिद्धान्त हैं। इस लिए विवादार्ह स्थल इन से परे, वस्तुतः इन के नीचे हैं। वे ही तथ्य अर्थात् सत्य के निर्णीत विषय हैं। उन का समाधान कैसे होना चाहिये? और अन्य सब वस्तुओं के समाधान के समान, यहां भी विकल्प समाधान, प्रतिपक्षी प्रतिज्ञायें, सदृश कल्पनाएँ, उन्हीं तथ्यों और दृश्य-चमत्कारों का सामना करने के लिए हो सकती हैं। विविध देशों की मिथ्याकथाएँ एक सी हैं, इस का समाधान दो प्रकार की प्रतिज्ञाओं से हो सकता है, एक यह कि मनोविज्ञान-सम्बन्धी विकास के नियम सर्वत्र एक ऐसे हैं अथवा यह सारी बातें मिथ्याकथाविज्ञान या धर्म के किसी सामान्य पैतृक क्रम से आविर्भूत हुई हैं। स्वरसंवादी समानताएँ, उनके संशयात्मक और प्रायः अनवस्थित स्वभाव को छोड़कर, समान इन्द्रियों और स्वर-संवादी नियमों के व्यापार तक अथवा किसी ऐसी सामान्य पैत्रक भाषा तक जिस से कि अन्य सभी भाषाएँ निकली हैं, समानतया ढूँढ़ी जा सकती हैं। न ही यह शैलियाँ प्रतिपक्षी कल्पनाओं के झगड़े को मिटाने का अधिकार रख सकती हैं। शैलियों के तौर पर वे केवल पुराणकथा या स्वर-विज्ञान सम्बन्धी सादृश्य वा सम्बन्ध ढूँढ़ सकती हैं, पर उन का समाधान नहीं कर सकतीं। यदि हम प्राप्त परिणामों के विकल्पमय स्वभाव का विचार तक न करें, तो भी आनुमानिक सिद्धि की दृष्टि से, ये समाधान बहुत कम सापेक्षिक मूल्य रखते हैं। हम ऐसे तथ्य से समाधान नहीं ढूँढ़ते,

जिस की स्थिति पूर्वज्ञात है, परन्तु जिस समय हम अपने अनुमान की सिद्धि मान रहे होते हैं उसी समय हम अनुमानमात्र से किसी तथ्य का अस्तित्व मान लेते हैं। माने हुए अर्थात् कल्पित तथ्य का जिस से इष्ट समाधान ढूंढ़ा जाता है किसी स्वतन्त्र साक्षी से अनुमान नहीं किया जाता, परन्तु वह स्वयं संश्लिष्ट तथ्यों की स्वयं-प्रत्यागमनीय परम्परा में एक शृंखला है। आगे, देवमाला की वृद्धि किन्हीं मनोविज्ञान सम्बन्धी स्वीकृत तत्वों से अनुमान की जाती है। बड़ी हि आसानी से अनुमान हो सकता था कि यह एक पवित्रतर और सत्यतर धर्म्म का एक गिरा हुआ और टूटा हुआ पर बाद में मुरम्मत करके लिपा पुता खण्डहर है। एक ग्रन्थकार ने वस्तुओं के (मतों को प्रधानतः सम्मिलित करते हुए) पतन का यदि वह अकेली छोड़ी जायें, अच्छा कथन किया है। न ही, साम्प्रदायिक सिद्धान्तों और सम्मतियों के इतिहास के विद्यार्थी से यह तथ्य किसी प्रकार छिपा है। कौन ऐसी धार्मिक रीतियों को नहीं जानता, जो पहले तो विशेष वास्तविक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए घड़ी गई थीं, पर जो कालान्तर में इन आवश्यकताओं के न रहने पर केवल अनुष्ठानों और व्यवहारों में, जो आकस्मिक नहीं प्रत्युत आवश्यक माने जाते हैं, परिणत हो गईं ? इस लिए मिथ्याकथाएँ तथा मिथ्या रीतियाँ, या तो निगृहीत बुद्धि और जड़ीभूत तर्क के प्रभाव के नीचे काम करने वाली मानव-कल्पना के फलों के रूप में उत्पन्न हो सकती हैं, या एक पवित्रतर और सत्यतर धर्म्म के विकृत अवशेष के परिणाम के तौर पर ॥

इस विषय के सम्बन्ध में एक भी ऐसी प्रतिज्ञा नहीं, जिस के प्रतिकूल कोई प्रतिज्ञा न हो, एक भी ऐसी कल्पना नहीं जिस के स्वत्व किसी प्रतिपक्षी कल्पना से न टकराते हों। भाषातत्त्वज्ञान और मिथ्याकथाज्ञान की प्रतिज्ञाओं के संदिग्ध स्वरूप को परे रखते हुए भी, उन से निकाले गये परिणामों की अनिश्चितता दृष्टि से परे नहीं की जासकती। अपनी "ग्रीस इन इण्डिया" नामक पुस्तक में पोकोक महाशय ने कुछ परिणाम निकाले हैं। उन्हों ने सकल यूनानी भौगोलिक नामों का मूल संस्कृत भारतीय नामों से ढूँढ़ा है और इस से वे यूनान का भारतियों से उपनिवेषित होना निकालते हैं। इन परिणामों के समान उपरोक्त प्रतिज्ञानुसार प्राप्त किए गए परिणाम, वर्तुलाकार तर्क की निरन्तर अपने में लौटने वाली एक पूर्ण माला बनाते हैं। सजाति सम्बन्ध को मान कर जो कि यवन और संस्कृत भाषाओं के बीच पाया जाता है, यह अवश्य सिद्ध होजायगा कि स्थानों के यवन नाम स्थानों के भारतीय नामों से दूरवर्ती और खेंचतान युक्त (सीधी और स्पष्ट के विरुद्ध) सरूपता को अवश्य रखेंगे। यूनान में आर्यों का बस्ती बसाना कोई ऐसा परिणाम नहीं जो विशिष्ट

स्थलविवरण विषयक सम्बन्धों से यथार्थतया निकाला जाय, जैसा महाशय पोकोक ने यवन और संस्कृत भाषाओं की सामान्य उत्पत्ति से स्वतन्त्र निकाला है ।

यूनानी और संस्कृत की उत्पत्ति की एकता एक ऐसा सामान्य सूत्र है जो इसे विशिष्ट सम्बन्धों से अधिक आगे सिद्ध नहीं हो सकता । मिथ्या-कथाओं के अनेक प्रकारों और भाषाओं की सरूपता का तत्व,एक स्पष्ट साधारण सिद्धान्त पर, अर्थात् मानव प्रकृति की एकरूपता पर भी पहुँचाता है । इस व्यापक सिद्धान्त के मूल्य से परे विशिष्ट मिथ्याकथा तथा भाषाविज्ञान सम्बन्धी तत्व कोई स्वतन्त्र मूल्य नहीं रखते । उन का मूल्य व्यापक सिद्धान्त में सम्मिलित हो जाता है । यह विशेष प्रतिज्ञायें, जब ठीक हों तो इन से उस सामान्य प्रतिज्ञा का मूल्य बिलकुल नहीं बढ़ता जिस को कि ये बढ़ती हैं, परन्तु इन के गलत होने से उस प्रतिज्ञा की सचाई बहुत कुछ कम हो जाती है। प्रकृति के एक साधारण क्रम, अथवा एक सार्वलौकिक नियम के सुजातत्व पर आश्रित एक परिणाम, ऐसे क्रम या नियम के विशेष दृष्टान्तों की गणना से जो जाति में समान हों, कोई वास्तविक स्वतन्त्र और न्यायसंमत बल प्राप्त नहीं कर सकता । सारी उपर्युक्त बातें एक दृष्टि से तुलनाजन्य देवमाला के प्रश्न पर प्रभाव डालने वाली समझी जायँ । इनका वैदिक संज्ञा-विज्ञान पर कोई स्पष्ट व्यक्तिगत प्रभाव नहीं । किन्तु एक और बात है जिसका वैदिक संज्ञाविज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले देवमालावाद से सीधा संसर्ग है । पूर्ववचनानुसार मिथ्याकथाविज्ञान मानव विचार को मूर्तिमान करने का ही फल है । अतः मिथ्याकथाविज्ञान का अमूर्त से बहुत बड़ा और पूरा पूरा भेद है ।

तत्वज्ञान का उद्देश्य, हरबर्ट स्पेन्सर के मतानुसार चरम सत्यताओं या नियमों का स्पष्टीकरण है । यह सत्य जहाँ तक ये अन्तिम हैं, अवश्यमेव अति व्यापक होने चाहियें । एक ही नियम के अधीन व्यक्तिगत तथ्यों का समुदाय जितना विशाल होता है अथवा बहुपरिमित और प्रारम्भिक क्षेत्र पर कार्य करने वाले सूक्ष्म उपनियमों से अन्तिम नियम का अन्तर जितना अधिक होता है, उसका प्रकट करना उतना ही अधिक निगूढ़ और उतना ही कम स्थूल होजाता है । अतएव तत्वज्ञान और मिथ्याकथाविज्ञान इस विषय में परस्पर विरोधी हैं । तत्वज्ञान निगूढ़ है,वह सामान्य शब्दों और चरम सूत्रों में प्रकाशित किया जाता है; मिथ्याकथाविज्ञान स्थूल है, वह स्थूल प्राकृतिक शब्दों में प्रकाशित किया जाता है । यह प्राथमिक विषयों और विषयों के रूपों को प्रदर्शित करता है । अतएव तत्वज्ञान और दार्शनिक विचारों के वेदों में पाए जाने से बढ़कर देवमाला शैली के मूल्य का विध्वंसक और कोई नहीं । वेद तत्वज्ञान की

पुस्तकें हैं, देवमाला की नहीं; यह बात केवल इसी लिए स्वीकृत न होनी चाहिये क्योंकि संस्कृत के एक सुप्रसिद्ध अध्यापक और विद्वान् इस बात का प्रतिपादन करते हैं कि मानव विचार और युक्ति का बीज वेदों में है पर उन के अनुसार उस बीज का विस्तार काण्ट के तत्वज्ञान में हुआ है, प्रत्युत अन्य और अधिक विश्वसनीय आधार और प्रमाणों पर इसे मानना चाहिए । संस्कृत वाङ्मय में तत्वज्ञान का विकास देवमाला की वृद्धि का पूर्ववर्ती है । उपनिषद् और दर्शन जो प्रतिज्ञापूर्वक तत्वज्ञान के ग्रन्थ हैं और निश्चय ही वेदों के निकटतर हैं, कालक्रमानुसार पुराणों से, जो कि भारतीय मिथ्याकथाविज्ञान साहित्य की साक्षात् मूर्ति हैं, पूर्व के हैं और पीछे के नहीं । वेदों से तत्वज्ञान का विकास हुआ है देवमाला का नहीं । भारतीय साहित्य के इतिहास में, कम से कम, मिथ्याकथाविज्ञान से तत्वज्ञान का जन्म नहीं हुआ परन्तु तत्वज्ञान देवमाला का पूर्ववर्ती है। मिथ्याकथाविज्ञान सत्य और पवित्र धर्म्म या तत्वज्ञान के विकृत अवशेष और शरीर से बाहर को निकली हुई गिलटी की तरह कहाँ तक उठ सकता है, यह बात अब कदाचित् पर्याप्त स्पष्ट हो चुकी है। अब षड्दर्शन, सारे के सारे, वेदों पर स्थित हैं और अपने आप को वेदों के साक्षात् उद्धरणों से पुष्ट करते हैं । इस लिए तत्वज्ञान वेदों से न केवल विकसित किया गया है प्रत्युत सारतः निकाला गया और विकसित किया गया या बाद में संवर्धित किया गया है । एक, और केवल एक आक्षेप है जो उपर्युक्त विचारों के विरुद्ध खड़ा किया जा सकता है । वह यह है कि वेदों के विविध विभाग विविध कालों से सम्बन्ध रखते हैं, क्योंकि जहाँ कई विभाग मिथ्याकथा-सम्बन्धी हैं वहाँ दूसरे निश्चय ही तत्वज्ञान सम्बन्धी हैं । हम यहाँ वह नहीं कहेंगे जो पूर्व से ही प्रसिद्ध है अर्थात् चाहे कैसे ही हो, वेदों की एक पंक्ति भी दर्शनों या उपनिषदों के पीछे की नहीं, पुराणों का तो कहना ही क्या । वेदों के विविध विभागों के निर्णीत कालों में कितना ही अधिक अन्तर क्यों न हो, पर कृत्रिमतर्क का कोई विस्तार उन्हें पौराणिक समय के साथ नहीं मिला सकता । इन विवेचनाओं से स्वतन्त्र, जो फिर भी आवश्यक हैं, वेदों के लिये विविध कालों का निर्णय करना ही देवमाला क्रम की न्यूनता और आंशिक रूप को सिद्ध करता है । देवमाला क्रम की सचाई वेदों के भागों के पृथक्त्व पर निर्भर है । वेद समष्टि रूप से इस प्रकार का उदाहरण प्रस्तुत नहीं करते, किन्तु उनके अलग २ खण्डों से इसकी कुछ झलक दिखाई देती है । परन्तु हमारे पास इन खण्डों के विच्छेद करने की या समानभाव पिण्ड को दो में तोड़ने की क्या युक्ति है ? केवल यही कि वे दो भिन्न कालों से सम्बन्ध रखते हैं । अब ऐसी प्रतिज्ञा कि यह खण्ड दो भिन्न कालों से सम्बन्ध रखते हैं स्वयं देवमाला-शैली की अपर्याप्ति

पर आश्रित है। यदि वे सारे वेदों की एक ही देवमाला शैली से व्याख्या कर सकते तो उन्हें पृथक् पृथक् करने की कोई आवश्यकता न होती। ऐसा वे न कर सकते थे, अतएव विच्छेद किया। देवमाला शैली के आंशिक रूप की दोष-मुक्ति विविध कालों के निर्देश की सत्यता पर निर्भर है, पर इस निर्देश के लिए देवमाला शैली की अपर्याप्ति के सिवा और कोई प्रमाण नहीं *। तब, इस प्रकार, देवमाला शैली का आंशिकरूप स्वभावतः स्वयं-पर्य्याप्त समझा जाता है। तब इस विषय के आरम्भ में गिनी हुई तीन शैलियों में से पहली, स्वतन्त्र विचारी हुई अपर्य्याप्त सिद्ध होती है, भाषातत्वज्ञान के संसर्ग में विचारी हुई, इस से कुछ अच्छी नहीं ठहरती; और अन्ततः, वेदों के दार्शनिक स्वरूप के मुकाबिले में अनुत्तीर्ण होती है। अब हम द्वितीय शैली का विचार करेंगे।

पुराने साहित्यक लेखों के खोलने की अति सरल रीतियों में से एक, प्राक्कालीन या ऐतिहासिक शैली है। इसका काम है, हस्तगत लेखों के व्याख्यान और स्पष्टीकरण के लिये, उन्हें, यथासम्भव, उस काल के सामान्य साहित्य और पुस्तकों के निकट ले आना। इस स्पष्ट कारण से, कि प्रत्यक्ष सदा उच्छिष्ट ज्ञान से उत्तम समझा जाता है, इस शैली का प्रत्यक्ष के सम्मुख कोई मूल्य ही नहीं। अब, जहां तक ऐतिहासिक खोज का क्षेत्र है, जहां कि गत शताब्दियों के अध्ययन का सम्बन्ध है, वहां एक पुरुष को सब कुछ जानने के लिये, निस्सन्देह, उसी काल सम्बन्धी साहित्य और ऐतिहासिक लेखों का आश्रय लेना पड़ता है जिसके साथ कि उसका सम्बन्ध है;और उन अवस्थाओं की परीक्षा, जो ऐसी साक्षी को माननीय,और इस पर किये गये श्रम को सफल करती हैं, ऐतिहासिक खोज के नियमों को स्थापित करने के लिये आवश्यक होती हैं। इस रीत्यनुसार पुरातन घटनाओं के हमारे ज्ञान की सत्यशीलता दो बातों पर निर्भर है; पहले तो तत्कालीन घटना या घटनाओं से सम्बन्ध रखने वाले लेखों की, जिन्हें कि हम प्राप्त करते हैं,यथार्थता पर,और दूसरे,लेखों के हमारे व्याख्यान की यथार्थता पर। पहली बात की चीर फाड़ हम छोड़ देंगे; क्योंकि अपनी साक्षी के सम्मान के लिये यह ऐसे नियमों की उत्तर दायिनी है जो कि हमारे विषय के परिमाण में नहीं आते। हमारा सीधा सम्बन्ध तो लेखों की व्याख्या के साथ है।

ऐतिहासिक या प्राक्कालीन शैली की अपूर्णता इस बात में है कि इससे पुराने लेखों की व्याख्या में हमें अशुद्धि का कम भय रहता है। इस का कारण इस

* यह वाक्य प्रकाशित पुस्तकों में कुछ अशुद्ध छपा चला आता है। हमने केवल दो शब्द बदल कर ऐसी सङ्गति लगाई है।

प्रकार समझाया जा सकता है। जीवित या इन्द्रिययुक्त-बुद्धि वाली दूसरी सब वस्तुओं के समान, भाषा निरन्तर विकारों के अधीन है। यह विकार कुछ तो स्वरसम्वाद-सम्बन्धी इन्द्रियों के विकास के नियमों के अधीन हैं, कुछ विदेशी भाषाओं के आगमन और सम्मिश्रण की बाह्य अवस्थाओं के, और कुछ मानव विचार ही के विकास के नियमों के अधीन हैं। इस, और दूसरे कई कारणों से, सारी जीवित भाषाएँ प्रतिदिन बदल रही हैं। यह परिवर्तन एकत्र होते रहते हैं और एक पर्य्याप्त काल के पीछे अतीव भिन्न, यद्यपि सजातीय, भाषाओं को उत्पन्न करते हुए प्रतीत होते हैं। अतएव, कोई वस्तु, चाहे विचार हो या दर्शन शास्त्र, जो भाषा-सम्बन्धी वस्त्र पहने हुए है, उसके सत्य व्याख्यान के लिये आवश्यक है कि वे नियम, जो भाषा-सम्बन्धी विकारों और शब्दों के अर्थों के विकारों को नियन्त्रित करते हैं, ध्यान पूर्वक पढ़े जायं। अन्यथा, हमारी व्याख्या भ्रम और काल-गणना-प्रमाददोष से दूषित होगी। आओ, एक वास्तविक दृष्टान्त को लें, अर्थात् रोमन प्रजातन्त्र राज्य का विषय सोचें। रोमन प्रजातन्त्र राज्य के काल में, जब मुद्रणालय अज्ञात था, समाचार पत्र अश्रुत थे, लोकोमोटिव एञ्जन्स का स्वप्न न था, और दूसरे प्रकार, जो मानव विचार या तर्क के अविनाशी संस्कार के संचार को उत्पन्न या सरल करते हैं विचारे न गये थे, और जब फोरम*मात्र सब श्रोताओं के आश्रय का स्थान था, और वाक्-शक्ति आधुनिक समय की अपेक्षा सर्वथैव भिन्नार्थ रखती थी, तब सेनेट अर्थात् अन्तरङ्ग सभा उस संस्था को न जताती थी जिसे कि यह अब जताती है। जैसी "जाति" उन दिनों में थी उसका प्रजातन्त्र या प्रजासत्तात्मक राज्य आज कल के कुछ २ अल्प-स्वामिक राज्य के समान होगा, यद्यपि कई आवश्यक अंशों में इस से भी बहुत भिन्न होगा। अब, एक पाठक, जो रोमन प्रजातन्त्र राज्य सम्बन्धी काल के साहित्य का पाठ कर रहा है, वह उस काल सम्बन्धी अपने ज्ञान को वास्तविक घटनाओं के विपरीत पायगा, यदि, अपने पाठों में अनिर्दिष्ट होने के कारण, प्रजासत्तात्मक, प्रजातन्त्र और दूसरे ऐसे शब्द उसके मन के सामने वह अर्थ ले आवें कि जिन्हें यह आज जताते हैं। ऐसा ज्ञान परस्पर असम्बद्ध होगा, दो युगों की खिचड़ी होगी; और फिर ऐसा होगा कि जो सूक्ष्म परीक्षा पर प्रलापमात्र कहा जायगा॥

तीसरे, समकालीन शैली है। इतिहास के क्षेत्र में इस रीति के प्रयोग, निस्सन्देह, विविध और अत्यावश्यक हैं। परन्तु तिथियों के निर्णीत करने

* फोरम, पुराने रोम में एक स्थान था कि जहां मुकदमे सुने जाते थे और वक्तृताए की जाती थीं।

और पुराणों, दर्शनों, उपनिषदों, मनु, रामायण, और महाभारत इत्यादि के समयों का अनुक्रम निरूपण करने में भी इसके प्रयोग कुछ कम आवश्यक नहीं । अनेक अध्यापकों ने इन ग्रन्थों की तिथियां निर्णीत करने का, उन में किन्हीं सुनिर्णीत स्थिर ऐतिहासिक बातों को, प्रायः वृथा ढूंढ़ते हुए, व्यर्थ श्रम किया है । परन्तु इन तिथियों के निर्णीत करने में संस्कृत साहित्य के ऐतिहासिक विकास का ज्ञान, कहीं बढ़कर आवश्यक है । पुराणों की संस्कृत महाभारत और दर्शनों की संस्कृत से इतनी भिन्न है, और फिर दर्शनों की संस्कृत उपनिषदों की संस्कृत से इतनी भिन्न है, कि इन सब में एक स्पष्ट सीमापरिच्छेद रेखा आसानी से खैंची जा सकती है । एक, दूसरे से, मिलाया नहीं जा सकता ।

यह अत्याश्चर्य्य और विस्मय की बात है कि वेदों के विषय में यह शैली जिस के कि गुण इतने प्रत्यक्ष और स्पष्ट हैं, और जो इतिहास के क्षेत्र में इतनी सुप्रमाणित है, प्रयुक्त न की गई हो, या, ऐसी शिथिलता और असावधानता से प्रयुक्त की गई हो कि जिससे संस्कृत के कई अति सुप्रसिद्ध अध्यापकों के वेदों के आधुनिक व्याख्यान समझ से अत्यन्त परे और अनर्थक बन गये ।

वेदों के विषय में संस्कृत के समस्त विज्ञ अध्यापकों ने, जिन के कि वेदों के भाषान्तर इतने प्रसिद्ध हैं, अपना जीवन, महीधर, रावण और सायण के भाष्यों से लिया है जो लेखक कि निश्चय ही वेदों के काल से बहुत पीछे के हैं, और हमारे अपने ही काल से आ मिलते हैं । यह लेखक स्वयं वैदिक संज्ञा-विज्ञान से इतने अपरिचित थे जितने कि हम हैं । उनके वैदिक संज्ञाओं के व्याख्यान, उनके अपने समयों में प्रचलित अर्थों के अनुसार, उतने ही अशुद्ध थे, जितने कि हमारे अध्ययन में आने वाले, पुराने रोम सम्बन्धी प्रजासत्तात्मक आदि शब्दों के होंगे । महीधर और सायण हमारी अपेक्षा कुछ अधिक सुस्थित न थे । यह अद्भुत प्रतीत होता है कि सायण और रावणकृत वेद व्याख्यानों के स्वीकार करने में, हमारे आधुनिक संस्कृताध्यापक, यह अमूल्य सिद्धान्त भूल गये कि वेदों के व्याख्यान के लिये हम जितना वेद सम्बन्धी–काल के साहित्य के समीप पहुंचेंगे उतना ही हमारे व्याख्यान के सम्भवतर और शुद्धतर होने की अधिक सम्भावनाएँ होंगी । इन अध्यापकों ने वेदों की जो तिथि निश्चित की है, उसके अनुसार, उनका वेदों का व्याख्यान एक ऐसे काल के साहित्य पर स्थित होगा, कि जो वेदों के काल और भाव से इतना विरुद्ध है कि भ्रम और भ्रान्ति के सिवा और कुछ उत्पन्न नहीं कर सकता ।

किसी निष्पक्ष पाठक की दृष्टि में, जिसने कि इस प्रसंग पर गोल्डस्टकर की गवेषणाओं का अध्ययन किया है, तिथियों का सारा भवन भस्मीभूत हो

जाता है, और आधुनिक स्वीकृत काल-निर्णय-विद्या की सारी शैली अनायास उलटी जाती है। इस विषय पर सर्वोत्तम (और वे हैं, वस्तुतः, निकृष्टतम) प्रामाणिक पुरुषों के अनुसार ईसा से पांच छः सहस्र वर्ष पूर्व के कोई ग्रन्थ थे, यह प्रतीत नहीं होता। सारा संसार ८,००० वर्षों के अन्दर लपेटा जाता है। मनुष्य के मानसिक व्यवसाय का सारा क्षेत्र ईसा से ६,००० वर्ष पूर्व में एकत्र किया हुआ प्रतीत होता है।

इन विचारों की उपेक्षा करते हुए, आओ, हम सीधा वेदों के विषय को लें। शतपथ और निरुक्त, निस्सन्देह, सायण, रावण और महीधर के भाष्यों से बहुत पूर्व काल के ग्रन्थ हैं। हमें तो, पुराणों के, रावण के, और महीधर के काल की अपेक्षा, वेदों के व्याख्यान के लिए, उनका और उपनिषदों का आश्रय लेना चाहिए।

उपनिषदें अद्वैत (एकेश्वरवाद) की शिक्षा देती हैं। उपनिषदों और शतपथ में, कहां, इन्द्र, मित्र और वरुण देवताओं को जानते हैं और देव को नहीं? निरुक्त भी वेदों के संज्ञा-विज्ञान सम्बन्धी स्पष्ट नियम स्थिर करता है कि जिनकी आधुनिक अध्यापकों ने सर्वथा उपेक्षा की है।

निरुक्तकार अपने ग्रन्थ के आरम्भ में ही बलपूर्वक शिक्षा करता है कि जो संज्ञाएं वेदों में प्रयुक्त हैं वे रूढ़ि (सांकेतिक, मनघड़त, और संहत अर्थ वाली संज्ञाओं के) मुकाबिले में यौगिक (धातुनिष्पन्न अर्थ वाली) हैं। हम किसी आने वाले अवसर पर निरुक्त से सम्पूर्ण वाक्य उद्धृत करेंगे और इस सिद्धांत की अधिक अच्छी व्याख्या करेंगे। यहां तो, हमने केवल वही कहा है जो निरुक्त की प्रधान प्रतिज्ञा है। इस प्रतिज्ञा का समर्थन महाभाष्य और संग्रह सहित इस विषय के दूसरे प्राचीनतर ग्रन्थ करते हैं।

वेदों के संज्ञा-विज्ञान के प्रश्न के विचारने में जिस मुख्य विधि का हमने अनुसरण किया है, यदि वह ठीक है, तो जिस परिणाम पर हम पहुंचे हैं वह निम्नलिखित जिज्ञासा पर पहुंचाता है—

इस विषय पर पुरातन वैदिक विद्वानों की क्या सम्मति है? क्या निरुक्त, निघण्टु, महाभाष्य और संग्रह के लेखक, और दूसरे पुराने भाष्यकार, आधुनिक भाष्यकारों अर्थात् रावण, सायण, महीधर और दूसरों से जिन्होंने कि गत कुछ दिनों से उसी विधि का अनुसरण किया: एकता रखते हैं, या, वे आधुनिक लेखकों से मतभेद रखते हैं? और यदि उनमें भेद है तो जैसा पूर्वोक्त वचनों ने स्पष्ट कर दिया होगा, विश्वास अवश्य ही पुराने भाष्यकारों पर करना चाहिए। अस्तु, आओ, इस विषय पर पुराने ग्रन्थकारों के विचारों की परीक्षा करें।

स्थूल रूप से कहें, तो संस्कृत भाषा में तीन श्रेणियों के शब्द हैं अर्थात् यौगिक रूढ़ि और योगरूढ़ि शब्द। यौगिक शब्द वह है जो धातुनिष्पन्न अर्थ रखता है अर्थात् जो केवल अपने धात्वर्थ और अनुबन्धों के प्रभाव से हुए २ विकारों के साथ अपने अर्थ को जनाता है। वस्तुतः रचना सम्बन्धी अंग, जिन में से कि शब्द संयुक्त किया जाता है, शब्द के सत्यार्थ के लिए सारा और केवल पता दे देते हैं। जब इन का ज्ञान हो जाता है तो शब्द के अर्थ को पूर्ण करने के लिए और कोई अंग आवश्यक नहीं होता। यदि आधुनिक तर्कशास्त्र की भाषा में कहें तो शब्द सारा अर्थगर्भ है और अपने गर्भितार्थ के प्रभाव से ही अपना निर्देश निश्चित करता है। रूढ़ि शब्द किसी नियत संहत पदार्थ का नाम होता है, अथवा वह किसी नियत संहत सांकेतिक अर्थ को, अपने किन्ही गर्भितार्थों के प्रभाव से नहीं प्रत्युत मनघड़त नियममात्र के प्रभाव से जनाता है। एक यौगिक शब्द की अवस्था में हम किसी पदार्थ के नाम पर सामान्यवाद की विधि से पहुंचते हैं। हम देखते, चखते, छूते, सूंघते और पदार्थ पर उन विविध साधनों से काम करते हैं जिन्हें कि मनुष्य प्रत्यक्ष पदार्थों के गुणों के जानने के लिये रखता है। हम इन प्राप्त इन्द्रियगोचर संस्कारों की अपने मनों में पूर्व-संरक्षित और हमारे भूत-ज्ञान के बनाने वाले इन्द्रियगोचर संस्कारों से तुलना करते हैं। हम दोनों में समानताओं को ढूंढ़ते हैं और इस प्रकार एक सामान्य या एक व्यापक विचार प्राप्त करते हैं। इस व्यापक विचार को हम एक धातु, एक आदिम विचार या विचारों पर सांयोगिक विधि द्वारा पहुंच कर एक संगत नाम देते हैं। अतएव अन्त को इस प्रकार बना हुआ शब्द मनुष्य के मानसिक व्यवसाय के सारे इतिहास को अपने अन्दर रखता है। एक रूढ़ि शब्द की अवस्था में विधि बहुत भिन्न है। हम सामान्यता नहीं लाते। और न ही इसलिए किसी संयोग की आवश्यकता है। हम केवल स्थूलतया एक पदार्थ या पदार्थों की श्रेणी को दूसरे पदार्थों से पहचानते हैं और इस पर एक स्वच्छन्द प्रकार से स्वरसंवादी मोहर लगा देते हैं। एक व्यक्ति, स्थूलतया दूसरों से पहचाना जाने के लिए, स्वच्छन्दता से राम कहा जाता है और दूसरा कृष्ण; ऐसे ही एक पदार्थ स्वच्छन्दता से खट्वा कहा जाता है और दूसरा माला इत्यादि। यहां, हम पदार्थ के सामान्य सम्बन्ध में आए विना, पहचान मात्र से उस पदार्थ का निर्देश करते हैं जिसे कि हम नाम दे रहे हैं।

शब्दों की तीसरी श्रेणि अर्थात् योगरूढ़ि वह है जिस में कि दो शब्दों का संयोग सम्बन्ध द्वारा एक समास बनाया जाता है। यह समस्त शब्द इन दोनों शब्दों के संयोग के प्रभाव से एक तीसरी वस्तु को जनाता है। ऐसे शब्द

दृश्य-चमत्कार के किसी सम्बन्ध या इतरेतरप्रभाव को दर्शाते हैं। उदाहरणार्थ कमल का सम्बन्ध धारणकर्त्ता कीचड़ से उत्पन्न होने का है: अतएव कमल को पंकज कहा जाता हैं, (पङ्क=कीचड़ और जन=उत्पन्न होना)।

अब महाभाष्यकार का मत है कि वैदिक संज्ञा-विज्ञान यौगिक ही है।

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्"।
"नैगम रूढिभवं हि सुसाधु।" महा०अ०३।पा०३।सू०१।

जिसका अर्थ है कि—

शब्दव्युत्पत्तिविद्या का कथन करते हुए, शब्द तीन प्रकार के हैं अर्थात् यौगिक, रूढि; और योगरूढि। परन्तु यास्क आदि निरुक्तकार और वैयाकरणों में शाकटायन, सब शब्दों को धातु से निष्पन्न अर्थात् यौगिक और योगरूढि ही मानते हैं, और पाणिनि आदि उन्हें रूढि भी मानते हैं। परन्तु सब ऋषि और मुनि, पुरातन ग्रन्थकार और भाष्यकार, निःशेष, वैदिक संज्ञाओं को यौगिक और योगरूढि ही मानते हैं; तथा लौकिक शब्दों में रूढि भी मानतेहैं*

उपर्युक्त, महाभाष्य का स्पष्ट और निश्चित वचन है कि वैदिक संज्ञाएं सब यौगिक हैं। निरुक्त, संग्रह और दूसरे पुराने ग्रन्थों से, अनेक और लम्बे उदाहरण देकर यह सिद्ध करना कठिन नहीं है, कि वह सारे वैदिक शब्दों के स्वरूप के बारे में सहमत हैं।

तब, इस विषय के विस्तार में न जाकर, यह माना जा सकता है कि पुरातन कालों के वैदिक ग्रन्थकार आधुनिक ग्रन्थकारों से सहमत नहीं हैं।

यह अद्भुत वार्ता प्रतीत होती है कि हमारे आधुनिक संस्कृताध्यापक, निपुण भाषातत्वज्ञ और माने हुए प्राचीनवस्तुशोधक इतने बल से "प्राक्कालीन शैली" का मूल्य प्रतिपादन करते हैं, और फिर इस भारी प्रश्न के प्रारम्भ में ही भारी भूलकर जाते हैं।

उपर्युक्त वचनों के उपरांत, हमारे आधुनिक हरिवर्षीय पण्डितों को वेदों में देवमाला सम्बन्धी उपन्यासों की तलाश में, अथवा "उस असभ्य गीतों की पुस्तक" में अशिष्ट पीतल काल या सुवर्ण काल की बातों की खोज में मग्न देखकर कुछ भी आश्चर्य नहीं होता।

---

* मूल ग्रन्थ में उपर्युक्त वाक्य ऋषि दयानन्द संपादित नामिक ग्रन्थ के एक वाक्य का अनुवाद मात्र है। अतः हमने कुछ परिवर्तन के साथ यह वाक्य नामिक से ही उद्धृत कर दिया है।

वैदिक संज्ञा-विज्ञान *

और

योरुपीय विद्वान् ।

वैदिक संज्ञा-विज्ञान का प्रश्न हमारे लिए बड़े ही महत्व का है, क्योंकि वैदिक तत्त्वज्ञान की श्रेष्ठता के विषय में पूर्व और पश्चिम के बीच जो घोर विवाद होने वाला है उस पर आने वाली पीढ़ियों का निर्णय इसी प्रश्न के निश्चय पर अवलम्बित है। अब भी इस प्रश्न का निर्णय बहुमूल्य परिणाम पैदा करता है। क्योंकि यदि वैदिक तत्त्वज्ञान सत्य हो तो वेदों की व्याख्याएँ जैसी कि अध्यापक मैक्समूलर और अन्य यूरोपियन विद्वानों द्वारा सम्प्रति की जाती हैं न केवल अधूरी, दोषयुक्त और अपूर्ण ही, प्रत्युत सर्वथा मिथ्या भी समझी जायँगी। यथार्थ तर्क और निर्दोष विद्वत्ता के प्रकाश में हम वैदिक भाषा और तत्त्वज्ञान के मूलतत्त्वों से ही उनकी निःशेष अनभिज्ञता मानने के लिये बाधित होते हैं। केवल हमारा ही यह विचार नहीं। शौपनहार कहता है "इस के साथ मैं वह संस्कार बताता हूँ जिसे यूरोपियन विद्वानों के समस्त संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद मेरे मन पर उत्पन्न करते हैं। मैं इस विशेष सन्देह को रोक नहीं सकता, कि हमारे संस्कृतज्ञ संस्कृत पाठों को उतना ही समझते हैं जितना कि स्कूल के विद्यार्थियों की उच्च श्रेणियाँ अपनी ग्रीक या लैटिन को समझती हैं। यहाँ अपने समय के संस्कृत के परम विद्वान् स्वामी दयानन्द सरस्वती की एतद् विषयक सम्मति पर ध्यान देना अच्छा होगा। वह कहता है " जो लोग कहते हैं कि जर्मनी देश में संस्कृतविद्या का बहुत प्रचार है और जितना संस्कृत मोक्षमूलर साहब पढ़े हैं उतना कोई नहीं पढ़ा यह बात कहने मात्र है क्योंकि "निरस्तपादपे देशे एरण्डोऽपि द्रुमायते" अर्थात् जिस देश में कोई वृक्ष नहीं होता उस देश में एरंड ही को बड़ा वृक्ष मान लेते हैं वैसे ही यूरोप देश में संस्कृतविद्या का प्रचार न होने से जर्मन् लोगों और मोक्षमूलरसाहब

---

* इस नाम का एक प्रबन्ध १८८८ ई० के आरंभ में लेखक ने प्रकाशित किया था। परन्तु वह संक्षिप्त और अपूर्ण ही था। अब यह उचित समझा गया है कि उन्हीं विचारों और नियमों को एक नया रूप दिया जाय जो आधुनिक पाठकजनों की आवश्यकताओं के अधिक उपयुक्त हो, तथा रोचक दृष्टान्तों द्वारा उन्हीं सत्यों का विस्तार किया जाय और उन के साथ और दृष्टान्त जोड़े जायँ जो विषय की विवेचना के पूर्त्यर्थ आवश्यक हैं॥

ने थोड़ा सा पढ़ा वही उस देश के लिए अधिक है······मैंने जर्मनी देश निवासी के एक "प्रिन्सिपल" के पत्र से जाना कि जर्मनी देश में संस्कृत चिट्ठी का अर्थ करने वाले भी बहुत कम हैं। और मोक्षमूलरसाहब के संस्कृत साहित्य और थोड़ी सी वेद की व्याख्या देख कर मुझको विदित होता है कि मोक्षमूलर साहब ने इधर उधर आर्य्यावर्त्तीय लोगों की की हुई टीका देखकर कुछ २ यथा तथा लिखा है।"*

यूरोपियन विद्वानों में वैदिक पाण्डित्य की यह न्यूनता, वैदिकभाषा और तत्त्वज्ञान से उनकी पूर्ण अनभिज्ञता ही हमारे देश में भी इतने कुसंस्कार और पक्षपात का कारण है। वस्तुतः हमें हमारे अपने ही भाई, जिन्होंने उच्चतम अँगरेज़ी शिक्षा पाई है पर जो सर्वथा संस्कृत-शून्य हैं, प्रायः बड़े अधिकार से कहते हैं कि वेद ऐसी पुस्तकें हैं, जो प्रतिमाओं और प्राकृतिक तत्त्वों के पूजन की शिक्षा देती हैं; जिनमें पाकशाला की साधारणतम स्वतः सिद्ध सचाइयों से बढ़कर और कोई बड़े महत्व की दार्शनिक, नैतिक, या वैज्ञानिक सचाई नहीं। अतएव इन हरिवर्णीय विद्वानों के व्याख्यानों के उचित मूल्य की जांच करना सीखना हमारे लिए एक अतीव प्रयोजनीय विषय है। अतः हम उन व्यापक नियमों का एक स्थूल दिग्दर्शन प्रस्तुत करना चाहते हैं जिसके अनुसार कि वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या होनी चाहिए, परन्तु जिन्हें यूरोपियन विद्वान् सर्वथा भुला देते हैं, और जिसके कारण बहुत सा मिथ्यार्थ उत्पन्न होगया है।

दार्शनिक विषयों के पर्यालोचन में पूर्वकल्पित विचार हमारे घोरतम शत्रु हैं। वे न केवल पक्षपात से मन को ही दूषित करते हैं प्रत्युत साथ ही आत्मा से उस सत्यवादिता और सरल शुचिता को भी छीन लेते हैं जिस के बिना सत्य का धार्मिक अन्वेषण और विवेक होना कठिन है। किसी प्रश्न यथा दर्शनशास्त्र या धर्म्म-पद्धति के मूल्य का निर्णय करने के लिए अत्यन्त मानसिक गंभीरता और समदर्शिता का प्रयोजन है। न ही यह मान लेना ठीक है कि केवल व्याकरण और भाषा का परिचय हो जाने से ही मनुष्य को किसी धार्मिक या दार्शनिक पद्धति पर एकदम अधिकार प्राप्त होसकता है। इस से पूर्व कि मनुष्य पुरुष और प्रकृति के गहन और अदृष्ट सत्यों को उपलब्ध कर सके यह आवश्यक है कि पर्याप्त पूर्वाभ्यास द्वारा मन एक उत्कृष्ट मानसिक अवस्था तक उच्च हो चुका हो। वैदिक तत्त्वज्ञान की भी यही अवस्था है। यथोचित वेदार्थ करने का अधिकारी होने के पहले मनुष्य का आचारशास्त्र

*सत्यार्थप्रकाश, तृतीयावृत्ति, पृष्ठ २७८।

छन्दःशास्त्र, भूगर्भविद्या, और ज्योतिष, * पर पूर्ण अधिकार होना चाहिए; उसे धर्म्मशास्त्र, तर्क और प्रमाण के सिद्धान्तों, तात्त्विकभावों की विद्या, योगशास्त्र, और वेदान्तशास्त्र † में निपुण होना चाहिए; उसे इन सबका और इनसे भी कहीं अधिक शास्त्रों का पण्डित होना चाहिए।

हमारे वैदिक विद्वान् भी ऐसे ही—भौतिक-विज्ञान और दर्शनशास्त्र के पारदर्शी पण्डित, पक्षपातशून्य और समदर्शी परीक्षक, और सत्यान्वेषी—होने चाहिएं। परन्तु यदि निष्पक्षता के स्थान में पक्षपात, विद्या और तत्वज्ञान के स्थान में कुविद्या और मिथ्याविश्वास और शुचिता के स्थान में प्रयोजन आजाय और जब सत्यान्वेषण का स्थान पूर्व-सङ्कल्प लेले तो सत्य का या तो रूपान्तर होजाता है या वह सर्वथा दब जाता है।

शौपनहार जिसने अपने हृत्पटल से समस्त पूर्व-संस्थापित यहूदी विश्वासों और उस सारे तत्वज्ञान को जो इन मिथ्याविश्वासों के सामने साष्टांग प्रणाम करता है सर्वथा धो डाला है, उपनिषदों और बाइबल के धर्म्म के विषय में कहता है:—

"आर्यावर्त्त में हमारा मत (बाइबल) अब या कभी भी जड़ नहीं पकड़ेगा; मानवजाति के आदिम ज्ञान को बाहर धकेल कर गैलिली की घटनाएँ कभी उसका स्थान न ले सकेंगी। इस के विपरीत आर्य्यावर्तीय ज्ञान का प्रवाह हरिवर्ष में पुनः बहेगा और हमारे ज्ञान तथा विचार में पूर्ण परिवर्तन उत्पन्न करेगा।"

आओ अब हम देखें कि अध्यापक मैक्समूलर इस निष्पक्ष और समदर्शी तत्त्ववेत्ता के वचनों के विरुद्ध क्या कहता है? वह कहता है:—"यहाँ फिर मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि महान् तत्त्ववेता का अल्पज्ञात के प्रति उत्साह उसे बहुत दूर बहा ले गया है। वह उपनिषद् के कृष्णपक्ष को नहीं देखता और बाईबल में विद्यमान सनातन सत्य की प्रदीप्त किरणों पर इच्छापूर्वक अपनी आँखें बन्द कर लेता है। इन किरणों को तो राममोहनराय भी उस ऐतिह्यरूपी मेघ और कुहरे के पीछे जो प्रत्येक मत के सूर्योदय के चारों ओर इतनी शीघ्रता से एकत्र हो जाता है, शीघ्र ही भांप सका था।"

मैक्समूलर की ईसाईयत को पाठकों के सम्मुख अधिक स्पष्टता से रखने के उद्देश से हम "प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" नामक पुस्तक का यह प्रमाण देते हैं:—

* ये सुप्रसिद्ध छः वेदांग हैं:—१ शिक्षा, २ व्याकरण, ३ निरुक्त, ४ कल्प, ५ छन्द और ६ ज्योतिष।

† ये सुप्रसिद्ध छः उपांग या दर्शन हैं—१ पूर्वमीमांसा, २ वैशेषिक, ३ न्याय, ४ सांख्य, ५ योग, और ६ वेदान्त।

"पर यदि संसार के राजनैतिक इतिहास में आर्य्यावर्त का कोई स्थान नहीं, फिर भी मनुष्य जाति के मानसिक इतिहास में इसे अपना स्थान पाने का निश्चय ही अधिकार है। आर्य्यावर्तीय जाति ने संसार के राजनैतिक युद्ध में जितना कम भाग लिया है, और साम्राज्य निर्माण तथा संग्राम के आश्चर्य्य कर्मों में अपनी शक्तियों को जितना न्यून व्यय किया है उतना ही अधिक इस ने अपने आपको उस महान् उद्देश्य की पूर्त्ति के योग्य बनाया है और उस के लिये अपनी सारी शक्तियों को एकाग्र किया है कि जो कि इसी के लिये पूर्व के इतिहास में रक्खा हुआ था। इतिहास यह शिक्षा दे रहा प्रतीत होता है कि ईसाई मत की सच्चाइयों को स्वीकार करने के पहले सारी मानव-जाति के लिए एक क्रमिक शिक्षा का प्रयोजन था। और उच्चतर सचाई के प्रकाश को तत्काल ही ग्रहण कर लेने के लिये पहले मानव-बुद्धि के सभी हेत्वाभासों का दूर हो जाना आवश्यक था। संसार के पुराने मत प्रकृति का दुग्ध मात्र थे, जिसके पीछे कि यथोचित समय पर जीवन की रोटी आनी थी। जब आदिम प्रकृति पूजा जो आर्य्य कुटुम्ब के सब-सभासदों में सामान्य थी, छली पुरोहितवर्ग के हाथों एक खाली मूर्त्तिपूजा बन गई, तो समस्त आर्य्य जातियों में से केवल भारतीयों ही ने धर्म्म का एक नवीनरूप उत्पन्न किया, जिसे कि प्रकृति की अधिक विषयाश्रित पूजा के मुकाबले में ठीक तौर पर ही आध्यात्मिक पूजा कहा गया है। वह धर्म अर्थात् बौद्धमत आर्य्य जगत् की सीमाओं से कहीं परे तक फैल चुका है और हमारी परिमित दृष्टि को कदाचित् ऐसा प्रतीत होता हो, कि इस ने मानव-जाति के एक बड़े भाग में ईसाईयत के आगमन को रोक दिया है। परन्तु हो सकता है कि उस भगवान् की दृष्टि में जिसके लिए सहस्र वर्ष एक दिन के तुल्य हैं, उस मत ने भी, संसार के सारे पुरातन मतों के सदृश, अपनी भूलों ही के द्वारा, प्रभु की सचाइयों के लिए मानव-हृदय की प्रबल लालसा को सुदृढ़ और परिपक्व करने के लिए, खीष्ट का मार्ग तैयार करने में ही सहायता दी हो।" *

क्या यह ईसाई पक्षपात नहीं है? यह केवल मैक्समूलर में ही नहीं पाया जाता। मोनियर विलयम्स पर यह बात और भी प्रबलरूप से चरितार्थ होती है। उसने अपनी इण्डियन विसडम नामक पुस्तक लिखी ही इस उद्देश से है कि वैदिक धर्म्म का, जिसे वह "ब्राह्मण धर्म्म" कहता है, विकृत स्वांग रचकर उसकी हँसी उड़ाई जाये, और गम्भीर मिलानों की श्लाघ्य रीति से ईसाई मत को ऊँचा उठाया जाय। मोनियर विलयम्स लिखता

* मैक्समूलर विरचित पुरातन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृष्ठ ३१-३२।

है " तब आगामी पृष्ठों का एक प्रयोजन ईसाईयत और संसार के तीन प्रधान झूठे धर्मों का, जैसा कि वे आर्य्यावर्त्त में प्रदर्शित होते हैं, मुकाबला करना है।"†

"मानव-जाति के सगे पिता परमेश्वर ने सर्वभूतों के कल्याणार्थ अलौकिक रीति से दिये हुए" ईसाई मत और उसके अधिकारों का वर्णन करते हुए वह कहता है :—

"ईसाई मत की प्रतिज्ञा है कि वह अपने उद्देश को सम्पूर्ण मनुष्य के सम्पूर्ण परिवर्तन, और उसकी प्रकृति के सर्वाङ्गीन उद्धार के द्वारा ही पूरा करता है। जिस उपाय से यह उद्धार किया जाता है उसे परस्पर स्थानान्तर या एक के स्थान में दूसरे के स्थापन की एक ऐसी रीति कह सकते हैं, जिससे एक दूसरे पर क्रिया करने से परमेश्वर और मनुष्य की प्रकृति के बीच परस्पर परिवर्तन और सहकारिता उत्पन्न हो जाती है। बाइबल कहती है कि मनुष्य परमात्मा की प्रतिमूर्त्ति बनाया गया था, परन्तु प्रथम प्रतिनिधि-स्वरूप मनुष्य और मानव-जाति के जन्मदाता के पतन से उत्पन्न हुए एक दोष के कारण उसका स्वभाव मलिन हो गया। यह दोष एक प्रतिनिधि-स्वरूप मृत्यु द्वारा ही दूर हो सकता था।"

"अतः द्वितीय प्रतिनिधि मनुष्य अर्थात् ईसा जिसका स्वभाव दिव्य और निर्दोष था, स्वेच्छा से अपराधी की भाँति मरा, ताकि पुरातन मलिन स्वभाव का दोष भी जो उस में आ गया था, मर जाय। केवल इतना ही नहीं। हमारे धर्म की महान् मध्यवर्ती सचाई का आधार इतना ईसा की मृत्यु नहीं जितना कि उसका शाश्वत जीवन (Rom viii ३४) है। प्रथम बात यह है कि वह अपनी स्वतन्त्र इच्छा से मरा, परन्तु दूसरी और अधिक आवश्यक बात यह है कि वह पुनः जी उठा और सदा जीता रहेगा, ताकि वह मृत्यु के स्थान में जीवन और उस दोष के स्थान में जिसे कि उस ने दूर किया है, अपने दिव्य स्वभाव में सहभोग प्रदान करे।"

"तब यही परस्पर परिवर्तन ईसाईयत को अन्य संगस्त मतों से अलग करता है। यह दूषित माता पिता की सन्तान शारीरिक मनुष्य, और शारीरिक ईश्वर-कृत-मनुष्य और हमारे दूसरे पिता बनने वाले के बीच का परिवर्तन है। हमें एक गली सड़ी जड़ से अलग करके एक जीवित पौधे पर पैवन्द किया गया है। हम पहले आदम से परम्परा में आई हुई दूषित इच्छा, भ्रष्ट विवेक और विकृत विचार को छोड़ कर द्वितीय आदम की अमर दिव्य शाखा से, जिसके साथ कि हम श्रद्धा की सरल क्रिया से जुड़े हुए हैं, सुखकर शक्ति—अर्थात्

† मोनियर विलयम्स की इण्डियन विसडम पृ० उपोद्घात ३६।

तरोताज़ा इच्छाएँ, बुद्धिमत्ता, साधुता, और ज्ञान के नवीन स्रोत प्राप्त करते हैं। इस रीति से ईसाईयत का महान् उद्देश पूरा होता है। दूसरे मतों के भी सदाचार सम्बन्धी अपने निर्देश और सिद्धान्त हैं। इन को यदि उस अधिकांश से जो कि बुरा और निःसार है सावधानता के साथ पृथक् कर लिया जाय तो सम्भवतः ये ईसाई मत का मुकाबला कर सकते हैं। परन्तु इन सब के अतिरिक्त ईसाईयत के पास एक ऐसी वस्तु है, जो अन्य मतों के पास बिलकुल नहीं—अर्थात् उसके पास एक व्यक्तिगत परमेश्वर, जो उस प्रसाद या पुनरुद्धारक भाव का दान देने के लिए सदा जीवित है जिसके द्वारा मानव प्रकृति का पुनर्जन्म होता है और वह दुबारा ईश्वर-सदृश बनाई जाती है, और जिस के द्वारा मनुष्य, एक बार फिर "शुद्ध-हृदय" होकर अपनी इच्छा, आत्म-प्रतीति, और व्यक्तित्व को साथ रखता हुआ भी परम पिता परमात्मा के समीप जाने और सदा उसके साथ निवास करने के योग्य बन जाता है।"*

पुनः "ब्राह्मण धर्म्म" का वर्णन करते हुए वह कहता है:—

"ब्राह्मण धर्म्म" के साथ न्याय करते हुए हमें यह स्वीकार करना पड़ता है कि इसकी अधिक पूर्णतया विकसित पद्धति के अनुसार ईश्वर का मिलाप साक्षात् शारीरिक परमेश्वर में श्रद्धा से, और साथ ही कर्म्म और ज्ञान से प्राप्त होता है। और यहाँ ब्राह्मण धर्म्म के विचार की कुछेक रेखाएँ ईसाईयत की रेखाओं को काटती हुई प्रतीत होती हैं। परन्तु विविध हिन्दू देवताओं का स्पष्ट व्यक्तित्व अधिक सूक्ष्म परीक्षा पर पिघलकर एक अस्पष्ट आध्यात्मिक तत्त्व बन जाता है। यह सत्य है कि परमात्मा मनुष्य बनता है, और मनुष्यों के हितार्थ मध्यस्थ का काम करता, जिस से मानव और दिव्य का संयोगाभास—और स्रष्टा तथा उसके स्पष्ट भूतों के बीच क्रिया प्रत्युत प्रेममयी सहानुभूति की साक्षात् अदला बदली पैदा होती है। परन्तु जब परमात्मा की सारी अभिव्यक्तियाँ—क्या देवता और क्या मनुष्य—अन्ततः अनन्त के एकत्व में लीन हो जाती हैं और परमेश्वर से स्थायीरूप से अलग कोई वस्तु पृथक् नहीं रह जाती तो क्या मानव और दिव्य व्यक्तियों में कोई वास्तविक प्रतिक्रिया या सहकारिता हो सकती है? यह अवश्य स्वीकार करना पड़ेगा कि कृष्ण (विष्णु) के सम्बन्ध में जो भगवान् का एक कल्पित रूप है अत्यन्त अपूर्व भाषा प्रयुक्त की गई है, अर्थात् उसे सारे जीवन और शक्ति का स्रोत कहा गया है (देखो पृष्ठ-१४४-१४८ और पृष्ठ ४५६, ४५७ भी देखो)। परन्तु यदि इसे एक परमेश्वर से अभिन्न माना जाय तो यह, हिन्दू सिद्धान्त के अनुसार, केवल इन्हीं अर्थों में जीवन का स्रोत हो सकता है कि यह जीवन को बाहर निकालता है और फिर उसे अपने ही भीतर सोख लेता है।

* मोनियर विलियम्स का भारतीय ज्ञान, इतिहास पृ० ४०—४१

यदि, इस के विपरीत, इसे परब्रह्म का केवल मानव-रूप में प्रादुर्भाव या अवतार समझा जाय तो ब्राह्मण धर्म्म के एक प्रधान सिद्धान्त के अनुसार, इस का जीवन की एक प्रणाली बनना तो दूर रहा, उसका अपना जीवन एक ऐसे उच्च स्रोत से निकलना चाहिये जिसमें कि यह अन्त को फिर लीन होजाय। फिर दिव्यता का अधिकारी वह तब ही हो सकता है जब इस में, परमात्मा से भिन्न, क्षुद्र जन्तुओं की अपेक्षा कम व्यक्तित्व हो।*

और अन्त को उपसंहार में वह कहता है:—" ऐसी अशान्ति जनक पद्धतियों से, चाहे उनमें यत्र तत्र उच्च और युक्तिपूर्ण विचार भी मिलते हैं, हरिवर्षीय जातियों के सजीव पुष्टिकारक ईसाई धर्म्म की ओर मुड़ना बड़ा ही सुखद प्रतीत होता है,—चाहे यह धर्म्म अपने वास्तविक आदर्श से कितना ही गिर गया हो, और चाहे यह अपने नाम-मात्र अनुयायियों के—जिनके पास इसका नाम और रूप ही है पर इसकी शक्ति नहीं,—दोषों और त्रुटियों से कितना ही अपमानित क्यों न होगया हो।"

" उपसंहार में मैं एक और बात बताता हूं जो स्वयं हमारे धर्म्म को सारी मानव-जाति की आवश्यकताओं के अनुकूल एक मात्र पद्धति——मोक्ष का एक मात्र संदेश प्रमाणित करती है जिसके विषय में परमेश्वर की इच्छा है कि उसे सभी बुद्धिमान् मनुष्य शनैः शनैः ग्रहण करलें।"†

तब यह स्पष्ट है कि प्रोफेसर मोनियर विलयम्स घोर ईसाई पक्षपात में फँसा हुआ है। वह किसी प्रकार भी वेदों का एक निष्पक्ष समदर्शी विद्यार्थी के समान नहीं समझा जा सकता। तब आश्चर्य ही क्या है यदि वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के नियमों की पूर्ण अनभिज्ञता और ईसाई मूढ़-विश्वास के पक्षपात के बल पर आधुनिक आभासभूत भाषाविज्ञान, वैदिक तत्वज्ञान के विरुद्ध सिर उठाए और अपने लिए यूरोपियन ईसाई जातियों में, अथवा भारत के कुछ बहके हुए शिक्षितों में, जो संस्कृतभाषा और संस्कृत साहित्य को बिलकुल न जानने का भारी गुण रखते हैं, श्रोतागण प्राप्त करे—

पर अब हम विषय की ओर आते हैं। वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के लिए पहला नियम जिसे निरुक्त के रचयिता यास्क ने स्थिर किया है यह है कि समस्त वैदिक संज्ञायें यौगिक ‡ हैं। निरुक्त के प्रथमाध्याय का चतुर्थ

---

* तदेव उपोद्घात पृ० ४४-४५। † तदेव उपोद्घात पृष्ठ ४९।

‡ यौगिक शब्द वह है जो धातुनिष्पन्न अर्थ रखता है अर्थात् जो केवल अपने धात्वर्थ और अनुबन्धों के प्रभाव से हुए २ विकारों के साथ अपने अर्थ को जनाता है। वस्तुतः रचना संबन्धी अंग, कि जिनमें से शब्द संयुक्त किया जाता है, शब्द के सत्यार्थ के लिए सारा और केवल पता देदेते हैं। शब्द शुद्धरूप से गर्भितार्थ है।

खण्ड इसी विषय के विवाद से प्रारम्भ होता है। यास्क, गार्ग्य, शाकटायन और दूसरे सारे वैयाकरण एक स्वर से स्वीकार करते हैं कि वैदिक संज्ञाएँ सब यौगिक हैं। परन्तु यास्क और शाकटायन यह भी प्रतिपादन करते हैं कि रूढि*संज्ञाएँ भी यौगिक हैं अर्थात् मूलतः धातुओं से रची गई थीं। पर गार्ग्य प्रतिपादन करता है कि केवल रूढि संज्ञाएँ यौगिक नहीं हैं। यह खण्ड गार्ग्य की सम्मतियों के खण्डन के साथ समाप्त होता है और इसे सत्य स्थिर किया गया है कि सारी सज्ञाएं—वैदिक हों या रूढि—यौगिक हैं। निरुक्त के इसी प्रमाण पर पतञ्जलि अपने महाभाष्य में यही सम्मति प्रकट करता है, और वैदिक संज्ञाओं को रूढि संज्ञाओं से नैगम नाम द्वारा पृथक् करता है। पतञ्जलि कहता है—

"नाम च धातुजमाह निरुक्ते व्याकरणे शकटस्य च तोकम्"

और इससे एक पंक्ति पूर्व—

"नैगम रूढिभवं हि सुसाधु"†

इस सारे का अभिप्राय यह है कि सब ऋषि और मुनि पुरातन ग्रन्थकार और भाष्यकार, विना किसी अपवाद के, वैदिक शब्दों को यौगिक मानते हैं, तथापि लौकिक शब्दों को कुछेक ने रूढि भी माना है।

इस नियम को द्विवर्षीय विद्वानों ने सर्वथा भुलाया है और इसी कारण उन्होंने अपने वेदों के व्याख्यानों को पुराणों की घड़न्त या मांगी हुई कथाओं से, और ऐतिहासिक या पूर्व-ऐतिहासिक व्यक्तियों के आख्यानों और उपाख्यानों से परिपूरित कर दिया है। इसलिए डाक्टर मूर ‡ के अनुसार निम्नलिखित ऐतिहासिक व्यक्तियों का ऋग्वेद में वर्णन है, कण्व ऋषि १, ४७,२ में; गोतम १,६१,१६ में और गृत्समद ऋषि २,३९,८ में; भृगव ऋषि ४,१६,२० में और बृहदुक्थ ऋषि १०, ४५, ६ में। परन्तु सत्य क्या है? कण्व और गृत्स शब्द केवल साधारण रूप में मेधावि पुरुष वाची हैं (देखो निघण्टु ३, १६); भृगवः शब्द केवल प्रज्ञावान् पुरुषों का वाची है देखो (निघण्टु ५, ५§); गोतम

* रूढि शब्द किसी नियत संहत पदार्थ का नाम होता है, वहां (रचना से निश्चित) शब्द का गर्भितार्थ शब्द से निर्दिष्ट पदार्थ के संबन्ध में कोई ज्ञान नहीं देता। अतः साधारणतया इसका अर्थ मनघड़न्त अर्थ वाला शब्द है।

† महाभाष्य, अध्याय ३,पा० ३, सू० १।

‡ मूर की "संस्कृत टैक्सट्स" भाग ३, पृ० २३२–२३४।

§ यहां पद का गत्यर्थक होने से ज्ञानार्थ प्राप्त है। अनुवादक।

शब्द स्तोता वाची है और बृहदुक्थ वह है जिसको उक्थ या वस्तुओं के नैसर्गिक गुणों का बृहत् या पूर्ण ज्ञान है। तब यह स्पष्ट है कि इस नियम को एक बार भी भुला देने से पाठक का ऐतिहासिक या पूर्व-ऐतिहासिक व्यक्तियों की कथाओं में जा पड़ना बहुत आसान है। यही मेक्समूलर के सम्बन्ध में कहा जा सकता है जिसने कि ऋग्वेद में शुनः शेप की आख्यायिका का आविष्कार किया है। शेप जिसका अर्थ स्पर्श है (निरुक्त ३, २ शेपः शपते स्पृशति कर्मणो) ज्ञानार्थ वाले शुनः या श्वन् शब्द से (श्वा श्वसतेः शवतेर्वा गतिकर्मणः स्यात्) अनुबंधित होने पर ऐसे पुरुष का अर्थ देता है कि जो ज्ञान के स्पर्श में आया है अर्थात् एक विद्वान् पुरुष। इस लेख में आगे चलकर यह ज्ञान होजायगा कि निरुक्त के केवल इसी नियम के उल्लंघन से किस प्रकार एक मन्त्र के पश्चात् दूसरे मन्त्र की अशुद्ध व्याख्या हुई है।

एक निष्पक्ष मनुष्य को इस नियम की सत्यता में कभी सन्देह न होगा। क्योंकि, निरुक्त के प्रमाण को छोड़ कर भी, वेदों का पुरातनत्व ही इस के शब्दों के यौगिक होने का स्पष्ट प्रमाण है। प्रोफेसर मेक्समूलर भी, अपनी मिथ्याकथा-विषयक वृत्तियों में, कम से कम वेदों के विशेष भागों के सम्बन्ध में, यह मानने के लिए बाधित हुआ है कि उन के शब्द यौगिक हैं। वह कहता है :—परन्तु इन प्राथमिक स्वरों में एक चारुता है जो किसी अन्य प्रकार की कविता में नहीं पाई जाती। प्रत्येक शब्द अपने मौलिक अर्थों का कुछ न कुछ अंश अपने में रखता है; प्रत्येक विशेषण प्रभाव डालता है; प्रत्येक विचार, अति विषम और गहन शब्दरचना के होते हुए भी यदि हम इसे एक बार सुलझा दें, सत्य, शुद्ध और पूर्ण है।" *

आगे चल कर मेक्समूलर फिर कहता है —" वेद में ऐसे नाम मिलते हैं मानों ये अभी तरलावस्था में हैं। वे कभी संज्ञा के रूप में प्रतीत नहीं होते और न ही व्यक्ति विशेषों के नामों के रूप में; वे सन्द्रियिक हैं जो कि अभी तोड़े या साफ नहीं किये गये।" †

क्या इस से कुछ अधिक स्पष्ट हो सकता है? वेदों में आने वाले शब्द यौगिक हैं क्योंकि " वे कभी न ही अभिधान रूप में और न ही व्यक्ति विशेषों के नाम के रूप में प्रकट नहीं होते और" क्योंकि "प्रत्येक शब्द अपने मौलिक अर्थों का कुछ न कुछ अंश अपने में रखता है।" यह जान कर आश्चर्य होता है कि

* मेक्समूलर कृत—" प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृ० ५५३।
† तदेव पृ० ७५५।

स्वयं वही मैक्समूलर जिस ने वेदों के कुछ मन्त्रों में शब्दों के यौगिक स्वरूप को माना है, वेदों के अन्य भागों में उसी विशेष को अस्वीकार कर देता है। यह कहने के पश्चात् कि वेदों के इन प्राथमिक स्वरों में शब्द यौगिक हैं वह आगे कहता है; "परन्तु वेद की सारी कविताओं की यह अवस्था नहीं है। जिसे मैं मन्त्रकाल अर्थात् मध्यम समय की कविता समझता हूं, उस के अनेक नमूनों का अनुवाद करना पहाड़ के समान भारी काम है। ये गीत प्रायः यज्ञकर्मों के लिए अभिप्रेत हैं, वे पारिभाषिक शब्दों से भरे पड़े हैं, उन के शब्द चित्र बहुत वार अधिक उज्ज्वल पर सदा कम स्पष्ट हैं, और कई विचार और उदाहरण स्पष्ट ही पूर्वतर सूक्तों से लिये गये हैं।"*

इसे वह मन्त्र-काल कहता है। प्राथमिक स्वरों का सम्बन्ध उस से है जिसे कि छन्द काल कहते हैं। मन्त्र काल से भिन्न उपर्युक्त छन्द-काल की विशेषताएँ वह इस प्रकार वर्णन करता है:—"उन की शिक्षा में कोई अधिक गम्भीर पाण्डित्य नहीं, उन के नियम सरल हैं, उन की कविता कल्पना की कोई बहुत ऊँची उड़ानों को नहीं दिखाती और उन का मत कतिपय शब्दों में कहा जा सकता है। परन्तु उन की भाषा, कविता और मत का जो कुछ भी है, वह ऐसी चारुता रखता है कि उस के समान भारतीय साहित्य का कोई भी अन्य काल नहीं रखता; यह स्वयं सिद्ध मौलिक और सत्य है।"†

प्रोफेसर मैक्समूलर छन्द-काल के उदाहरण के तौर पर ऋग्वेद ७, ७७ को उद्धृत करता है। वह कहता है :—"यह सूक्त जो उषा को सम्बोधित करता है, वेद की आदिम सरल कविता का निर्मल उदाहरण है। यह किसी यज्ञ विशेष को नहीं जानता, इसमें पारिभाषिक शब्द नहीं, और सूक्त शब्द का जो अर्थ हम समझते हैं उस अर्थ में यह सूक्त नहीं कहा जा सकता। यह एक गीत-मात्र है, जो विना किसी आयास के, विना किसी क्लिष्ट विचार या उज्ज्वल कल्पना के प्रपंच के, एक ऐसे मनुष्य के भावों को प्रकट करता है जिसने संमिश्रित हर्ष और भय के साथ उषा को आते देखा है, और जिसके मनमें अपने अनुभव को परिमित भाषा में वर्णन करने की प्रेरणा हुई है।"‡

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट होगया होगा कि प्रोफेसर मैक्समूलर वेदों के भिन्न २ भागों को भिन्न २ कालों के मानता है। कुछ और पूर्वतर भाग हैं (मैक्समूलर की अतीव शुद्ध गणनाओं के अनुसार, जिनकी सत्यता और

* मैक्समूलर कृत "प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास" पृ० ३३८।
† " " " " " " ५२६।
‡ प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५२।

अभ्रांति की गोल्डस्टकर विस्तृत साक्षी प्रस्तुत करता है) जिन्हें वह छन्द काल के कहता है । लौकिक संस्कृत में छन्द शब्द का अर्थ स्वेच्छा है । अतः वह छन्द-काल उसे समझता है जिस काल के सूक्त कि केवल साधारण बातों की शिक्षा देते हैं, वे कल्पना की उड़ान से मुक्त हैं और सरल (मूर्ख) मन के स्वच्छन्द उद्गार हैं । मन्त्र काल (२९, ०० वर्ष पुराना) पारिभाषिक शब्दों और बहुश्रमसाधित कृत्यों के निरुपणों से भरा हुआ है । अब हम पूछते हैं कि मैक्समूलर ने वेदों के भिन्न २ भागों को भिन्न २ कालों के सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण दिया है ? उसके प्रमाण केवल दो हैं । प्रथम, छन्दों और मन्त्रों के बीच भिन्नता का कुंचितित और अस्पष्ट भाव: और दूसरे दोनों भागों द्वारा प्रदर्शित विचार के भिन्न २ रूप ।

हम इन दोनों हेतुओं पर विस्तार से विचार करेंगे ।

यास्क कहता है—

मन्त्राः मननात् छन्दांसि छादनात् स्तोमः स्तवनात् ।
यजुर्यजतेः सामसंमितमृचा ॥ निरुक्त ७ । १२ ॥

जिसका अर्थ है कि मन्त्र और छन्द के अर्थ में कोई भेद नहीं । वेद, मन्त्र कहलाता है क्योंकि इसके द्वारा पुरुष सारे अस्तित्वों के यथार्थ ज्ञान को सीखता है । वेद, छन्द भी कहलाता है क्योंकि यह सारी अविद्या को निवारण करता है, और पुरुष को सत्यज्ञान और सुख की शरण में लाता है । अथवा इससे भी स्पष्ट शतपथ ८, २ में लिखा है ।

छन्दांसि वै देवा वयोनाधाश्छंदोभिर्हीदं सर्वं वयुनं नद्धं ॥

मंत्र (देव) छन्द कहलाते हैं क्योंकि समस्त मानव आचार का ज्ञान उनके साथ सम्बद्ध है । उन्हीं के द्वारा हम सारा सदाचार सीखते हैं । शब्दों का यौगिक अर्थ भी इसी परिणाम पर ले जायगा । मन्त्र मन "ज्ञाने" धातु से सिद्ध किया जा सकता है अथवा मन्त्रि " गुप्तपरिभाषणे " से । पाणिनि छन्द शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार करता है । चन्देरादेश्चछः ॥ * छन्द, चंदि " आल्हादनेदीप्तौ" से निकाला गया है । छन्द वह है जिसका ज्ञान कि सारे आल्हाद को उत्पन्न करता है या जो प्रत्येक वस्तु को प्रकाशित करता अर्थात् इसका सत्य स्वरूप प्रकट करता है ।

मैक्समूलर का वेदों के भिन्न २ भागों को भिन्न २ कालों का मानने का दूसरा हेतु यह है कि वेदों में विचार के दो भिन्न २ रूप पाये जाते हैं । एक

* उणादि कोश, ४, २१९ ।

तो विचार का सत्य सरल रूप है और उसके छन्द, काल से मिलता जुलता है। दूसरा विचार का बहुश्रम साधित और पारिभाषिक रूप है, जो उसके मन्त्र काल से मिलता जुलता है। परन्तु मैक्समूलर के पास यह दिखाने का क्या प्रमाण है कि उस के मन्त्र काल के सूक्त बहुश्रम साधित और पारिभाषिक विचारों से भरे हुए हैं? इसका स्पष्ट प्रमाण इस के सिवा और कुछ नहीं कि वह उनकी वैसी व्याख्या करता है। यदि उसकी व्याख्याएँ अशुद्ध सिद्ध कर दी जाएँ तो उसका दो कालों का भेद भी खड़ा न रह सकेगा। अब, वह मन्त्र काल के सूक्तों की क्यों ऐसी व्याख्या करता है? स्पष्ट ही, क्योंकि वह सायण और महीधर के प्रमाण से इन मन्त्रों के शब्दों को परिभाषाओं, यज्ञों और कृत्रिम पदार्थों और कृत्यों को जताने वाला समझता है अथवा दूसरे शब्दों में वह इन शब्दों को उन के यौगिक नहीं प्रत्युत रूढ़ि अर्थ में लेता है। तब यह स्पष्ट है, कि यदि मैक्समूलर ने निरुक्त में दी हुई, व्याख्या की व्यवस्था को कि सारे वैदिक शब्द यौगिक हैं दृष्टि में रक्खा होता तो वह वेदों के भिन्न २ भागों को भिन्न २ कालों के मानने के भ्रम-जनक काल-विरोध में न पड़ता।

परन्तु एक और पक्षपात है जिसे कि अनेक विद्वान् केवल इसी संस्कार के कारण पुष्ट करते हैं कि वह एक सुस्वीकृत वैज्ञानिक सिद्धान्त है। वह यह है कि सभ्यता की प्राथमिक अवस्थाओं में, जब कि प्राकृतिक नियमों का ज्ञान कम होता है और उनकी समझ बहुत ही कम होती है, जब मनुष्यों को संसार का पर्याप्त अनुभव नहीं होता, तो शुद्ध तर्क की सूक्ष्म रीतियों पर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। दूसरी ओर मनुष्य के मानसिक व्योपारों के संपादन में उपमा बड़े महत्व का काम करती है।

थोड़ासा भी सादृश्य अथवा सादृश्य का आभास ही उपमा के प्रयोग के प्रतिपादनार्थ पर्य्याप्त होता है। मानवीय अनुभव के असभ्य प्रारम्भों के ऐसे काल मे स्थूलतम प्राकृतिक शक्तियाँ मानव मन को, प्रधानतः गतियों द्वारा प्रभावित करती हैं। वायु चलती हुई, अग्नि जलती हुई, पत्थर या फल गिरता हुआ, इन्द्रियों को सारतः जंगमवत् प्रभावित करता है। अब, शारीरिक बल के चेतन व्यवसाय के सारे क्षेत्र मे, इच्छा क्रिया से पूर्व होती है, और क्योंकि जगत् में एक असभ्य का अतिविषमानुभव भी इस ज्ञान को ग्रहण करता है, अतः ऐसा तर्क करना बुद्धि मे अयुक्ति का काम लेना नहीं, कि यह प्राकृत शक्तियां, जिनसे इन्द्रियगोचर क्रियाएँ होती हैं इच्छा शक्ति सम्पन्न हैं। प्राकृतिक शक्तियों में जब इस प्रकार चेतनत्वारोप हो जाता है तो फिर उनको

देवता बनते कुछ देर नहीं लगती। वह प्रबल प्रताप, अप्रतिहत सामर्थ्य, और प्रायः महावेग, जिस से कि एक असभ्य को ये शक्तियाँ काम करती दिखाई देती हैं उसके अन्दर भय, त्रास और पूजा का भाव उत्पन्न कर देती हैं। अपनी निर्बलता, दीनता और हीनता का भाव उस असभ्य मनको शनैः शनैः आ घेरता है, और बुद्धिद्वारा आरोपित चेतनत्व अथ चित्तावेग से देवत्व को प्राप्त होजाता है। इस मतानुसार, वेद, जो निस्सन्देह आदिम काल की पुस्तकें हैं, ऐसे ही भाव-विशिष्ट पुरुषों की प्रार्थनाएँ हैं। यह प्रार्थनाएँ प्राकृत शक्तियों की हैं जिनमें कि आँधी और वर्षा भी सम्मिलित हैं। इन प्रार्थनाओं से असभ्य लोगों के बदला लेने तथा पूजा के मनोभावों का परिचय मिलता है।

अतः इन विद्वानों को यह मानना बहुत भाता है कि वेद जो निःसन्देह आदिम समयों की पुस्तकें हैं, पुरातन आर्यों का पौराणिक ज्ञान हैं।

और जब कि मैक्समूलर की स्वीकृतियों के अनुसार भी तत्त्वज्ञान की उच्चतर सचाईयाँ और एकेश्वरवाद वेदों में इधर उधर मिल जाते हैं, तो फिर वेदों के मुख्य भाग की मिथ्या-कथा-विषयक व्याख्या का उनके दार्शनिक भागों के साथ मेल करना कठिन हो जाता है। मैक्समूलर कहता है, "मैं केवल एक और सूक्त देता हूँ (ऋग्वेद १०, १२१), जिस में एकेश्वर-वाद इस बल और निश्चय के साथ प्रकट किया गया है कि हमें आर्य्य-जातियों में स्वाभाविक एकेश्वरवाद न मानने में पहले कुछ सङ्कोच होता है।" *
अतः कई लोग ऐसे युक्ति देते हैं कि मिथ्या-कथा-विषयक भाग दार्शनिक भागों के पहले के हैं: क्योंकि, जैसा अभी दर्शाया गया, प्राथमिक विश्वास सदा मिथ्या-कथा-विषयक होता है।

इस कल्पना का मूलभ्रम यह है कि यह एक अनिश्चित परिणाम को आवश्यक परिणाम मानता है, क्योंकि मिथ्या-कथा-ज्ञान चाहे असभ्य बुद्धि और आनुषंगिक तर्क का ही फल हो पर यह अवश्यमेव सदा ऐसा नहीं होता। यह तो पवित्रतर और सत्यतर धर्म के पतित, कुरूप और पाषाणभूत अवशेष के समान भी उत्पन्न हो सकता है। धार्मिक रीतियों का इतिहास जो पहले तो विशेष वास्तविक प्रयोजनों की पूर्ति के लिए बनाई गई थीं, और जो काल-क्रम से, उन प्रयोजनों के न रहने पर बिगड़ कर अनुष्ठान और व्यवहारमात्र रह गईं, उपर्युक्त वचनों की सत्यता का विपुल प्रमाण है। यदि हरिवर्षीय विद्वानों ने सायण और महीधर के देवमाला सम्बन्धी भाष्यों या वेदों के पीछे के प्रत्युत वेदविरुद्ध काल के पौराणिक साहित्य को कभी न देखा होता

* मैक्समूलर कृत—" प्राचीन संस्कृत साहित्य का इतिहास " पृ० ३६८।

तो उन के लिए केवल सापेक्ष मिथ्या-कथा-ज्ञान या संस्कृत-भाषा-विज्ञान के सहारे वेदों की ऐसी व्याख्यायें करना जैसी कि सम्प्रति उन में प्रचलित हैं, असम्भव होता। क्या यह नहीं है कि पुराणों के नवीन होने के कारण उन की सारी मिथ्या-कथा-ज्ञान सम्बन्धी कल्पना उस समय खड़ी की गई थी, जब कि सत्य वैदिक तत्त्वज्ञान की जीवनी शक्ति, अबोध पण्डितमानियों की दृष्टि में अपने शब्दों में से निकल चुकी थी। निस्सन्देह जब मनुष्य विचारता है कि उपनिषदें एक ऐसे उच्च दार्शनिक एकेश्वरवाद की शिक्षा देती हैं जिस का सादृश्य कि संसार में विद्यमान् नहीं—एक ऐसा एकेश्वरवाद जिस की कल्पना प्रकृति की एकरूपता में पूर्ण विश्वास होने के पश्चात् ही की जा सकती है—और कि वे सारी और दर्शन-शास्त्र, पुराणों से पूर्ववर्त्ती हैं; जब मनुष्य इन सब पर विचार करता है तो वह इस परिणाम पर पहुंचने से नहीं रुक सकता, कि कम से कम आर्य्यावर्त्त में तो देवमाला, वेदों के पुरातन दार्शनिक सजीव धर्म्म के सड़े गले अवशेष के रूप में उत्पन्न हुई थी। जब मनुष्यों की अज्ञानता से वैदिक शब्दों के यौगिक अर्थ भूल गये, और उन के स्थान में व्यक्ति विशेषों के नाम समझे जाने लगे, तो एक दूषित देवमाला उत्पन्न हुई जो आधुनिक मूर्त्तिपूजक आर्य्यावर्त्त के लिए शाप स्वरूप है। देवमाला, पुरातन शब्दों के प्राथमिक अर्थों के जीर्ण होजाने पर उत्पन्न हो सकती है, यह बात, जिस प्रक्रिया को मोक्षमूलर 'देशभाषा की वृद्धि और ह्रास' या 'धर्म्म का भाषा-सम्बन्धी जीवन' कहता है उस रीति के द्वारा सचाई के बिगड़ कर देवमाला बन जाने का कथन करते हुए, वह आप भी स्वीकार करता है। वह कहता है—

"यह सब कोई जानता है कि प्राचीन भाषाओं में पर्याय शब्दों की विशेष रूप से प्रचुरता है, या अधिक यथार्थ रीति से कहें तो उन में एक ही पदार्थ अनेक नामों से पुकारा जाता है—वह वस्तुतः, बहुनामवाची है। आधुनिक भाषाओं में बहुत से पदार्थ केवल एक ही नाम रखते हैं परन्तु पुरातन संस्कृत, पुरातन यूनानी और अरबी में हम एक ही पदार्थ के लिये शब्दों का एक बहुत बड़ा विकल्प पाते हैं। यह पूर्णतया नैसर्गिक है। जिस किसी को नाम देना होता था, उस का एक पक्ष ही प्रत्येक नाम प्रकाशित कर सकता था, और एक आंशिक नाम से संतुष्ट न होते हुए, भाषा के पहले निर्माता, एक के पश्चात् दूसरा नाम घड़ते गये और कुछ कालान्तर उन्हों ने वे नाम रख लिये जो विशेष कार्यों के लिये अत्यन्त उपयोगी प्रतीत होते थे। इस प्रकार, आकाश को हम केवल उज्ज्वल ही नहीं प्रत्युत नीला, आच्छादक गर्जक और वर्षादाता भी कह सकते हैं। यह

भाषा की बहुनामिकता है और इसे ही हम धर्म्म में बहुदेववाद कहने के अभ्यासी हैं *।

इन तथ्यों की उपस्थिति में भी यूरोपियन विद्वान् अपने पूर्व-कल्पित विचारों को छोड़ने में हिचकचाते हैं। इसी प्रभाव के उदाहरण स्वरूप,फ्रेड्रिक पिङ्काट मुझे इङ्गलेण्ड से लिखता हैं,

"तुम्हारा यह कथन सत्य है कि जिन भाष्यकारों की अब इतनी बड़ी प्रशंसा की जाती है उनके पास वैदिक संज्ञाओं को जानने के उपाय पहले तो थे ही नहीं, फिर यदि थे भी तो वे हमारे वर्तमान उपायों से किसी प्रकार भी अच्छे न थे। निश्चय ही तुम्हारा पुराणों को अत्यन्त नवीन रचनाएँ कहना सत्य है परन्तु ऐसे नूतन ग्रन्थों से भारत के मिथ्या-कथा-ज्ञान सम्बन्धी विचारों को निकालना तुम्हारी भूल है। स्वयं ऋग्वेद में ही, जो निस्सन्देह भारत के सब ग्रन्थों में प्राचीनतम हैं, मिथ्या-कथा-ज्ञान सम्बन्धी सामग्री का बाहुल्य है।"

क्या "निश्चय ही तुम्हारा कहना सत्य है" और "तुम्हारी भूल है" वेदों में मिथ्या-कथा की प्रचुरता का कोई प्रमाण है? परन्तु आगे चलकर यह कहता है, "उस बड़ी चोट के पश्चात् जो बौद्धधर्म्म के प्रचार ने भारतीय विश्वास के पुरातन रूप पर लगाई, ब्राह्मणों ने अपने विश्वास को दर्शनों में गम्भीर दार्शनिक बनाना आरम्भ किया। निस्सन्देह, उपनिषदों में प्रत्युत संहिताओं में भी बहुत स्पष्ट दार्शनिक विमर्श पाये जाते हैं, परन्तु धर्म्म को वास्तविक दार्शनिक आधार पर दर्शनों ही के समय में रक्खा गया था।"

ऊपर के उद्धरणों से बढ़कर दूसरी जाति के इतिहास के प्रति अनादर का भाव और कहीं देख नहीं पड़ता। मनुष्य उस रीति को देखकर वस्तुतः विस्मित रह जाता है जिस से कि इतरदेशीय विद्वान् भारतीय कालक्रम विवरण पर अविश्वास करते हैं और अपने कल्पित अनुमानों और वितर्कों को संसार के सामने सत्य घटनाओं के अखण्ड ऐतिहासिक कथन के रूप में पेश करते हैं। कौन ऐसा मनुष्य है जिस ने पक्षपात से रहित होकर दर्शनों का अध्यन किया हो और फिर जिस को यह ज्ञात न हो कि आर्य्यावर्त्त में बौद्धमत के पहले शब्द के बोले जाने के शताब्दियों पहले भी यहां दर्शन विद्यामान् थे? बौद्धमत अविद्या के अन्धकार में ऐसे समय उत्पन्न हुआ जब कि जैमिनि, व्यास और पतञ्जलि गुज़र गये थे, और जब गौतम,

* मैक्समूलर कृत "लेक्चर्स ऑन दी साइन्स ऑफ रिलीजन्" पृ० २७६–२७७।

कणाद और कपिल विस्मृति की तहों के नीचे दब चुके थे । महा शङ्कर भी जिस ने कि बौद्ध या जैन मत के विरुद्ध विक्रान्त युद्ध किया, अनुमानतः २,२०० वर्ष पूर्व हुआ था। अब इस शङ्कर ने व्यासस्त्रों का भाष्य किया है, और गौड़पाद और दूसरे आचार्य जिन्हों ने इन्हीं सूत्रों के भाष्य किये हैं उस के पूर्ववर्ती थे। व्यास के अनेक पीढ़ियां पश्चात् शङ्कर का जन्म हुआ था। फिर भारतीय इतिहास में महाभारत के समान और दूसरी घटना निश्चित नहीं । यह घटना लग भग ४,८०० वर्ष पूर्व हुई थी । अतएव दर्शन कम से कम ४,८०० वर्ष पूर्व विद्यमान् थे । इन तथ्यों को मानने के विरुद्ध यूरोपियन विद्वानों को एक प्रबल आपत्ति है, और वह आपत्ति बाईबल है। क्योंकि, यदि यह तिथियाँ सत्य हों तो बाईबल में जो उत्पत्ति का वर्णन है, उस का क्या बनेगा ? इस के अतिरिक्त यह भी प्रतीत होता है कि यूरोपियन विद्वान् यह अवधारण करने में सर्वतः अशक्त हैं कि अतीत काल में कोई पक्षपात रहित साहित्य हो सकता था । उन के लिये यह समझना आसान है कि राजनैतिक या धार्मिक उत्क्रान्तियाँ या विवाद आवश्यकता के कारण नये साहित्य को उत्पन्न कर देते हैं। इसी लिये मिस्टर पिङ्काट के यह समाधान हैं :—

"पुराने ब्राह्मण अन्धविश्वासी थे और वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने को मताभिमान के कारण मानते थे। जब बौद्धमत जङ्गल की अग्नि के समान फैला तो उन्हों ने स्वधर्म्म को बलवती युक्तियों द्वारा रक्षित रखना विचारा और इसी कारण दर्शन-साहित्य उत्पन्न किया।"

यह कल्पना विजातीय घटनाओं को इस मनोरम्यता के साथ मिलाती है कि इस के ऐतिहासिक दृष्टि से असत्य होते हुए भी यह अपनी पटु समाधान-शक्ति के लिये विश्वसनीय बन जाती है।

अब हम अपने विषय की ओर आते हैं। यास्क वैदिक संज्ञाओं की व्याख्या के लिये एक नियम स्थिर करता है । अर्थात् वैदिक संज्ञाएँ यौगिक हैं। महाभाष्य इसे ही दुहराता है। हम ने देखा है कि वेदों की व्याख्याओं में यूरोपियन विद्वानों ने इस नियम को कैसे भुला दिया है, जिस से उन के किये वेदों के अनुवादों में बड़ी अशुद्धियाँ हुई हैं । हम ने यह भी देखा है कि उसी भूल में पड़कर डाक्टर मूर ने कैसे सामान्य संज्ञाओं का भाष्य व्यक्तिविशेषों के नामों के समान किया है, और मैक्समूलर कैसे उसी भूल के कारण वेदों को दो भागों—छन्दों और मन्त्रों—में बाँटता है । हम ने यह भी देखा है कि किस प्रकार इसी नियम के अज्ञान से मन्त्र पर मन्त्र की व्याख्या देवमाला सम्बन्धी की गई है और कुछ थोड़े से मन्त्रों की ही दार्श-

निक व्याख्या हो सकी है; इस से तत्त्वज्ञान के साथ देवमाला के मेल का प्रश्न उत्पन्न होता है। इस प्रतिज्ञा की महत्ता को दर्शाने के लिये कि समस्त वैदिक संज्ञाएं यौगिक हैं, मैं यहाँ ऋग्वेद के ५०वें सूक्त के ४थे मन्त्र का सत्यार्थ; उस पर अपने भाष्य सहित देता हूँ और तुलना के लिये साथ ही उसी का मोनियर विलियम्स का अर्थ भी देता हूँ। सूर्य. यौगिक शब्द के तौर पर सूरज और परमेश्वर दोनों अर्थ रखता है। मोनियर विलियम्स इसे केवल सूरज का जताने वाला ही समझता है। दूसरी संज्ञाएँ व्याख्यान के अनुक्रम में स्पष्ट हो जायँगी। मन्त्र यह है :—

तरणिर्विश्वदर्शतो ज्योतिष्कृदसि सूर्य।
विश्वमा भासि रोचनम्॥ *

इसका विषय सौर और वैद्युत जगत् के समुज्ज्वल चमत्कार है। यहां इस मन्त्र में एक महान् प्रश्न प्रतिपादन किया गया है। कौन है जो वस्तुओं और दृश्यों की प्रचुरता से चकित नहीं होता? कौन है, जो हमारे अपने ही ग्रह पर रहने वाली अनन्त भिन्न२ वस्तुओं के ध्यान में विचार को ही नहीं खो बैठता? अभी तक तो वनस्पतियों के ही भेद नहीं गिने गये। खनिज मिश्रणों की विस्तृत संख्या के साथ २ पशु और वनस्पति जातियों की संख्या सत्य ही असंख्य कही जा सकती है। परन्तु हम अपने आपको केवल इस भूमि तक ही परिमित क्यों रक्खें? किसने आकाश के नक्षत्रों, अनन्त तारकाओं? आज तक बने हुए और भविष्य में बनने वाले असंख्य लोकों को किसने गिना है? किस मनुष्य की आंख आकाश की गहराई का माप और तोल कर सकती है? प्रकाश १,८०,००० मील प्रति सैकण्ड की गति से चलता है। ऐसे भी तारे हैं जिनसे कि प्रकाश की किरणें उत्पत्ति के दिन से, अर्थात् आज से करोड़ों वर्ष पहले से, चली हैं, और आकाश में से १,८०,००० मील प्रति सैकण्ड की अलौकिक गति से यात्रा करती हुई केवल हाल ही में हमारी पृथ्वी के अन्तरिक्ष में प्रविष्ट हुई हैं। जिस आकाश से हम सब ओर से घिरे हुए हैं उस की अपरिमित गम्भीरता का अनुमान तो करो। क्या हम भिन्नता और बहुरूपता से प्रत्येक दिशा में चकित नहीं होते? क्या भिन्नत्व सार्वजनिक सूत्र नहीं है? संसार की यह बहुविध और विभिन्न वस्तुएँ कहां से उत्पन्न हुई हैं? कैसे एक ही सार्वजनिक-पितृ-आत्मा ने जो सब में व्यापक और सब पर क्रिया करता है, संसार के भिन्न २ प्रकार के पदार्थों को उत्पन्न किया है? भिन्नता का कारण कहाँ है? भिन्नता भी ऐसी, अद्भुत और एकदम ऐसी सुन्दर! एक ही

* प्रथम मण्डल, अनुवादक।

परमेश्वर ब्रह्माण्ड पर क्रिया कर के कैसे एक पृथ्वी यहाँ और एक सूर्य वहाँ, एक ग्रह यहाँ और एक उपग्रह वहाँ, एक समुद्र यहां और एक शुष्क भूमि वहाँ, नहीं एक स्वामी यहाँ और एक भोंदू वहाँ उत्पन्न कर सका ? इस प्रश्न का उत्तर इस सौर रचना में ही अङ्कित है। वैज्ञानिक तत्ववेत्ता हमें निश्चय दिलाते हैं कि जैसे साधारण लोग समझते हैं वैसे रङ्ग द्रव्य का कोई स्वाभाविक गुण नहीं है। परन्तु यह द्रव्य की घटना है। एक लाल वस्तु इस लिए लाल प्रतीत नहीं होती कि वह सारतः वैसी है, प्रत्युत एक बाह्य कारण के द्वारा ऐसी ज्ञात होती है। लाल और नीललोहित अन्धकार में एक से काले ही प्रतीत होंगे। यह सूर्य की किरणों का चमत्कार ही है जो उन्हें यह विशेष सामर्थ्य, यह वर्ण संबंधिनी सुन्दरता, यह उचित रङ्गत प्रदान करता है। किसी एकान्त वन में, किसी निर्जन और अन्धकारमयी मरूस्थली में, एक श्रान्त पथिक, किसी विशाल वृक्ष की चित्तहारिणी छाया के नीचे जाकर आराम करने के लिये लेटा और वहाँ गाढ़ निद्रा में निमग्न हो गया। वह जागा और उसने अपने आप को चारों ओर अन्धकार और घोर तम से आवृत पाया। किसी दिशा में भी कोई पार्थिव पदार्थ दिखाई न देता था। ऊपर एक घना काला गगन, मेघों से ऐसा ढका हुआ जिस को देखकर यह विश्वास होता था कि यहाँ कभी सूर्य चमकता ही नहीं, दांई ओर अन्धकार, बांई ओर अन्धकार, सामने अन्धकार और पीछे अन्धकार। ऐसे ठोस अन्धकार के दारुण और भयानक भँवर में फंसा हुआ वह पथिक कष्ट पा रहा था। सहसा, सूर्य की तापवाहिनी किरणें, घने बादलों पर पड़ी और मानो एक ऐन्द्रजालिक स्पर्श से वह ठोस अन्धकार गलने लगा और धारासार वर्षा होने लगी। इस ने अन्तरिक्ष को उड़ते हुए धूली कणों से साफ कर दिया; और एक नेत्रोन्मीलन में ही अन्धकार की आर्द्रता-भरी चादर दूर हो गई और अपना सारा राज्य जागृत दृष्टि के लिये छोड़ गई। पथिक ने आनन्दप्रद विस्मय में अपनी दृष्टि एक ओर से दूसरी ओर फेरी और क्या देखा कि यहाँ एक गन्दी नाली बह रही है, वहां एक स्फटिकसा निर्मल सरोवर खड़ा है, एक ओर मखमली मैदान से भी अधिक सुन्दर हरी घास की गोचर भूमि और दूसरी ओर नाना प्रकार के सुगंधित पुष्पों का गुच्छा लहलहा रहा है। मोर की पूञ्छ वाले पक्षी, पतली पतली टाङ्गों वाले मृग और स्वर्गीय पङ्खों वाले चहचहाते हुए विहङ्ग सब के सब उसे दृष्टिगोचर हुए। क्या सूर्य उदित होने से पूर्व वहाँ कुछ न था ? क्या अति सुन्दर वनस्पति से समृद्ध और पक्षियों के गान से परिपूरित हरा भरा जङ्गल सारा क्षण भर में उत्पन्न हो गया ? स्फटिक तुल्य जल कहाँ पड़े थे ? नीला छत्र कहाँ था और सुगंधयुक्त पुष्प कहाँ थे ? क्या वे निमेषमात्र में किसी ऐन्द्र-

जालिक शक्तिद्वारा भूतप्रलय के तमोमय, अव्यक्त, दूरवर्त्ती प्रदेश से लाये गये थे ? नहीं ! वे क्षणमात्र में उत्पन्न नहीं हुए। वे पहले ही वहाँ थे। परन्तु सूर्य की किरणों ने अपना प्रकाश उन पर न डाला था। अतीव सुन्दर दृश्यों के दिखाई देने के लिए पहले तेजोमय सूर्य का चमकना आवश्यक था, आवश्यकता थी कि देदीप्यमान् मण्डल की तेज़ोमयी किरणें होतीं, इस से पूर्व कि आँखें सुगंधमयी हरियाली के सुन्दर, चित्ताकर्षक, सुस्वर, सुखद, और शान्तिदायक दृश्यो में घूम सकतीं। हाँ, निश्चय ही इस प्रकार यह अत्यन्त मनोहर जगत् रोचनं विश्वं, एक ऐसे सूर्य से प्रकाशित हो रहा है सूर्यआभासि, जो सूर्य कि कभी नहीं छिपता, जिस सूर्य ने हमारे ग्रहों और सौर मण्डल को प्रकट किया ज्योतिष्कृद्, जो सूर्य इस महती सृष्टि के विश्वदृश्य को विकसित करता है, विश्वदर्शत, जो सूर्य कि अनादि है और सनातन काल से ही सब की भलाई के लिए निरन्तर कार्य कर रहा है। वह अपने ज्ञान की किरणें सब ओर बखेरता है; अतीव प्यासे, संतप्त, गरम हवा से सूखे हुए प्रकृति के कण ईश्वरीय ज्ञान की सदा बहने वाली, सदा फूट कर निकलने वाली, सदा प्रकाशित करने वाली रश्मियों से अपने अद्भुत अस्तित्व और विश्वदिग्दर्शक प्रपंच के योग्य तत्वों और घटकों का पान कर तृप्त होते हैं। इस प्रकार यह जगत् कायम है। एक मध्यवर्ती सूर्य अनन्त रंग उत्पन्न कर रहा है। एक मध्यवर्ती देव, अनन्त लोक और पदार्थ उत्पन्न कर रहा है। इस के साथ मोनियर विलियम्स के अनुवाद की तुलना कीजिए:—

"हे सूर्य, तू ऐसे वेग से जोकि मनुष्य के ज्ञान से बाहर है, सब को दिखाई देता हुआ, सदा चलता रहता है। तू आलोक को उत्पन्न कर के उस के साथ विश्व ब्रह्माण्ड को आलोकित करता है।"*

हम ने दिखा दिया है कि क्यों हम छन्द और मन्त्र को पर्यायवाची समझते हैं। हम ने यह भी देखा है, कि कैसे मैक्समूलर छन्द और मन्त्र में भेद करता है। मन्त्र को वह, मध्यम-काल सम्बन्धी परिभाषाओं से भरा हुआ और छन्दों से कुछ कम स्पष्ट समझता है। वह इस का मुख्य स्वरूप यह बताता है कि "यह गीत प्रायः यज्ञकर्मों के लिए अभिप्रेत हैं।" मन्त्र काल के सम्बन्ध में वह कहता है "एक नमूना, अश्वबलिदान और मूढ़विश्वास-

---

* यहां तक लेख अगस्त मास के अंक में छपा है। और इस के आगे निम्न लिखित दो पंक्तियां हैं। "व्याख्यान की दूसरी विधियों के स्पष्टीकरण के साथ, हम इस नियम के और उदाहरणों को अपने अगले अंक में देने की आशा रखते हैं।

मूलक व्यवहार का सविस्तार वर्णन करने वाला एक सूक्त, ही पर्याप्त होगा ।
(ऋग्वेद १ । १६२)।"

अतएव हम ऋग्वेद के १६२ वे सूक्त को उद्धृत करेंगे, क्योंकि यह मैक्समूलर का नमूने का सूक्त है। उसी का इस पर अनुवाद देंगे और फिर दिखाएँगे कि कैसे वैदिक साहित्य के अधूरे ज्ञान के कारण और इस नियम को भूल जाने से कि वैदिक संज्ञाएँ सब यौगिक हैं, प्रोफेसर मैक्समूलर एक विशुद्ध वैज्ञानिक सूक्त का, जो किसी प्रकार भी वेदों के छन्दों से पृथक् नहीं, एक कृत्रिम, भारी और अत्यन्त मूढविश्वासमूलक विधि या क्रिया के नमूने के सूक्त के तौर पर अनुवाद करता है।

हमारे विचारानुसार मैक्समूलर की व्याख्या इतनी असंबद्ध, इतनी अस्पष्ट और इतनी बहिःस्थ है कि यदि व्याख्या को सम्भव भी मान लिया जाय, तो यह कभी भी किसी वास्तविक क्रिया का वर्णन नहीं समझी जा सकती। और अब सूक्त को लीजिए। प्रथम मन्त्र यह है:—

मा नो मित्रो वरुणो अर्यमायुरिन्द्र ऋभुक्षा मरुतः परिख्यन् ।
यद्वाजिनो देवजातस्य सप्तेः प्रवक्ष्यामो विदथे वीर्याणि ॥१॥

मैक्समूलर इसका अर्थ करता है " मित्र, वरुण, अर्यमन्, आयु, इन्द्र, ऋभुओं का स्वामी, और मरुत हमें बीलदान पर देवताओं से उत्पन्न वेगवान् घोड़े के गुण गाने के कारण न झिड़कें ॥

उपर्युक्त व्याख्या, वास्तविक या सत्य समझी जा सकती है यदि प्रोफेसर मैक्समूलर यह सिद्ध कर दें, कि वैदिक समयों के आर्य इस मूढ़-विश्वास का आदर करते थे कि कम से कम एक वेगवान् घोड़ा देवताओं से उत्पन्न हुआ था, और मित्र, वरुण, अर्यमन्, आयु, इन्द्र, ऋभुओं का स्वामी और मरुत देवता, यज्ञ पर वेगवान् घोड़े के गुण सुनना न चाहते थे, क्योंकि अन्यथा कवि को झिड़कने के लिए उन के पास कोई कारण न था। इन में से किसी भी पक्ष को प्रमाणित करना कदापि सम्भव नहीं। एक असभ्य की अत्यन्त विकृत कल्पना भी "देवताओं से उत्पन्न वेगवान् घोड़ा" ऐसे मूढ़-विश्वास से संकोच करती है। इस पक्ष को सत्य प्रमाणित करने के लिए नाममात्र पुराणों के अश्वमेध का निर्देश करना भी निरर्थक है। सारी सचाई तो यह है कि इस अश्वमेध के मिथ्या-कथा-ज्ञान की उत्पत्ति वैसे ही हुई है जैसे कि मैक्समूलर के अनुवाद की हुई है। यह वेदों के भाषा सम्बन्धी नियमों

के अज्ञान से पैदा हुआ है, जिस से कि यौगिक अर्थ रखने वाले शब्द नाम विशेष समझे जाते हैं और एक कल्पित मिथ्या-कथा-जाल चलाया जाता है।

उदाहरणार्थ पूर्व उद्धृत मन्त्र को लीजिए। स्पष्टतया मैक्समूलर पर यह संस्कार है कि मित्र 'दिन का देवता' है, वरुण है 'आच्छादक आकाश का देवता' है, अर्यमन् मृत्यु का देवता है वायु या आयु 'पवन का देवता' है, इन्द्र 'जलमय वायुमण्डल का देवता' ऋभु 'स्वर्गीय चित्रकार' हैं, और मरुत 'तूफानों का देवता' हैं। परन्तु ये देवता क्यों हुए? क्योंकि उस ने इन शब्दों के यौगिक अर्थों पर ध्यान नहीं दिया और इन्हें नामविशेष समझता है। मित्र का शाब्दिक अर्थ सुहृद: वरुण का श्रेष्ठ गुणों वाला पुरुष: अर्यमा का न्यायाधीश या न्याय प्रवर्तक: आयु का विद्वान् पुरुष; मरुत: का क्रियात्मक रूप से ऋतुओं के नियमों का पालन करने वाले हैं। मन्त्र में जो अश्व शब्द आया है वह 'घोड़ा' मात्र अर्थ नहीं रखता प्रत्युत इस के अर्थ तीन शक्तियों के भी हैं अर्थात् उष्णता, विद्युत और चुम्बकीय शक्ति। वस्तुत:, इस का अर्थ कोई ऐसा पदार्थ है जो दूरी में से शीघ्र लेजा सकता है। अत: स्वामी दयानन्द इस सूक्त के आरम्भ में लिखता है। (ऋग्वेद भाष्यम, दूसरा भाग, पृ० ५३३)।

अथाश्वस्य विद्युद्रूपेणव्याप्तस्याग्नेश्च विद्यामाह ॥

"यह सूक्त अश्वविद्या का व्याख्यान है जिस का अर्थ है घोड़ों को सिधाने की विद्या और विद्युत् रूप में सर्वत्र व्याप्त अग्नि की विद्या।" 'अश्व' का अर्थ अग्नि है, यह निम्नलिखित उद्धरणों से स्पष्ट हो जायगा।

अश्वं न त्वा वारवन्तम् विदध्या अग्निं नमोभिः ॥ ऋग्वेद

अश्वं अग्निं शब्द प्रगट करते हैं कि अश्व का अर्थ अग्नि है। और पुनः

वृषो अग्निः समिद्ध्यतेऽश्वो न देववाहनः।
तं हविष्मन्तईडते ॥ (ऋग्वेद ३। २७। १४)

जिस का अर्थ है अग्नि अर्थात् अश्व वाहक पशु के समान उस विद्वान् को ले जाता है जो इस प्रकार उस के दूर—वाही गुणों को पहचानता है। अथवा पुनः—

वृषो अग्निः। अश्वो ह वा एष भूत्वा देवेभ्यो यज्ञं वहति ॥
शतपथ ब्रा० १। ३। ३। २९-३०।

उपरोक्त उद्धरण ऊपर प्रदर्शित, अश्व के दोनों अर्थों को दिखाने के लिए पर्य्याप्त होंगे।

प्रोफेसर मैक्समूलर मन्त्र के " देवजातः " का अर्थ " देवताओं से उत्पन्न " करता है । यह भी पुनः अशुद्ध है, क्योंकि वह फिर देव को उस के प्रचलित लौकिक अर्थ में लेता है; परन्तु वस्तुतः देवजातः का अर्थ है देव शब्द के दोनों ही अर्थ हैं अर्थात् दिव्यगुण और विद्वान् पुरुष । पुनः मैक्समूलर " वीर्य्य " का " बलोत्पादक गुणों के स्थान " में केवल गुण अर्थ करता है । अतः मन्त्र का सत्यार्थ यह है:—

" हम दिव्य गुण-सम्पन्न तेजस्वी घोड़ों के बलोत्पादक गुणों का या अग्नि की प्रवल शक्तियों के गुणों का वर्णन करेंगे कि जिन्हें विद्वान् या वैज्ञानिक लोग उपयोग (बलिदान नहीं) के लिए आह्वान कर सकते हैं ।

सर्वोपकारी श्रेष्ठ पुरुषों, न्यायाधीशों, विद्वानों, शासकों, बुद्धिमानों व्यावहारिक शिल्पियों को इन गुणों की उपेक्षा न करनी चाहिए " ।

इसके साथ मैक्समूलर का अनुवाद मिलाओ ।

" मित्र, वरुण अर्यमन्, आयु, इन्द्र, ऋतुओं का स्वामी और मरुत हमें मत झिड़कें क्योंकि हम बलिदान पर देवताओं से उत्पन्न वेगवान घोड़े के गुण कहेंगे " ।

अब हम दूसरे मन्त्र को लेते हैं । । वह यह है:—

यन्निर्णिजारेक्णसा प्रावृतस्य रातिं गृभीतां मुखतो नयन्ति । सुप्राङजो मेम्यद्विश्वरूप इन्द्रापूष्णोः प्रियमप्येति पाथः ॥ २ ॥

मैक्समूलर इसका ऐसा अनुवाद करता है—

" जब वे शुद्ध सुवर्ण । भूषणों से अलंकृत घोड़ों के सामने से दृढ़ता से पकड़ी हुई बलि को लेजाते हैं, तो चिन्हित छाग आगे चलता हुआ ' मैं मैं ' करता है यह इन्द्र और पूष्ण के प्रियं पथ पर जाता है । "

यहां पुनः इस वाक्य का कोई अर्थ नहीं निकलता । छाग का ' मैं मैं ' करना नहीं बलि के घोड़े के सामने से लेजाये जाने से और नहीं इसके आगे की ओर चलने से कोई सम्बन्ध रखता है । वस्तुतः यह अत्यन्त स्पष्ट है कि मैक्समूलर के अनुवादानुसार प्रथम मन्त्र का इसके साथ कोई निश्चित विशिष्ट सम्बन्ध नहीं । हाँ ! किसी विचित्र अचिन्त्य मिथ्या-कथा-ज्ञान के ढूंढ़ने या घड़ने पर तुली हुई कल्पना द्वारा कोई खैंचातानी का सम्बन्ध भले ही थोपा

जाय । अब हम इस नियम के प्रयोग पर आते हैं कि सब वैदिक संज्ञायें यौगिक हैं । मैक्समूलर रेक्णसा का अर्थ सुवर्ण भूषण करता है. जबकि इसका अर्थ केवल धन है (देखो निघण्टु२,१०) राति जो दान का कर्ममात्र दर्शाता है, 'बलि ' में बदला गया है; विश्वरूप जिसका केवल अर्थ है, वह पुरुष ' जो सब रूपों का ज्ञान रखता है ' ' चिन्हित ' में बदला गया है; अज जिसका अर्थ है केवल एक ही बार ज्ञान में उत्पन्न पुरुष जो दूसरी बार फिर उत्पन्न नहीं हुआ ' बकरे ' में बदला गया है; मेम्यत् मीञ्=हिंसायाम् धातु से है, पर इसका अर्थ यहां दिया गया है ' में में करता हुआ ' : सुप्राङ् जिसका अर्थ है प्रच्छ=ज्ञीप्सायाम् धातु से पूछना, अर्थात् ' वह व्यक्ति जो सुन्दरता से प्रश्न पूछने योग्य है ' उसका अर्थ किया गया है ' आगे जाता हुआ ' ; पाथ का, जो केवल पेय पदार्थ या अन्न अर्थ देता है, ' पथ ' अर्थ किया गया है; और अन्ततः, इन्द्र और पूषण् जिनका अर्थ प्रजाओं के शासक और बलवान होना चाहिए था, वे अपने ' इन्द्र ' और ' पूष्ण ' नाम विशेषों के साथ दो देवता प्रसिद्ध किए गए हैं । पाथ शब्द के सम्बन्ध में यास्क लिखता है, ६,७

पाथोऽन्तरिक्षं । उदकमपि पाथ उच्यते पानात् ।
अन्नमपि पाथ उच्यते पानादेव ॥

मुखतो नयन्ति जिसका अर्थ है, ' वे वागेन्द्रिय में से बाहर लाते हैं, अथवा वे समझाते या उपदेश देते हैं ' पर इसका अर्थ मैक्समूलर करता है ' सामने लेजाते हैं । '

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि इस एक ही मन्त्र में नौ (९) ऐसे शब्द हैं जिनका मैक्समूलर ने अशुद्ध अनुवाद किया है । इस सबका कारण यही है कि शब्दों का यौगिक अर्थ भुलाया गया है, और रूढ़ि या लौकिक अर्थ सर्वत्र अनुवाद में घुसेड़ा गया है । हमने जो शब्दों का अर्थ दिया है, उसके अनुसार मन्त्र का अनुवाद यह होगा—

" पुरुष जो यह उपदेश देते हैं कि जो धन पवित्र उपायों से उपर्जित किया है उसे ही अपना समझना या व्यय करना चाहिए, और जो लोग ज्ञान में उत्पन्न हैं और सुन्दरता से दूसरों को प्रश्न करने में, रूप-विज्ञान में और मूर्खों को ठीक करने में निपुण है,वही और केवल ऐसे ही मनुष्यबल और शासकीय शक्ति का पान करते हैं । "

इस मन्त्र का पहले के साथ यह संबंध है कि प्रथम मन्त्रोक्त अश्वविद्या का उन्हें ही अभ्यास करना चाहिये जिन के पास पवित्र उपाय है जो विद्वान् हैं और शासन और दमन करने का सामर्थ्य रखते हैं।

एष छागः पुरो अश्वेन वाजिना पूष्णो भागो नीयते विश्वदेव्यः। अभिप्रियं यत्पुरोळाशमर्वता त्वष्टेदेनं सौश्रवसाय जिन्वति ॥ ३ ॥

अब हम १६२वें सूक्त के तीसरे मन्त्र पर आते हैं :—

मैक्समूलर इस का ऐसा अनुवाद करता है :—

"यह बकरा जो सब देवताओं के लिये नियुक्त है, पूष्ण के भाग के तौर पर पहले वेगवान् घोड़े के साथ चलाया जाता है, क्योंकि त्वष्टा इस प्रिय बलि को जो घोड़े के साथ लाई गई है, स्वयं कीर्ति की ओर उठाता है।"

यहाँ, पुनः, हम कल्पना के उसी कृत्रिम विस्तार को पाते हैं, जो इस अनुवाद का विशेष गुण है। बकरा कैसे 'सब देवताओं के लिये नियुक्त हो सकता है' और साथ ही उसी समय वह अकेले पूष्ण का भी भाग होता है? मैक्समूलर यहाँ एक कारण बताता है कि बकरा क्यों पहले पूष्ण के भाग के तौर पर ले जाया जाता है; वा कारण यह है कि 'त्वष्टा स्वयं इस प्रिय बलि को कीर्ति की ओर उठाता है।' अब यह त्वष्टा कौन है और उस का पूष्ण के साथ क्या संबंध है? कैसे त्वष्टा स्वयं इस प्रिय बलि को कीर्ति की ओर उठाता है? यह सब प्रश्न हैं जो पाठक के एकान्त विचार से उत्तर पाने के लिये छोड़े जाते हैं। ऐसा अनुवाद केवल एक ही सेवा कर सकता है। वह यह कि जिन वैदिक ऋषियों को मैक्समूलर वेदों का कर्ता मानता है उन्हें मूर्ख बनाया जाए।

विश्वदेव्यः शब्द, जिस का मैक्समूलर अनुवाद 'सब देवताओं के लिये नियुक्त' करता है, व्याकरणानुसार कदापि यह अर्थ नहीं हो सकता। अधिक से अधिक, जो कोई इस शब्द पर मैक्समूलर के लिये कर सकता है, यह है कि विश्वदेव्यः का अर्थ 'सब देवों के लिये' होना चाहिये, परन्तु 'नियुक्त' तो व्याकरण से अप्रमाणित एक संकलनमात्र है। विश्वदेव्य, विश्वदेव से तत्र साधु (देखो अष्टाध्यायी ४, ४, ९८) के अर्थ में यत् प्रत्यय लगने से बनता है। उस का अर्थ है

विश्वेषु देवेषुदिव्यगुणेषु साधुर्विश्वदेव्यः।

अर्थात् विश्वदेव्यः कोई एक पदार्थ है जो उपयोगी गुणों के उत्पन्न करने में सर्वोत्तम रूप से योग्य ही है। हम ने बलार्थ वाची पूषण के मैक्समूलर के नाम विशेष रूप अर्थ का कथन किया है। त्वष्टा का केवल अर्थ वस्तुओं का जोड़ने वाला, या दारुक्रिया कुशल है, पर इसे भी नाम-विशेष में बदला गया है। पुरोडाश का अर्थ है सुपक्वान्त, पर इस का बलि अर्थ किया गया है। 'जो साथ लाया गया है' यह शब्द निस्सन्देह मैक्समूलर की अपनी ओर से लगाये गये हैं ताकि उसके निरर्थक शब्दों का कोई अर्थ निकल आए। अर्वत्, जिसका निस्सन्देह कभी घोड़ा भी अर्थ होता है, यहाँ ज्ञानार्थक है। क्योंकि यदि घोड़ा अभिप्रेत होता, तो किसी विशेषण ने अर्थों में ऐसा परिवर्तन कर दिया होता। सौश्रवसाय जिन्वति का अर्थ है "अच्छे भोजन के निमित्त प्राप्त करता है" (वैदिक संस्कृत में श्रवस अन्नार्थक है), पर मैक्समूलर इस का अर्थ करता है 'कीर्ति को उठाता है'। सत्यार्थ होगा—"उपयोगी गुणान्वित बकरी जो दूध देती है, वह घोड़ों के लिये बलकारी भोजन है। सर्वोत्तम अन्न तभी उपयोगी है, जब इस को एक योग्य पाचक ने भोजनों के गुणों के विशेष ज्ञान द्वारा निर्दिष्ट रीतियों से तैयार करके स्वादिष्ट भोजन बनाया हो।

हम ने सूक्त के पहले तीन मन्त्रों के मैक्समूलर कृत अनुवाद की विस्तृत गुणदोषालोचना की है। उस में दिखाना यही था, कि वह कैसे प्रत्येक पग पर अशुद्धि करता है। और प्रत्येक स्थल में अशुद्धि इसी में है, कि शब्द के यौगिकार्थ के स्थान रूढ़ी अर्थ लिये गये हैं। एक मन्त्र के बाद दूसरे मन्त्र को लेते हुए सारे सूक्त को समाप्त करना, और यह दिखलाना कि सारी भ्रान्तियों का मूल वैदिक संज्ञाओं के यौगिक अर्थ का अस्वीकार करना ही है, कठिन नहीं है। परन्तु हम पूर्वोक्त तीन मन्त्रों को पर्याप्त समझते हैं। तथापि, हम इस सूक्त के शेष मन्त्रों का मैक्समूलर कृत अनुवाद अपनी प्रासंगिक टिप्पणी के साथ नीचे नोटों में देते हैं।

मैक्समूलर का अनुवाद—

४. जब तीनवार उचित ऋतुओं पर, पुरुष बलिदान योग्य घोड़े को चारों ओर ले जाते हैं, जो देवताओं के पास जाता है, तो पूषण का भाग

बकरा पहले आता है, जो देवों को बलि* की सूचना देता है।

५. हे! होता, अध्वर्यु, आवया (प्रतिप्रस्थाता), अग्निमिन्ध (अग्निध्र) ग्रावग्राभ (ग्रावस्तुत) और बुद्धिमान् शंस्ता (प्रशास्ता) तुम (वेदि के गिर्द) नदियों को भरो, उस बलि के साथ जो भले प्रकार तैयार और सुसिद्ध है, †

६. वे जो यूप (यज्ञ स्तम्भ) को काटते हैं, और वे जो इसे ले जाते हैं, वे जो घोड़े के यूप के लिये चषाल (यज्ञ स्तम्भ के ऊपर की लकड़ी) को बनाते हैं, और वे भी जोड़े के लिये पकाई हुई वस्तुओं को एकत्र करते हैं, उनका काम हमारे साथ हो।

७. वह आगे आया—(मेरी प्रार्थना अच्छी हुई है) चमकीली पीठ वाला घोड़ा देवों के लोक को जाता है। बुद्धिमान् कवि उसकी स्तुति करते हैं, और हमने देवताओं के प्रेम के लिए एक अच्छा मित्र पालिया है।

८. वेगवान् की रस्सी, घोड़े की पिछाड़ी सिर की रस्सियां तङ्ग लगाम बल्कि घास भी जो उसके मुख में डाली गई हैं। ये सब जो तेरी है देवताओं के साथ हों।

९. जो मांस छड़ी को चिमट रहा है, उस के जिस अंश को मक्खी खाती है, अथवा जो कुल्हाड़ी को चिमटा है, या बलिदाता के हाथों या नखों को, ये सब जो तेरे हैं, देवताओं के साथ हों। ‡

---

* यज्ञ का मूलार्थ है, कोई ऐसा कार्य जिस में मनुष्यों या वस्तुओं की सहकारिता आवश्यक है और जो उपयोगी परिणाम के देने वाला है। पर यूरोपियन विद्वान् इसे सदा ही बलि (सेक्रीफाईस) के अर्थ में लेते हैं। बलि का भाव एक विशुद्ध ईसाई भाव है, और वैदिक तत्त्वज्ञान में इस का कोई स्थान नहीं। यह आर्यावर्त्त के यथार्थ धर्म्म से बाहर है। अतः समस्त अनुवाद जिन में शब्द आता है, भ्रमजनक समझने चाहिये।

† मैक्समूलर यहां पांच शब्दों को नाम विशेषों के समान रखता है और इसी कारण उनका यौगिक अर्थ स्वीकार नहीं करता। 'वेदि के गिर्द' यह शब्द मैक्समूलर की कल्पना से निकले हैं, क्योंकि बलियां वेदि पर की जाती हैं दोनों विचार वैदिक तत्त्वज्ञान से बाहर हैं।

‡ यहां मैक्समूलर वाक्य-रचना को नहीं समझा। मूल शब्द हैं अश्वस्यक्रविषः, जिनका वह अर्थ लेता है, घोडे का मांस, पर क्रविषः विशेषण है और अश्वस्य विशेष्य है; सारे का वास्तविक अर्थ हैं, पर रखने वाले घोड़े का क्रविषः, का अर्थ 'मांस' का नहीं है पर धातु से क्रमु=पादविक्षेपे "पैर

१०. विष्ठा, जो उदर से निकलती है, और कच्चे मांस के कुछ छोटे २ टुकड़े, बलिदाता इस सारे को अच्छा ही तय्यार करें, और तब तक बलि को दुरुस्त करें, यहां तक कि यह अच्छी तरह पक जाय।*

११. रस, जो तेरे अग्नि से भुने हुए अंग से सीख पर बहता है, जब तू मारा जाचुका है, यह भूमि या घास पर न बहे, यह देवताओं को दिया जाय जो इसे चाहते हैं। †

१२. वे जो घोड़े की परीक्षा लेते हैं जब यह भूना जाता है, वे जो कहते हैं "यह सूँघने में अच्छा है, इसे परे ले जाओ" वे जो मांस बाँटने का काम करते हैं, उन का भी काम हमारे साथ हो ‡

१३. उस स्थान का स्रुवा जहाँ मांस पकाया जाता है, और रस छिड़कने के पात्र, गरमी को परे रखने के पात्र, पात्रों के ढकने, सींखें और चक्कू, ये घोड़े को सजाते हैं।

१४. जहाँ वह चलता है, जहाँ वह बैठता है, जहाँ वह हिलता है, घोड़े की पिछाड़ी, जो कुछ वह पीता है, और जो भोजन वह खाता है, ये सब जो तेरे हैं, देवताओं के साथ हों!

१५. धूमगन्ध वाली अग्नि तुझे सी सी मत करावे, चमकती हुई बटलोई

रखना" है। तो मन्त्रार्थ होगा, "जो कुछ मैला घोड़े को चिमटता है, उसके जिस अंश को मक्खी खाती है" इत्यादि। पुनः स्वरौ और स्वधितौ शब्द छड़ी और कुल्हाड़ा अर्थ में लिए गए हैं, जो इनका कभी अर्थ नहीं।

* आमस्य क्रविषः जिस का अर्थ है 'कच्चा भोजन जो अभी पचा नहीं और बाहर आ सकता है' इसे भी मैक्समूलर ने वैसे ही कच्चे मांस में अनुवादित किया है। आम उदर में अपक्व भोजन की अवस्था है। यहाँ पुनः मूलर मन्त्र-रचना को नहीं समझता।

† अग्निना पच्यमानात् जिस का अर्थ है 'क्रोधाग्नि से तपाए हुए' इस का मैक्समूलर अर्थ करता है 'भुना हुआ' और हतस्य जो संचालित अर्थ रखता है, यहां मैक्समूलर द्वारा "मारा हुआ" अनुवादित किया गया है।

‡ इस मन्त्र का अनुवाद विशेषतया ध्यान देने योग्य है। वाजिनम् शब्द जो वाज=अन्नार्थक से है, यहाँ घोड़ा अर्थ में लिया गया है, और प्रोफेसर मैक्समूलर घोड़े की बलि अर्थ निकालने का इतना उत्सुक है, कि इतने पर ही सन्तुष्ट न रह कर, वह मांसभिक्षां उपासते का अर्थ है करता है 'वह मांस का सेवन करता है' जब कि इस का अर्थ है 'वह मांस की अप्राप्ति का सेवन करता है। इस से क्या कुछ अधिक प्रपञ्च हो सकता है।

मत उबले और फूटे । देवता घोड़ को स्वीकार करते हैं, यदि यह उन्हें विधि-पूर्वक भेंट किया जाय ।।

१६. जो चादर वे घोड़े पर फैलाते हैं, और सुवर्णाभूषण, घोड़े की सिर की रस्सियाँ और पिछाड़ी, ये सब जो देवताओं को प्रिय हैं, वे उनकी भेंट करते हैं।

१७. यदि कोई तुझे एड़ी या चाबुक से मारे ताकि तू लेट जाय, और तू अपने सारे बल से फुफकारे, तो मैं इस सारे को अपनी प्रार्थना से उसी प्रकार पवित्र करता हूँ, जैसे यज्ञ पर घी के चमस से ।

१८. कुल्हाड़ी देवों के प्यारे, वेगवान घोड़े की ३४ पसलियों के समीप आती है, क्या तुम अङ्गों को बुद्धिमत्ता से पूरा रखते हो, प्रत्येक जोड़ को ढूँढो और मारो । *

१९. एक चमकीले घोड़े को मारता है, दो इसे पकड़ते हैं, ऐसी यह रीति है । तुम्हारे अङ्गों में से वे, जो मैंने ऋत्वनुसार पकाये हैं, मैं उन की देव-समर्पित पिण्डों के समान अग्नि में बलि देता हूँ । †

२०. तेरी प्रिय आत्मा तुझे मत जलाए—जब कि तू निकट आ रहा है, कुल्हाड़ी तेरे शरीर से मत चिमटे ! कोई लालची और अनाड़ी बलिदाता, खड्ग से चूका हुआ, तेरे छिन्न भिन्न अङ्गों को इकट्ठा मत फेंके !

२१. निश्चय ही तू ऐसे नहीं मरता, तू क्लेश नहीं उठाता: तू देवताओं के पास सरल मार्ग से जाता है । इन्द्र के दो घोड़े, मरुतों के दो हरिण जोड़े गए हैं, और घोड़ा (अश्वियों के) गधे की धुरी के पास आया है । ‡

---

* मूलर कथित पसलियों की संख्या अवश्य ही गणनीय और निर्णय योग्य है। वङ्क्री जिस का अर्थ है 'कुटिल गति' उस का यहाँ पसली अनुवाद किया गया है । इस के लिए प्रमाण चाहिये ।

† त्वष्टुरश्वस्य का यहाँ 'चमकीला घोड़ा' अनुवाद किया गया है, मानो अश्व नाम है और त्वष्टा इस का विशेषण । परन्तु असल बात इस से उलट है । त्वष्टा विशेष्य है जो कि विद्युत् को जनाता है और व्याप्त्यर्थ वाचक अश्व विशेषण है । अनुवाद के अन्त में "देव-समर्पित" यह शब्द स्पष्ट ही मैक्समूलर की ओर से जोड़े गए हैं, ताकि इस सारे को मिथ्या-कथा का रंग दिया जाय ।

‡ हरि पुनः रूढ़ि शब्द के समान इन्द्र के दो घोड़ों के अर्थ में लिया गया है और पृषती के मरुतों के दो हरिण अर्थ किए गये हैं । 'घोड़े की धुरी' कदाचित् एक ऐसा कौतूहल है जिससे बढ़कर मैक्समूलर मिथ्या-कथा ज्ञान का चिन्ह और कोई उपस्थित नहीं कर सकता था ।

२२. यह घोड़ा हमें गायें, घोड़े मनुष्य, सन्तान और सर्व-पोषक धन दे ! अदिति हमें पास से परे रक्खे, इस बलि का घोड़ा हमें बल दे ।"— पृष्ठ ५५३—५५४.

अब हम मैक्समूलर और उसकी व्याख्याओं को छोड़ते हैं और एक और भाष्यकार अर्थात् सायण की ओर आते हैं । सायण को वस्तुतः ही हरिवर्षीय वैदिक पाण्डित्य का पिता कहना चाहिये । सायण ही वह ग्रन्थकार है जिसके बृहद् भाष्यों से यूरोपियन लोगों ने देवमाला रूपी रस का पेट भर पान किया है । यह माधव सायण का ही भाष्य है कि जिस पर विलसन बेनफ़ी और लङ्गलायस की व्याख्याओं का आधार है । यह सायण ही है, कि जिसके भाष्य सब सन्दिग्ध अवस्थाओं में प्रमाण के तौर पर पेश किये जाते हैं । " किसी देव के कन्धों पर चढ़कर वामन यदि उससे दूर देख सकता है, तो फिर भी देव की अपेक्षा वह वामन ही है । " यदि आधुनिक वैयाकरण और कोषकार, सायण की चोटी पर खड़े होकर, अर्थात् वेद का अपना मुख्य ज्ञान सायण से लेकर, अब यह कहें कि " सायण वेदों का वह अर्थ जनाता है, जो कि भारत में कुछ शताब्दि पूर्व प्रचलित था, परन्तु तुलनात्मक भाषा-विज्ञान हमें वह अर्थ बताता है जो कवियों ने स्वयं अपने गीतों और कथनों को दिया था" * अथवा यदि वे यह कहें कि हमें एक भारी लाभ यह है कि एक शब्द के अर्थ जाँचने के लिये हमारे पास दस या बीस वाक्यों का संग्रह है जिन में कि वह शब्द आता है, और यह सुभीता सायण को न था, तो कोई आश्चर्य नहीं । सारे वेदों, परम प्रसिद्ध ब्राह्मणों और एक कल्प ग्रन्थ का बृहदाकार भाष्यकार, सुविख्यात मीमांसक, और वैयाकरण माधव सायण, जिसने संस्कृत धातुओं पर एक पाण्डित्य पूर्ण वृत्ति लिखी † अब भी हमारे आधुनिक भाषातत्त्व-वेताओं और विद्वानों के मुकाबले में, पाण्डित्य का एक आदर्श और स्मरण-शक्ति का भीमाकार देव हैं । अतएव, आधुनिक विद्वानों को यह सदा हृदयङ्गम करना चाहिये कि सायण प्राण है उनकी विद्वत्ता का, उनके तुलनात्मक भाषातत्त्व-विज्ञान का और उनके इतने गर्वास्पद वेद-व्याख्यानों का । जब सायण स्वयं रोगग्रस्त था, तो यह हो नहीं सकता कि आधुनिक विद्वानों के परिश्रम का चाहे कितना ही मूल्य हो, तो उनका सापेक्ष भाषातत्त्व-विज्ञान, उनके नवीन व्याख्यान, और उन

* यह वचन प्रोफेसर गोल्डस्टकर की "पाणिनि और संस्कृत साहित्य में उसका स्थान" नामक पुस्तक से संग्रह किया गया है । गोल्डस्टरने "राथ" की यह सम्मति उद्धृत की है । स्वयं वह इसे अस्वीकार करता है । (देखो पाणिनि कार्य्यालय प्रयाग द्वारा प्रकाशित संस्करण का पृष्ठ १८९, १९०) भगवद्दत्त ।

† तदेव, पृ० १०२, अनुवादक ।

के नाममात्र अद्भुत पराक्रम रोगग्रस्त न हों। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि आधुनिक (पश्चिमीय) तुलनात्मक भाषातत्त्व-विज्ञान और वैदिक विद्वत्ता की संजीवनी शक्ति सायण की विद्वत्ता की रोगग्रस्त और दोषयुक्त खाद्य-सामग्री से ही व्युत्पन्न हुई है। शीघ्र या देर से यह रोग अपने अन्तिम लक्षणों को विकसित करेगा, और जिस संजीवनी शक्ति को यह उत्पन्न करता हुआ प्रतीत होता था, उसका समूलोच्छेद कर देगा। वृक्ष की कोई भी शाखा सजीव मूल से पृथक् की जाने पर फलफूल नहीं सकती। अन्त के वेदों के कोई भी व्याख्यान फलीभूत न होंगे जब तक कि वे निरुक्त और ब्राह्मणों में दिये गये वेदों के सजीव अर्थों के अनुकूल न हों।

मैं यहाँ ऋग्वेद से एक मन्त्र उद्धृत कर यह दिखाऊँगा कि सायण का व्याख्यान किस प्रकार निरुक्त के व्याख्यान से मूलतः भिन्न है। मन्त्र ऋग्वेद १०, ९६ से है।

ब्रह्मा देवानां पदवीः कवीनामृषिर्विप्राणां महिषो मृगाणाम्।
श्येनो गृध्राणां स्वधितिर्वनानां सोमः पवित्रमत्येति रेभन्॥

सायण कहता है:—

परमात्मा स्वयं इन्द्र अग्नि इत्यादि देवताओं के मध्य में ब्रह्मा के रूप में प्रकट होता है। वह नाटककारों और गीति-रचयिताओं में कवि; ब्राह्मणों में वसिष्ठ इत्यादि, चार पैर वाले पशुओं में भैंस; पक्षियों में श्येन और जंगल में कुल्हाड़े के रूप में प्रकट होता है। वह पवित्र गङ्गा जल से भी बढ़ कर पावनी-शक्ति रखने वाला मन्त्रपूत सोम रस है, इत्यादि।

इस अनुवाद पर उस काल की छाप लगी हुई जब कि यह किया गया था। यह एक पण्डित का यत्न है जोकि उसने लोक-प्रिय पक्षपात और भाव को अपील करके अपने नाम की प्रतिष्ठा के लिए किया है। यह स्पष्ट है कि जिस समय सायण ने भाष्य लिखे उस समय भारत का धर्म "अद्वैतवाद" या 'प्रत्येक वस्तु ब्रह्म है' था; स्पष्टतः, मूढ़विश्वास इतना बढ़ गया था, कि गंगा का जल भी पूज्य समझा जाता था; ईश्वर के अवतारों में विश्वास था और ब्रह्मा, वसिष्ठ और अन्य ऋषियों की पूजा पराकाष्ठा तक पहुँच चुकी थी। यह सम्भवतः नाटककारों और कवियों का काल था। सायण स्वयं किसी शहर या क़स्बे का रहने वाला था। वह ग्रामीण न था। वह जानता था कि जङ्गलों को नष्ट करने का साधन कुल्हाड़ा होता है. पर वह ऐसे ही साधन विद्युत् या अग्नि को नहीं जानता था जो कि कुल्हाड़े से भी अधिक बलवान् है। उसका अनुवाद वेद के आशय को प्रकट करने के स्थान में उसके अपने काल का चित्र उपस्थित करता है। उसका ब्रह्मा, कवि, देव, ऋषि, विप्र, महिष,

मृग, श्येन, गृध्र, वन, सोम, पवित्र, का अनुवाद विना किसी अपवाद के, सर्वथा रूढि या लौकिक है।

अब यास्क का व्याख्यान उसके निरुक्त १४, ३ में देखिये। वहाँ एक भी शब्द ऐसा नहीं, जो अपने यौगिक अर्थ में न लिया गया हो। यास्क कहताहै—

अथाध्यात्मं ब्रह्मादेवानामित्ययमपि ब्रह्मा भवति देवानां देवनकर्मणामिन्द्रियाणां पदवीः कवीनामित्यपि पदं वेत्ति कवीनां कवीयमानानामिन्द्रियाणामृषिर्विप्राणामित्ययमप्यृषिणो भवति विप्राणां व्यापनकर्मणामिन्द्रियाणां महिषो मृगणामित्ययमपि महान् भवति मार्गणकर्म्मणामिन्द्रियाणां श्येनोगृध्रानामिति श्येन आत्मा भवति श्यायतेर्ज्ञान कर्मणो गृध्राणीन्द्रियाणि गृध्यतेर्ज्ञान कर्मणो यत एतस्मिंस्तिष्ठति स्वधितिर्वनानामित्ययमपि स्वयं कर्म्माण्यात्मनि धत्ते वनानां वनन कर्मणामिन्द्रियाणां सोमः पवित्रमत्येति सूयमा नोऽयमेवैतद् सर्वमनुभवत्यात्मगतिमाचष्टे ।

अब हम यहां इस मन्त्र का यास्क का दिया आध्यात्मिक अर्थ कहते हैं। उसका अभिप्राय यह समझाने का है कि जीवात्मा एक केन्द्रस्थानी चेतन सत्ता है जो सारे अनुभव का भोक्ता है। इन्द्रिय-प्रदर्शित बाह्य-जगत् इस केन्द्रस्थानी सत्ता में अपने उद्देश्य और प्रयोजन को, और फलतः लीनता को प्राप्त होजाता है। इन्द्रियों को देव कहा जाता है, क्योंकि उनका कार्य बाह्य दृश्यचमत्कारी जगत् में होना है और क्योंकि उन्हीं के द्वारा बाह्य जगत् हमारे लिए प्रकाशित होता है। अतः आत्मा, जीवात्मा ही ब्रह्मा देवानाम् है, अर्थात् वह चेतन सत्ता है जो अपनी चेतनता के आगे इन्द्रिय-प्रकाशित सब कुछ उपस्थित करती है। ऐसे ही इन्द्रियों को कवयः कहा जाता है क्योंकि पुरुष उन्हीं के द्वारा अनुभव करता है। तब आत्मा पदवी कवीनाम् अथवा वह सत्य सत्ता है जो इन्द्रियों के कृत्यों को समझती है। पुनः आत्मा ऋषिर्विप्राणाम्, अर्थात् इन्द्रिय-विषयों का द्रष्टा है; विप्र का अर्थ इन्द्रियाँ हैं क्योंकि उनसे उत्तेजित ज्ञान सारे शरीर में व्याप्ता है। इन्द्रियों को मृग भी कहते हैं क्योंकि वे बाह्य जगत् में अपने विषयविशेषों को खोजती हैं। आत्मा महिषो मृगाणाम् अर्थात् प्रधान व्याध है। तात्पर्य यह है कि वस्तुतः आत्मशक्ति द्वारा ही इन्द्रियाँ अपने विषयविशेषों को ढूंढ सकती हैं। आत्मा श्येन कहाता है क्योंकि अनुभव शक्ति इसी की है, और इन्द्रियां गृध्र हैं क्योंकि वे इस अनुभव के लिए सामग्री प्रस्तुत करती हैं। तो, आत्मा इन इन्द्रियों में

व्याप्त है। पुनः यह आत्मा स्वधितिर्वनानाम् अर्थात् वह स्वामी है जिसकी सब इन्द्रियां सेवा करती हैं। स्वधिति का अर्थ है आत्मा, क्योंकि आत्मा की चेष्टा सब अपने लिए है: यतः पुरुष स्वयं एक उद्देश्य है। इन्द्रियों को वन कहा जाता है क्योंकि वे अपने स्वामी अर्थात् जीवात्मा की सेवा करती हैं। यही आत्मा है जो स्वस्वभाव में पवित्र होकर सबको भोगता है। यह है यौगिक अर्थ जो यास्क इस मन्त्र का करता है। यह अर्थ, सायण के अर्थ के विपरीत, जो कि कोई यथार्थ भाव नहीं जताता, न केवल अविरुद्ध और बुद्धि-गम्य ही है; और सायण के विपरीत जो कि शब्द के लोक-प्रिय अर्थ के विना और कुछ जानता ही नहीं, न केवल इसका प्रत्येक शब्द अपने यौगिक अर्थ में स्पष्टतया निश्चित ही है; प्रत्युत इसमें अर्थ की वह सरलता, नैसर्गिकता और सत्यता भी पाई जाती है जो कि इसे सब देश और काल से स्वतन्त्र कर देती है, और जिसका यदि सायण के अर्थ की कृत्रिमता, अस्पष्टता और स्थानी-यता से मुकाबला किया जाय, तो सायण की वैदिक व्याख्या के नियमों से पूर्ण अज्ञता प्रकट होगी।

यही सायण है, जिसके वेदभाष्यों पर यूरोपियन विद्वानों के अनुवादों का आधार है।

अब हम मैक्समूलर और सायण को उनके रूढ़ि अनुवादों के साथ छोड़ते हैं और एक अन्य प्रश्न पर आते हैं, जो उत्तरोक्त प्रश्न से यद्यपि दूर का सम्बन्ध रखता है तथापि इतना महत्त्वपूर्ण है कि इसको पृथक् निरुपण की आवश्यकता है। यह प्रश्न है, जिसका सम्बन्ध वेदों के मत से है। यूरोपियन विद्वान् और मूर्त्तिपूजक मूढविश्वासी हिन्दू यह सम्मति रखते हैं कि वेद असंख्य देवी देवताओं की पूजा का उपदेश करते हैं। यह देवता शब्द भ्रान्ति का एक अत्यन्त फलोत्पादक स्रोत है, और यह अत्यन्तावश्यक है कि इसका यथार्थ अर्थ और प्रयोग निश्चित किया जाय। इस देवता शब्द के वैदिक अर्थ को न समझते हुए और दीन मूर्तिपूजा में जीर्णभूत मिथ्या-कथा-ज्ञान-सम्बन्धी देवी देवताओं में विश्वास के लोक-प्रिय मूढविश्वासात्मक व्याख्यान को सहजता से मानते हुए, यूरोपियन विद्वानों ने वेदों को ऐसे पदार्थों की पूजा से परिपूर्ण माना है और वेदों के प्रति आदर में वे इतने बढ़े हैं कि उन्होंने इनका मत अनेकेश्वरवाद से भी नीचे गिराया है और कदाचित् नास्तिकता के समतुल्य बना दिया है। अपनी उदारता की तरंग में यूरोपियन विद्वानों ने

इस मत को एक उपाधि, एक नाम प्रदान करने की दया दिखाई है और वह नाम हीनोथीइज्म (Henotheism) है।

मतों का अनेकेश्वरवादी, द्वैतवादी और अद्वैतवादी विभाग कर के मैक्समूलर लिखता है "दो और श्रेणियों—हीनोथीइस्टिक और अनीश्वर-वादियों—का जोड़ना निस्सन्देह आवश्यक होगा। हीनोथीइस्टिक मत अनेकेश्वरवादियों से भिन्न हैं, क्योंकि, यद्यपि वे अनेक देवताओं के अस्तित्व को या देवताओं के नामों को स्वीकार करते हैं, तथापि वे प्रत्येक देवता को शेष सब से स्वतन्त्र जतलाते हैं अर्थात् वही एक देवता, पूजक के मन में उस की पूजा और प्रार्थना के समय विद्यमान रहता है। वैदिक कवियों के मत में यह विशेषता अत्यन्त प्रधान है। यद्यपि विविध-सूक्तों में, और कईवार एक ही सूक्त में अनेक देवता आहूत किए जाते हैं, तथापि उन में प्राधान्य का कोई नियम निर्णीत नहीं। और प्रकृति के परिवर्तनशील रूपों और मानव मन की भिन्न भिन्न याचनाओं के अनुसार यह कभी नीले आसमान का देवता इन्द्र, कभी आगका देवता अग्नि,कभी नभोमण्डल का प्राचीन देवता वरुण है जो विना किसी प्रतिस्पर्धा के सन्देह या विना अधीनता के विचार के पूजे जाते हैं। मत की यह असाधारण स्थिति, पृथक् २ देवताओं की यह पूजा, सम्भवतः सर्वत्र ही अनेकेश्वरवाद की वृद्धि में प्रथमारम्भ होती है, और इस कारण एक पृथक् नाम की अधिकारिणी है।"*

इस नवीन मत अर्थात् हीनोथीइज्म के नियमों को अधिक स्पष्ट करने के लिए मैक्समूलर कहता है :—"जब ये व्यक्तिगत देवता आमन्त्रित किये जाते हैं, तो वे दूसरों की शक्ति से परिमित अर्थात् दर्जे में श्रेष्ठ या निकृष्ट नहीं समझे जाते। प्रार्थी अपने मन में प्रत्येक देवता को सारे देवताओं के समान ही अच्छा समझता है। उन प्रयोजनीय सीमाबंधनों के होते हुए भी जो देवताओं का बहुत्व, हमारे मन में प्रत्येक स्वतन्त्र देवता पर नियत करता है, प्रार्थना के समय, उस देवता को ईश्वरवत् अर्थात् सर्वोत्कृष्ट और स्वाधीन ही अनुभव किया जाता है। कवि की दृष्टि से क्षणमात्र के लिए शेष सब ('देवता) लुप्त हो जाते हैं, और केवल वही जिस ने कि पूजकों की इच्छाओं को पूर्ण करना है उन की आंखों के सामने पूर्ण प्रकाश में खड़ा होता है। 'तुम में, हे देवो! न कोई छोटा है, न कोई बालक है, निस्सन्देह तुम सब बड़े हो,' यह एक ऐसा भाव है जो, यद्यपि शायद वैवस्वत मनु जितनी स्पष्टता से प्रकट नहीं किया गया, तथापि, वेद की सारी कविता का मूलाधार है। यद्यपि कई वार

* मैक्समूलर विरचित "धर्म्म-विज्ञान" पर व्याख्यान, लन्दन १८७३ पृ० १४१-१४२।

स्पष्टतया देवताओं को बड़े और छोटे, युवा और वृद्ध (ऋ० १, २७, १३) कह कर आह्वान किया जाता है, तो भी दिव्य शक्तियों के लिए अत्यन्त व्यापक वचन ढूँढने का यह यत्नमात्र है, और देवताओं में से किसी एक को कहीं भी दूसरों का दास नहीं दर्शाया गया।"

उदाहरणार्थ, "जब आग का देवता, अग्नि, सम्बोधित होता है, तो वह प्रथम देववत् कहा जाता है, यहाँ तक कि उसे इन्द्र से भी कम नहीं समझा जाता। जब अग्नि आहूत होता है, तो इन्द्र भूल जाता है; दोनों में कोई मुकाबला नहीं, और न ही उन में वा अन्य देवताओं में कोई प्रतिद्वन्द्वता है। वेद-मत में यह एक अत्यन्तावश्यक चिन्ह है। जिन लोगों ने पुरातन अनेकेश्वरवाद के इतिहास पर लेखनी चलाई है, उन्हों ने कभी भी इस पर विचार नहीं किया।"*

हमने देख लिया कि मैक्समूलर की वेद के मत के विषय में क्या सम्मति है। हमें यह निश्चय रखना चाहिये कि अन्य यूरोपियन पण्डितों की सम्मति भी इस के विपरीत नहीं हो सकती। तो क्या वस्तुतः हीनोथीइज्म ही वेदों का मत है? क्या देवताओं की पूजा वैदिक पूजा का आवश्यक चिन्ह है? क्या हमें मैक्समूलर के कथन पर विश्वास कर लेना चाहिए और यह प्रतिपादन करना चाहिए कि वह जाति कि जिसके स्वाभाविक एकेश्वरवाद को अस्वीकार करने से वह हिचकचाता है, अपनी सहज बुद्धि को इतना उखाड़ चुकी है कि वह हीनोथीइज्म ऐसे सम्भ्रान्त वाद में विश्वास करने लगी है? नहीं, ऐसा नहीं। वेद, प्राथमिक आर्यों की पवित्र पुस्तकें, चिन्तन-साध्य एकेश्वरवाद के सर्वोच्च प्रकार के परम पवित्र लेख हैं।

योरुपीय पण्डित देर तक वेदों का अन्यथार्थ नहीं कर सकते, और न ही वे सच्चे वेदार्थ के नियमों की उपेक्षा ही कर सकते हैं। यास्क कहता है—

अथातो दैवतं तद्यानिनामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते सैषा देवतोपपरीक्षा यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद्दैवतः स मन्त्रो भवति ॥ निरुक्त ७, १ ॥

"दैवत एक साधारण संज्ञा है और उन पदार्थों के लिये प्रयुक्त होती है जिनके गुणों की व्याख्या कि मन्त्र में की गई है।" उपरोक्त का तात्पर्य्य यह है कि जब यह जान लिया जाता है कि कौनसा पदार्थ इस मन्त्र के व्याख्यान का विषय है, तो उस पदार्थ के जनाने वाली संज्ञा उस मन्त्र का देवता कहाती है। उदाहरणार्थ इस मन्त्र को लीजिए:—

अग्निं दूतं पुरोदधे हव्यवाहमुपब्रुवे ॥ देवां ॥२॥ आसादयादिह ॥ यजु० २२।१७

* मैक्समूलर विरचित पुरातन संस्कृत साहित्य का इतिहास पृ० ५५२-५५३।

"मैं तुम्हारे विचारार्थ अग्नि को धरता हूँ, जो समस्त सांसारिक सुखों का फलोत्पादक स्रोत है, जो दूतवत् कार्य्य करने के योग्य है और जिसमें हमारे सारे भोजनों के तय्यार करने का विशेष गुण है। ऐ जनों ! तुम सुनो और वैसे ही करो।"

क्योंकि अग्नि ही इस मन्त्र का विषय है, इसलिये अग्नि इस मन्त्र का देवता कहा जायगा। अतः यास्क कहता है 'मन्त्र उस देवता का है कि जिसके गुणों के प्रदर्शनार्थ सर्वज्ञ परमात्मा ने उस मन्त्र को प्रकट किया।'

हम निरुक्त के एक और भाग में देवता शब्द का ऐसा ही अर्थ पाते हैं। यास्क कहता है—

कर्म्मसम्पत्तिर्मन्त्रो वेदे ॥ निरुक्त १, २॥

'जब कभी शिल्प-क्रिया का वर्णन होता है, तो वह मन्त्र जो उस क्रिया का पूर्णतया वर्णन करता है, उस क्रिया का देवता (या सूची) कहाता है।'

मन्त्र का देवता इसी अर्थ में एक सूची है अर्थात् मन्त्रार्थ की आवश्यक कुञ्जी है। शब्द के इस व्यवच्छेद में किन्हीं देवताओं या देवियों का संकेत नहीं, कोई देवमाला, कोई भूत-पूजा, कोई हीनोथीइज्म नहीं। यदि देवता का यह स्पष्ट और साधारण अर्थ समझा जाता, तो जिन मन्त्रों के मरुत अथवा अग्नि देवता हैं, वे कदापि आँधी के देवता या आग के देवता के प्रति कहे गये सूक्त न समझे जाते; प्रत्युत यह ज्ञात हो जायगा कि ये मन्त्र मरुत और अग्नि के गुणों का क्रमशः निरुपण करते हैं। तब यह बात समझी जायगी जो कि निरुक्त में अन्यत्र कही गई है।

देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा ॥ निरुक्त ७, १५॥

अर्थात् जो पदार्थ या जो व्यक्ति हमें कुछ लाभ पहुँचाने में समर्थ हैं, पदार्थों को प्रकाशित करने में समर्थ हैं, अथवा उनको हमें समझाने में समर्थ हैं, और अन्ततः, जो प्रकाशों का प्रकाश हैं, वही देवता कहलाने योग्य पदार्थ हैं। जो कुछ ऊपर कह आये हैं यह उस से किसी प्रकार भी असंगत नहीं। क्योंकि, मन्त्र का देवता, जो मन्त्रार्थ की कुञ्जी है एक ऐसा शब्द है जो मन्त्र का व्याख्यान बताने में समर्थ है, और इसी कारण उस मन्त्र का देवता कहा जाता है। इन देवताओं का वर्णन करते हुए, यास्क कुछ ऐसे शब्द लिखता है जिन से कि यहां तक प्रतीत होता है कि उस के काल के लोग मैक्समूलर और मूर्तिविश्वासी हिन्दुओं के देवी देवताओं का, हां, उन देवी और देवताओं

का जो अब देवता की वैदिक संज्ञा से हमारे गले मढ़े जाते हैं कुछ भी ज्ञान न था। यास्क कहता है,

अस्ति ह्याचारोबहुलम् लोके देवदेवत्यमतिथिदेवत्यं पितृदेवत्यं ॥
निरुक्त ६, ४।

' हम सारे संसार के साधारण व्यवहार में प्रायः देखते हैं कि विद्वान् पुरुष, माता पिता और अतिथि (अर्थात् वे अभ्यागत–प्रचारक जो कोई निश्चित निवास नहीं रखते, पर अपने धार्मिक उपदेशों द्वारा संसार का उपकार करते हुए इतस्ततः भ्रमण करते हैं) देवता समझे जाते हैं या देवता नामसे पुकारे जाते हैं। ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है कि यास्क के काल में धार्मिक अध्यापक, माता पिता और विद्वान् पुरुषों को या ऐसे ही और लोगों को ही देवता कहते थे, दूसरे किसी को नहीं। यदि यास्क को कोई ऐसी मूर्ति–पूजा या हीनोथीइज्म या देवता–पूजा जिस के साथ कि मूढ़विश्वासी हिन्दुओं का इतना प्रेम है, और जिसे वेदों में ढूंढने के लिये प्रोफेसर मैक्स मूलर इतने व्यग्र हैं ज्ञात होती, या यदि कोई ऐसी पूजा उसके काल में प्रचलित होती, तो चाहे वह उस पूजा में आप भाग नहीं लेता, पर यह असम्भव है कि वह इस का सर्वथा वर्णन ही न करता, विशेषतः जब कि वह सामान्य रूप से मनुष्यों में साधारण व्यवहार का प्रकथन करता है। इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि भूतपूजा या प्रकृति पूजा, न केवल वेदों और यास्क और पाणिनि और वैदिक ऋषियों मुनियों के कालों के ही बाहर हैं, प्रत्युत यह निश्चित है कि मूर्ति–पूजा और इसका जन्मदाता मिथ्या–कथा–ज्ञान, कमसे कम जहाँ तक आर्यावर्त्त का सम्बन्ध है, नवीन समयों के ही उपज हैं।

अब हम पुनः अपने विषय पर आते हैं। हमने देख लिया कि यास्क उन पदार्थों के नामों को, जिनके कि गुण मन्त्र में वर्णित हैं, देवता समझता है। तब कौन से पदार्थ देवता हैं ? वे सब पदार्थ देवता हैं जो मानव ज्ञान का विषय बन सकते हैं। सारा मानव ज्ञान देश और काल की सीमा में बंद है। हमारा कार्य कारण का ज्ञान, मूलतः, घटनाओं की परंपरा का ज्ञान है। और परंपरा समय के क्रम के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं। दूसरे, हमारा ज्ञान अवश्य ही किसी वस्तु का ज्ञान होगा, और वह वस्तु अवश्य ही कहीं होगी। यह अपनी स्थिति और उत्पत्ति का अवश्य कोई स्थान रक्खेगी। यह तो हुआ हमारे ज्ञान की अवस्थाओं—काल और स्थान का वर्णन। अब ज्ञान के तत्त्वों को लीजिए। मानव ज्ञान का अत्यन्त सूक्ष्म विभाग विषयाश्रित और

आन्तरिक के बीच है। विश्याश्रित ज्ञान उस सारे का ज्ञान है जो कि मानव-देह के बाहर घटता है। यह बाह्य जगत् के दृश्यचमत्कारों का ज्ञान है। वैज्ञानिक लोग इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि पदार्थ विज्ञान अर्थात् भौतिक जगत् का तत्वज्ञान दो वस्तुओं के अर्थात् द्रव्य और शक्ति के अस्तित्व को प्रकट करता है। द्रव्य को हम द्रव्य रूप में नहीं जानते। द्रव्य में शक्तियों की लीला मात्र से ही इन्द्रियगोचर परिणाम उत्पन्न होरहे हैं, और इन्हींको हम जानते हैं। अतः बाह्य जगत् का ज्ञान शक्ति और उसके रूपान्तरों के ज्ञान में विलीन हो जाता है। तत्पश्चात् हम आन्तरिक ज्ञान की ओर आते हैं। आन्तरिक ज्ञान वर्णन में, पहले तो अहं अर्थात् जीवात्मा, चेतन सत्ता है; और दूसरे आन्तरिक चमत्कार कि जिनका जीवात्मा को ज्ञान है। आन्तरिक दृश्यचमत्कार दो प्रकार के हैं। या तो वे मनकी इच्छापूर्वक, बुद्धिपूर्वक, स्वयं-चेतन चेष्टायें हैं, जिनको कि इसी कारण विचारानन्तर-कृत-कर्म कहा जासकता है, और या वे जीवात्मा के अस्तित्व से देह के व्यापारों में उत्पन्न हुए निष्क्रिय रूपान्तर हैं। अतएव इनको प्राणभूत चेष्टायें कहा जा सकता है।

अतः ज्ञेय का कारण से कार्य की ओर आने वाला तर्क हमें इन छः वस्तुओं तक लेजाता है; अर्थात् काल, देश, क्रिया, जीवात्मा, विचारान्तर-कृत व्यवसाय और प्राणभूत व्यवसाय। तब ये वस्तुएं देवता कहाने के योग्य हैं। उपरोक्त गणना से यह परिणाम निकलता है कि निरुक्त का वैदिक देवता सम्बन्धी लेख, जैसा कि हमने दिया है, यदि वस्तुतः सत्य है तो वेद में इन छः वस्तुओं काल, देश, क्रिया, जीवात्मा, विचारानन्तर-कृत व्यवसाय और प्राणभूत व्यवसाय, का ही नाम देवता होना चाहिए, अन्य किसी का नहीं। आओ हम इस कड़ी परीक्षा का प्रयोग करें।

परन्तु इस मंत्र ऐसे प्रत्येक मंत्र में हमें ३३ देवताओं का उल्लेख मिलता है:—

१. त्रयस्त्रि ऽ शतास्तुवत भूतान्यशाम्यन् प्रजापतिः परमेष्ठ्यधिपति-रासीत् ॥ यजु० १४, ३१

२. यस्य त्रयस्त्रिंशद्देवा अङ्गे गात्रा विभेजिरे। तान्वै त्रयस्त्रिंशद्देवानेके ब्रह्मविदो विदुः॥ अथर्व. १०, २२, ४, २७

"सबका स्वामी, जगत् का अधिपति, और सबका प्राण, सब वस्तुओं को ३३ देवताओं द्वारा धारण करता है।"

"सच्चे ब्रह्म-ज्ञानी जानते हैं कि ३३ देवता अपने विशिष्ट भाङ्ग व्यवस्थायों को करते हैं और उनमें वा उसके आश्रय रहते हैं जो कि एक और अद्वितीय है।"

अतः हमें देखना चाहिए कि ये ३३ देवता कौन हैं, ताकि हम अपने कारण से कार्य की ओर आने वाले तर्क से प्राप्त परिणामों से इनकी तुलना करने और प्रश्न के समाधान करने में समर्थ होसकें। शतपथ ब्राह्मण कहता है :—

सहोवाच महिमान एवैषामेते त्रयस्त्रि ७ शत्त्वेव देवा इति। कतमे ते त्रयस्त्रि ७ शदित्यष्टौ वसव एकादशरुद्रा द्वादशादित्यास्त एकत्रि ७ शदिन्द्रश्चैव प्रजापतिश्च त्रयस्त्रि ७ शाविति ॥ ३ ॥ कतमे वसव इति। अग्निश्च पृथिवीच वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसव एतेषु हीद ७ सर्वं वसुहितमेतेहीद ७ सर्वं वासयन्ते तद्यदिद ७ सर्वं वासयन्ते तस्माद्वसव इति ॥ ४ ॥ कतमे रुद्रा इति। दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैकादशस्ते यदास्मान्मर्त्याच्छरीरादुत्क्रामन्त्यथ रोदयन्ति तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा इति ॥ ५ ॥ कतम आदित्या इति। द्वादशमासाः संवत्सरस्यैत आदित्या एते हीद ७ सर्वमाददानायन्ति तद्यदिद ७ सर्वमाददानायन्ति तस्मादादित्या इति ॥ ६ ॥ कतम इन्द्रः कतमः प्रजापतिरिति। स्तनयित्नुरेवेन्द्रो यज्ञः प्रजापतिरिति कतमः स्तनयित्नुरित्यशनिरिति कतमो यज्ञ इति पशव इति ॥ ७ ॥ कतमे ते त्रयोदेवा इतीम एव त्रयो लोका एषु हीमे सर्वे देवा इति कतमौ द्वौ देवावित्यन्नं चैव प्राणश्चेति कतमोऽध्यर्ध इति योऽयं पवत ॥ ८ ॥ तदाहुः यदयमेक एव पवतेऽथ कथमध्यर्ध इति यदस्मिन्निद ७ सर्वमध्यार्ध्नोत्तेनाध्यर्ध इति। कतम एको देव इति स ब्रह्मत्यादित्याचक्षते ॥ *

शतपथ कां० १४, १६। उपरोक्त का अर्थ यह है—

"याज्ञवल्क्य कहता है, हे शाकल्य! देवता ३३ हैं, ८ वसु, ११ रुद्र, १२ आदित्य, इन्द्र, प्रजापति, ये सब मिल कर ३३ हैं। आठ वसु ये हैं १ जगत् के अग्निमय पदार्थ, २ ग्रह, ३ वायु, ४ अन्तरिक्ष, ५ सूर्य, ६ आकाश मण्डल (ईथर) की किरणें, ७ उपग्रह, ८ तारागण। ये वसु (निवास) इस लिए कहाते हैं,

* देखो स्वामी दयानन्द सरस्वती की वेद भूमिका पृ० ६६।

कि प्राणधारियों का सारा समूह इन में बसता है, अर्थात् वे उस सब का वास हैं जो जीता है, क्रिया करता है, या अस्तित्व रखता है। ११ रुद्र हैं, इन में से दश तो नाड़ियों की शक्तियाँ कि जिन से नर-देह जीवित है और ग्यारहवाँ जीवात्मा है। ये रुद्र इसलिये कहाते हैं, कि जब वे शरीर को छोड़ते हैं, तो यह मर जाता है और मृतक के संबन्धी इस त्याग के कारण रोने (रुद् रोने धातु से) लगते हैं। बारह आदित्य बारह सौर मास हैं, जो कि काल की गति को जनाते हैं। उनका नाम आदित्य इस लिए है, कि वे अपनी गोल गति द्वारा सब पदार्थों में परिवर्तन उत्पन्न करते हैं और इसी कारण प्रत्येक पदार्थ की जीवन अवधि समाप्त होती है। इन्द्र सर्वत्रव्यापक विद्युत् या क्रिया है। प्रजापति यज्ञ (या अग्नि सिद्ध्यर्थ मनुष्य-सम्पादित गतिमान्, विचारोत्पन्न पदार्थों की संगति, या दूसरे पुरुषों से पठन पाठनार्थ संगति) है। इसका अर्थ उपयोगी पशु भी है। यज्ञ और उपयोगी पशुओं को प्रजापति कहते हैं, क्योंकि ऐसे ही कर्मों और ऐसे ही पशुओं द्वारा समस्त संसार अपने जीवन के पदार्थों को उपलब्ध कर रहा है। शाकल्य पूछता है, "फिर वह तीन देवता कौन से हैं?" याज्ञवल्क्य कहता है वे तीन लोक (अर्थात् स्थान, नाम और जन्म) हैं। उसने पूछा कि 'दो देवता कौन हैं?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि प्राण (धन पदार्थ) और अन्न (ऋण पदार्थ)। फिर वह पूछता है कि 'अध्यर्ध' क्या वस्तु है? याज्ञवल्क्य उत्तर देता है कि "अध्यर्ध जगत् को धारण करने वाला सार्वत्रिक विद्युत् है। यह सूत्रात्मा कहलाता है।" अन्ततः उसने जिज्ञासा की, 'एक देवता कौन है?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया "सबका इष्ट उपास्यदेव परमेश्वर।"

इन्हीं ३३ देवों का वेदों में वर्णन है। आओ देखें कि हमारा व्यवच्छेद हमारे कारण से कार्य की ओर आने वाले तर्क से प्राप्त परिणाम के साथ कितना मिलता है। शतपथ ब्राह्मण में परिगणित आठ वसु स्पष्ट ही अवकाश = (स्थान) हैं; ग्यारह रुद्र एक जीवात्मा और दस नाड़ी जन्य शक्तियाँ हैं जिन को स्थूल रीति से मनकी प्राणभूत चेष्टायें समझ सकते हैं; बारह आदित्य काल के अन्तर्गत हैं; विद्युत् सर्व-व्यापिनी शक्ति है, और प्रजापति यज्ञ या पशु के अन्तर्गत मोटे तौर पर मन की गम्भीर और विज्ञ चेष्टाओं के विषय समझे जाते हैं।

इस प्रकार से ३३ देवता हमारे स्थूल विभाग के छः तत्वों के अनुरूप

होंगे। क्योंकि यहां उद्देश्य सामान्य अनुकूलता दिखाना है न कि विस्तार की सूक्ष्मता, इस लिए छोटे २ भेद उल्लेख से छोड़े जा सकते हैं।

अब यह स्पष्ट है कि देतवा का जो व्याख्यान यास्क करता है, वही एक ऐसा व्याख्यान है जो कि वेदों और ब्राह्मणों से अविरुद्ध है। पुरातन आर्यों की पवित्र एकेश्वर पूजा के सम्बन्ध में कुछ भी सन्देह शेष न रहे, इस लिए हम पुनः निरुक्त का वचन उद्धृत करते हैं:—

महाभाग्याद्देवताया एक आत्मा बहुधा स्तूयते एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यंगानि भवन्ति। कर्मजन्मान आत्मजन्मान आत्मैवैषांरथो भवति आत्माऽश्वा आत्मायुधमात्मेषव आत्मा सर्वं देवस्य देवस्य॥ निरुक्त, ७, ४।

"अन्य सब देवों को छोड़कर केवल एक परमात्मा ही है जिसकी अपनी सर्वशक्तिमत्ता के कारण उपासना की जाती है। दूसरे देवता तो केवल इस परमात्मा के प्रत्यंग हैं अर्थात् वे परमेश्वर की महिमा के एक २ अंश को ही प्रकट करते हैं। ये सब देव अपना जन्म और बल उसीसे प्राप्त करते हैं। उसीमें उनकी लीला है। उसीके द्वारा उपयोगी गुणों को आकृष्ट कर और हानिकारक गुणों को परे हटा करके अपने सुखप्रद प्रभावों को काम में लाते हैं। वही तो सब देवों का सर्वस्व है।"

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट होगया होगा कि जहां तक उपासना का सम्बन्ध है पुराने आर्य केवल एक परमात्मा की ही उपासना किया करते थे, उसे ही वे जीवन, और उसे ही संसार का प्रतिपालक और शयनागार समझते थे। इस पर भी धर्म्मपरायण ईसाई धर्म्मप्रचारक तथा और भी अधिक धर्म्मपरायण ईसाई भाषातत्ववेत्ता संसार के सामने यह असत्य फैलाते हुए कभी नहीं थकते कि वेद अनेक देवी देवताओं की पूजा की शिक्षा देते हैं। आर्यावर्त्त में एक ईसाई पादरी लिखता है:—

"एकेश्वरवाद एक ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास का नाम, और अनेक देवताओं की अनेकता में विश्वास का नाम अनेकेश्वरवाद है। मैक्समूलर कहता है "यदि हमें पारिभाषिक शब्दों का ही प्रयोग करना पड़े, तो वेद का मत अनेकेश्वरवाद है, एकेश्वरवाद नहीं।" ऋग्वेद के प्रथमाष्टक का २७वाँ सूक्त इस प्रकार समाप्त होता है: "बड़े देवताओं के लिए नमस्कार, छोटों के लिए नमस्कार, युवकों के लिए नमस्कार, वृद्धों के लिए नमस्कार; जहां तक हो सकता है हम अच्छे प्रकार देवताओं की पूजा करते हैं: मैं ज्यायस (पुराने) देवताओं की स्तुति को न भूलूँ।" *

* जान मरडक, 'धार्मिक संशोधन,' भाग ३ वैदिक हिन्दूइज्म।

धर्मपरायण ईसाई वेदों के मत के विषय में अपने कथन को इन शब्दों में समाप्त करता है। "अद्वैतवाद और अनेकेश्वरवाद प्रायः मिला दिए जाते हैं, परन्तु शब्द का सत्यार्थ लेते हुए, एकेश्वरवाद तो हिन्दू धर्म्म में मिलता ही नहीं।" पुनः वही पुण्यात्मा पादरी कहता है :-जैसा कि पहले कह आये हैं, राम मोहन राय ने वेदों के सूक्तों का निरस्कार किया, वह उपनिषदों को ही वेद कहता था, और समझता था कि वे एकेश्वरवाद सिखाती हैं। छान्दोग्य का वाक्य "एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म" केशवचन्द्रसेन से भी अङ्गीकृत हुआ। परन्तु इस का यह अर्थ नहीं कि कोई दूसरा ईश्वर नहीं प्रत्युत दूसरी कोई वस्तु है ही नहीं—यह एक सर्वथा भिन्न सिद्धान्त है।"

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि (परमात्मा के सत्य से परिपूर्ण) ईसाई, एकेश्वरवाद को न केवल वेदों में से ही प्रत्युत उपनिषदों में से भी बाहर निकाल दिया चाहते हैं। ये लोग निम्नलिखित प्रकार के अनुवादों के बल पर अपनी स्थिति को सुरक्षित और दुर्भेद्य भले ही समझें :—

"आरम्भ में हिरण्यगर्भ (सुवर्णाण्ड) उत्पन्न हुआ-वह इस सब का एक उत्पन्न हुआ स्वामी था। उस ने पृथिवी और आकाश की प्रतिष्ठा की :—वह कौन ईश्वर है कि जिसे हम अपनी हवि चढ़ायें?" मैक्स मूलर।

"वह जो प्राण देता है, वह जो बल देता है, जिस के शासन का चमकीले देवता सत्कार करते हैं; जिसकी छाया अमृत है, जिसकी छाया मृत्यु है :—कौन ईश्वर है कि जिसे हम अपनी हवि चढ़ावें?" तथैव।

हिरण्यगर्भ अर्थात् 'परमात्मा जिस में कि सारा प्रकाशमान जगत् उपपन्नावस्था में रहता है, उसका यहाँ सुवर्णाण्ड अनुवाद किया गया है। जातः शब्द अपने यथार्थ सम्बन्ध से तोड़ा गया है और पतिः से अन्वित किया गया है, इस प्रकार इस से "इस सबका एक उत्पन्न हुआ स्वामी" अर्थ लिया गया है। कदाचित् इस ईसाई अनुवाद में एक गम्भीर अर्थ है। किसी दिन और वह दिन अधिक दूर नहीं, ये ईसाई आविष्कार करेंगे कि सुवर्णाण्ड का अर्थ है 'पवित्रात्मा से गर्भ में आया हुआ' और 'इस सबका एक उत्पन्न हुआ स्वामी' यीशु खीष्ट की ओर संकेत करता है। उन आगामी मंगल दिनों में से किसी एक दिन, वेद का यह मन्त्र, एक अंधकारमय सुदूर-भूत में एक खीष्ट (जिसे कि प्राचीन लोग नहीं जानते थे) के आगमन की भविष्यद्वाणी के बोधक के रूप में उद्धृत किया जायगा। तब वे उसे निगूढ प्रश्न की भाषा के अतिरिक्त और कैसे पूज सकते थे? इसी लिए यह अनुवाद हुआ "कौन ईश्वर है कि जिसे हम अपनी हवि चढ़ायें?" सराह्

मन्त्र भी जिसका मैक्समूलर कृत अनुवाद हम ऊपर दे चुके हैं, एक भ्रष्ट ईसाई द्वारा अन्य प्रकारेण अनुवादित हुआ है जिसका मैक्स मूलर ने "वह जो प्राण देता है" ऐसा अनुवाद किया है। उसीका इस ईश्वर वचन विश्वासी ने, "वह जिस ने अपने आप को बलि दान किया (अर्थात् यीशु खीष्ट) अर्थ किया है।" संस्कृत के मूल शब्द हैं।

'य आत्मदा'

आओ, हम इन मन्त्रों और ईसाईयों के अनृत व्याख्यानों को छोड़ कर वेदों में एकेश्वरवाद के स्पष्ट प्रमाणों की ओर आयें। हम ऋग्वेद में वही मन्त्र पाते हैं जिससे कि हरिवर्षीय व्याख्याता सुवर्णाण्ड अर्थ निकालते हैं। वह इस प्रकार है।

हिरण्यगर्भः समवर्त्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्। स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

"परमात्मा सृष्टि के आरम्भ में विराजमान था, वह अनुत्पन्न भूतों का एक ही स्वामी है। वही नित्य सुख है उसी की हम स्तुति और भक्ति करें।"

यजुर्वेद १७, १९ में हम यह पाते हैं—

विश्वतश्चक्षुरुतविश्वतो मुखो-विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्। संबाहुभ्यां धमति संपतत्रैर्द्यावाभूमीजनयन्देव एकः॥

सर्वद्रष्टा, सर्वशक्तिमान्, और सर्व अन्तःक्रियावान् होते हुए, वह अपनी शक्ति से सारे संसार को स्थिर रखता है, और आप एक अद्वितीय है—और अथर्ववेद १३, ४, १६–२१ में हम यह पाते हैं—

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते..

स एष एक एक वृदेक एव। सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति॥

ईश्वर न दो हैं न तीन, न चार......................न ही दश। वह एक है और केवल एक और सारे जगत् में व्यापक है। अन्य सब पदार्थ उसी में जीते, चलते और अपनी स्थिती रखते हैं।

अध्यापक मोनियर विलियम्स साहब

की

' इण्डियन विज़डम ' नामक पुस्तक की आलोचना ।

भूमिका ।

*..

हम उपोद्घात, भूमिका और वेदों की समालोचना का उल्लेख कर चुके हैं। अब हम ब्राह्मणों और उपनिषदों पर आते हैं। बहुत ही प्राचीन पारमार्थिक और धार्मिक पुस्तकों को भी यहाँ स्थान दिया गया है। वे २१ पृष्ठों में समाप्त हुई हैं। फिर छः दर्शन—न्याय, सांख्य, वैशेषिक, योग, पूर्वमीमांसा, और वेदान्त—आते हैं। यह प्रकरण ७८ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। इसके बाद जैन मत और भगवद्गीता का वर्णन है। भगवद्गीता को, बड़ी सच्चाई के साथ, उद्धारक दर्शन कहा गया है, पर मोक्ष के तीन राजमार्गों—सांख्य मार्ग, योग मार्ग, और भक्ति मार्ग—को भी बराबर वैसा ही क्यों नहीं स्वीकार किया गया। इसके लिए २८ पृष्ठ दिए गए हैं। अब हम वेदाङ्गों अर्थात् शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, छन्द, और ज्योतिष पर आ पहुँचते हैं। इसके लिए ४० पृष्ठ दिए गए हैं। इसके बाद स्मृतियां आती हैं, ये ११४ पृष्ठों में समाप्त हुई हैं। मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति की सविस्तर समालोचना हुई है। ग्रन्थकार इनसे अपना अच्छा परिचय दिखलाता है। मनु और याज्ञवल्क्य में वह अनेक दोष दिखलाता है। इसके उपरांत रामायण और महाभारत का वर्णन है। इन पुस्तकों के बहुत बड़ी होने के कारण इन महाकाव्यों के लिए पुस्तक के १४० पृष्ठ अर्पित किये गये हैं। पीछे के नाटक, और पुराण इत्यादि केवल सरसरी दृष्टि के ही पात्र हैं। वे ७० पृष्ठों में समाप्त हुए हैं। सबका संक्षेप यह है:—

	पृष्ठ
उपोद्घात और भूमिका	४८
वेद	२६
ब्राह्मण और उपनिषद्	२१
षड्दर्शन	७८

* इन पिछले कतिपय शब्दों को छोड़कर कोई ३ पृष्ठ का हस्तलेख नहीं मिला:— "जिसमें दूसरे लेखकों के लंबे लंबे उद्धरणों और अनुवादों से भरा हुआ ग्रन्थकार का मन्तव्य है।"

इससे यह बात स्पष्ट है कि कम से कम संस्कृत के विषय में ग्रन्थकार का अध्ययन विशाल, उसकी जानकारी विस्तीर्ण, और उसका ज्ञान सार्वत्रिक है। हमारे लिए यही अच्छा है कि ऐसे स्रोते से जितनी जानकारी मिल सके उतनी अवश्य ले लें, क्योंकि ऐसे सुयोग नित्य नहीं मिला करते, वे बड़े ही असाधारण और दुष्प्राप्य होते हैं। जितना अधिक हम पुस्तक का पर्यवेक्षण करते हैं उतना ही अधिक उसके अभिप्राय और विषय को जानने के लिए मन अधीर होता है। इस जानकारी को अब मैं अधिक देर तक छिपाये न रक्खूंगा। अब मैं सीधा पुस्तक के लक्ष्य, विषय, और अभिप्राय की ओर आता हूं।

अपने उपोद्घात के पृष्ठ ३ पर अध्यापक मोनियर विलियम्स लिखते हैं:—

"यह पुस्तक एक आवश्यकता को पूरा करने के लिए लिखी गई है। इस आवश्यकता का अस्तित्व मुझे उस प्रश्न से ज्ञात हुआ है जोकि मुझसे बोडन प्रोफेसर के तौर पर बार बार पूछा जाता है:—क्या कोई ऐसी पुस्तक है जिस एक के अध्ययन से ही संस्कृत साहित्य के रूप और विषयों का अच्छा स्थूल ज्ञान प्राप्त होसके ?"

आगे चल कर वे कहते हैं:—

"इस पुस्तक का एक और उद्देश भी है। इसमें मैं भारतवर्ष के धार्मिक तथा दार्शनिक साहित्य के अंशों के अनुवादों और विवरणों के द्वारा शिक्षित अँगरेज़ों को हिन्दुओं की बुद्धि, विचार-शैली, और रीति रिवाजों का परिचय, और विश्वास तथा आचरण की एक ऐसी पद्धति का यथार्थ ज्ञान प्रदान करना चाहता हूँ जोकि गैर-ईसाई जगत् में एक प्रधान धर्म के रूप में लगातार कम से कम ३००० वर्ष तक प्रचलित रही है और जो अब तक भी विद्यमान है।"

फिर भूमिका के पृष्ठ ३६ पर लिखा है:—

"इस लिए इन पृष्ठों का एक उद्देश यह भी है कि ईसाई धर्म और भारत में प्रचलित संसार के तीन बड़े २ झूठे धर्मों के बीच भेद बताया जाये।" (कृपया ज़रा—'झूठे' शब्द पर ध्यान दीजिए।)

फिर भूमिका के पृष्ठ ३८ पर लिखा है:—

"इसलिए मुझे प्रतीत होता है कि इन चार धर्म्मों—ईसाई धर्म्म, मुसलमानी धर्म्म, ब्राह्मण धर्म्म, और बौद्ध धर्म्म—की आपस में तुलना करते हुए इस बात की कड़ी परीक्षा कि इनमें से कौनसा सच्चा नारायणी धर्म्म है (क्योंकि चारों में से केवल एक ही ईश्वरीय सत्य धर्म हो सकता है और वही—यदि वह मनुष्य मात्र के साझे पिता ने अपने सकल सृष्ट भूतों के कल्याण के लिए अलौकिक रीति से भेजा है—सब कहीं फैलने का अधिकारी है) इन दो प्रश्नों के उत्तर में होनी चाहिये:—पहला—प्रत्येक का अन्तिम उद्देश क्या है? दूसरा—किन साधनों और किस कर्त्ता के द्वारा यह उद्देश सिद्ध होता है?"

इस लिए यह स्पष्ट है कि पुस्तक के उद्देश ये हैं:—

पहला—एक पुस्तक में संस्कृत साहित्य के विषयों और गुणों से सामान्य परिचय कराना।

दूसरा—अँगरेज़ों के लिए हमारे आचार, स्वभाव, रीति-रिवाज, संस्था और विश्वास का एक चित्र, विकृत चित्र या मिथ्या वर्णन नहीं, प्रत्युत एक सत्य चित्र बनाना, क्योंकि यह चित्र हमारे धार्मिक ग्रन्थों के अंशों के अनुवादों और विवरणों से तैयार किया जायगा!!

तीसरा—ईसाई और गैर-ईसाई धर्म्मों के बीच ऐक्य की बातों का दिखलाना।

चौथा—कि इस्लाम, बौद्ध धर्म्म और ब्राह्मण धर्म्म (अन्तिम पर तनिक ध्यान दीजिए) ये तीन संसार के झूठे धर्म्म हैं—या केवल ईसाई धर्म्म ही एक सच्चा धर्म है।

पांचवां—कि ईसाई धर्म्म, ब्राह्मण धर्म्म, इस्लाम, और बौद्ध धर्म्म इन चार में से केवल एक ही सच्चा नारायणी धर्म्म हो सकता है।

छठा—कि ईश्वरीय सच्चाई जिसे कि मनुष्य मात्र के साझे पिता ने अलौकिक रीति से दिया है (याद रहे यह सच्चाई ईसाई धर्म्म है) सब कहीं फैलने का अधिकार रखती है।

सातवाँ—कि पहले यह सच्चाई केवल वही धर्म्म है जो इस प्रश्न—अन्तिम उद्देश या लक्ष्य क्या है?—का ठीक उत्तर देता है। और दूसरे कि केवल यह निर्मल सचाई या ईसाई धर्म्म ही वह सच्ची कल्पना पेश करता है जिसके द्वारा सबका सामान्य लक्ष्य या उद्देश पूरा होसकता है।

अध्यापक मोनियर विलियम्स के अभियोग की पिछली चार बातें कहाँ तक ठीक हैं यह पुस्तक के शेषभाग में अभी ज्ञात होजायगा।

पहली बात के उत्तर का संक्षेप से स्थूल वर्णन पुस्तक की परिगणना में पहले ही दिया जाचुका है। मैं केवल इतना ही जतला देना चाहता हूँ कि चार पुस्तकों का, जो वेदों से नीचे केवल दूसरे दर्जे पर समझी जाती हैं और जिन्हें सामान्य तौर पर उपवेद कहा जाता है, सारी सूची में कहीं भी उल्लेख नहीं। विशेष तौर पर इन्हीं पुस्तकों के विषयों पर तुलना से भारतीय और पश्चिमीय सभ्यता के विषय में सच्चा मत बनाया जासकता है। इन चार पुस्तकों के नाम ये हैं—अर्थवेद, धनुर्वेद, आयुर्वेद, और गन्धर्ववेद। अर्थवेद वह उपवेद है जिसमें व्यावहारिक यंत्रगति शास्त्र (Applied Mechanics), एञ्जिनियरिङ्ग, चित्रलेखन (Perspection), व्यावहारिक कलायें (रासायनिक और भौतिक), और भूगर्भ विद्या का ज़िक्र है। आयुर्वेद वह उपवेद है जिसमें शस्त्रवैद्यक (सर्जरी), वनस्पति विद्या, शरीरशास्त्र सम्बन्धी रसायन विद्या, शरीरव्यवच्छेद विद्या (अनाटोमी), शरीर विद्या, भैषज्यविज्ञान (मटीरिया मेडीका), रसायन शास्त्र और विष की चिकित्सा का वर्णन है। गन्धर्ववेद सङ्गीत या ललित कला का उपवेद है, और धनुर्वेद सैनिक यंत्रों, सैनिक उपकरण और व्यूहरचना की विद्या है।

दूसरी बात प्रयोजनीय है। इसकी भी मौके पर समालोचना होगी। इन व्याख्यानों में यह दिखलाया जायगा कि अध्यापक मोनियर विलियम्स कहाँ तक हमारे धर्म-ग्रन्थों के अंशों का मिथ्यावर्णन पेश करते, या ठीक अनुवाद करते या गलत अनुवाद करते हैं, या सच्ची टीकायें या बनावटी टीकायें पेश करते हैं।

तीसरी बात की आलोचना इन समालोचनाओं के अन्त में पूरे तौर पर की जाएगी।

अब हम भूमिका के विषय को लेते हैं।

इसमें तीन बातों का ज़िक्र है। पहले तो यह भूत और वर्तमान अवस्था का खाका खींचती है। इसके प्रधान भाग में भारत की अतीत अवस्था का भौगोलिक, राजनीतिक, और ऐतिहासिक खाका है। यह खाका या स्थूल वर्णन वह है जिसके सत्य होने की कथन-मात्र इतिहास-वेत्ता और भाषातत्त्व-वेत्ता लोगों ने कल्पना की है। मेरी आलोचना के दायरे से यह सब बाहर है। परन्तु एक बात जो बताने योग्य है वह वर्ण व्यवस्था पर उनकी अपनी राय है।

अपनी भूमिका के पृष्ठ २४ पर वे कहते हैं:—

" उन ज़िलों में भी जहाँ कि हिन्दुओं को एक ही नाम से पुकारा जाता है और जहाँ वे एक ही भाषा बोलते हैं वे अलग २ श्रेणियों में बँटे हुए हैं। इन

श्रेणियों को एक दूसरे से अलग करने वाली जाति पाति की रुकावट है। इस रुकावट का उल्लङ्घन करना योरुप के सामाजिक भेद से भी अधिक कठिन है" इत्यादि, इत्यादि। "वास्तव में, यह भिन्नता उनके धर्म्म का एक आवश्यक सिद्धांत है। भारतीय वर्ण-व्यवस्था की उत्पत्ति इन असाधारण लोगों के इतिहास में शायद सबसे अधिक अद्भुत बात है। सामाजिक संस्था के रूप में वर्ण-व्यवस्था, अलबत्ते, सभी देशों में पाई जाती है। इस संस्था का अर्थ समाज में मनुष्यों के दर्जों को अलग २ करने वाले आचारसिद्ध नियम हैं। इन अर्थों में वर्ण-व्यवस्था का इङ्गलेण्ड में कुछ कम अधिकार नहीं। परन्तु हम में वर्ण-व्यवस्था कोई धार्मिक संस्था नहीं।"

"इस के विपरीत, यद्यपि हमारे धर्म्म में पदवी-भेद की आज्ञा है पर वह हमें यह सिखलाता है कि परमेश्वर की पूजा में ऐसे भेद सब दूर कर देने चाहिएँ, और कि भगवान् की दृष्टि में सभी मनुष्य समान हैं। पर हिन्दुओं की बात इस से सर्वथा भिन्न है। हिन्दुओं का विश्वास है कि परमेश्वर ने मनुष्यों को असमान बनाया है, पशु और पक्षियों की जातियों की तरह ही उस ने मनुष्यों की भिन्न भिन्न जातियाँ पैदा की हैं; ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र का भेद जन्म से है और वे अवश्य एक दूसरे से अलग अलग रहने चाहिएँ, और कि किसी हिन्दू को वर्ण-व्यवस्था के नियम तोड़ने पर बाध्य करना मानों उसे परमेश्वर और उस की प्रकृति के विरुद्ध पाप करने पर बाध्य करना है।"

इस के पश्चात् अध्यापक मोनियर विलियम्स बताते हैं कि भारत में वर्ण-व्यवस्था का आधार ये बातें हैं:—१, भोजन बनाना; २, अन्तर्जातीय विवाह; ३, व्यवसाय। यदि बोडन प्रोफेसर अपने व्यक्तिगत अवलोकन से या इस विषय पर विविध लेखकों के दिए हुए भारत-वृत्तान्त के आधार पर ये बातें कहते तो हमें एक भी शब्द कहने की आवश्यकता न होती, लेकिन बोडन प्रोफेसर महोदय "हमारे (उन का अभिप्राय उन के अपने या उन की जाति के से है) प्रभुत्व में सौंपे हुए लोगों के सन्तोषजनक ज्ञान" की एक मात्र चाभी धार्मिक संस्कृत साहित्य को समझते हैं। वे कहते हैं:—"सौभाग्य से, यद्यपि भारत में कम से कम बीस भिन्न भिन्न बोलियाँ प्रचलित हैं, पर वहाँ धार्मिक तथा विद्वानों की भाषा और साहित्य एक ही है जिस को कि सभी हिन्दू धर्म्म के मानने वाले, जाति, बोली, पदवी, और मत में भिन्न भिन्न होने पर भी, मानते और सन्मान की दृष्टि से देखते हैं।"

भारत के धार्म्मिक संस्कृत साहित्य के आधार पर ही वे अपनी राय देते हैं। अब हम देखते हैं कि यह राय कहाँ तक दुरुस्त है। अध्यापक महाशय कहते हैं:—

१—भारत में वर्ण-व्यवस्था एक धार्म्मिक संस्था है परन्तु इङ्गलेण्ड में यह केवल एक सामाजिक संस्था है। हमारे देश भाइयों के लिए इस बात का नोट कर लेना अच्छा होगा कि बोडन प्रोफेसर इङ्गलेण्ड में भी जाति पाति का अस्तित्व स्वीकार करते हैं।

२—कि ईसाई धर्म्म के अनुसार परमेश्वर की दृष्टि में सब लोग समान हैं, पर ब्राह्मण धर्म्म में, परमेश्वर मनुष्यों को असमान समझता है, या

३—कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य जन्म से हैं, और

४—कि केवल एक ही वर्ण के लोग आपस में खाते, विवाह करते, और एक ऐसे व्यवसाय करते हैं; ये तीन वर्ण-व्यवस्था की कसौटियाँ हैं।

दूसरी बात के विषय में, कि ब्राह्मण-धर्म्म के अनुसार परमेश्वर मनुष्यों को असमान समझता है, मैं यजुर्वेद के २६वें अध्याय का दूसरा मन्त्र पेश करता हूँ :—

यथेमां वाचं कल्याणीमावदानि जनेभ्यः ब्रह्मराजन्याभ्याᳮ शूद्राय चार्याय च स्वाय चारणाय च। प्रियो देवानां दक्षिणायै दातुरिह भूयासमयं मे कामः समृध्यतामुप मादो नमतु।

इस का अर्थ यह है कि "मैं (परमेश्वर) यह कल्याणकारिणी अर्थात् संसार और मुक्ति के सुख देनेहारी ऋग्वेदादि चारों वेदों की वाणी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र बल्कि अति शूद्र आदि सभी लोगों के लिए देता हूँ। इस लिए अपने बीच किसी को भी असमान न समझो, किन्तु सभी विद्वानों के प्रिय बनने और सभी लोगों को दान देने का यत्न करो, और सदा सभी की समृद्धि की कामना करो।"

मन्त्र बहुत स्पष्ट है। मैंने इसे यह दिखलाने के लिए उद्धृत किया है कि बोडन प्रोफेसर की पहली स्थिति सर्वथा भित्तिहीन है। अब हम उन की इस बात को लेते हैं कि भारत में वर्ण-व्यवस्था एक धार्मिक संस्था है, सामाजिक संस्था नहीं। सुनिए कोई संस्था धार्मिक उस समय कहलाती है जब कि उस संस्था के भेदों का रखना धर्म्म की दृष्टि से आवश्यक हो। लेकिन धन, विद्या, और व्यवसाय की भिन्नताओं के आधार पर स्थित सभी भेद सामाजिक भेद हैं।

अच्छा ज़रा मनु देखिए:—विप्राणां ज्ञानतो ज्यैष्ठ्यं क्षत्रियाणान्तु वीर्य्यतः। वैश्यानां धनधान्यतः शूद्राणामेव जन्मतः॥ इस का अर्थ यह है ब्राह्मणों में ज्ञान से, क्षत्रियों में शारीरिक बल से, वैश्यों में धनधान्य से, और केवल शूद्रों

में ही जन्म से भेद पाया जाता है। शायद मोनियर विलियम्स मेरे और मनु के भाव को गलत समझें, और इन प्रमाणों के होते हुए भी यह कहें कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, और वैश्य जन्म से ही होते हैं, इस लिए मैं मनु के और प्रमाण देता हूँ:-

शूद्रो ब्राह्मणतामेति ब्राह्मणश्चैति शूद्रताम् ।
क्षत्रियाज्जातमेवन्तु विद्याद्वैश्यात्तथैव च ॥

इस का अर्थ यह है कि शूद्र ब्राह्मण और ब्राह्मण शूद्र बन सकते हैं, और इसी प्रकार क्षत्रियों और वैश्यों का हाल है।

फिर मनु कहते हैं, " जन्मना जायते शूद्रः संस्काराद्भवेद्द्विजः " अर्थात् सब लोग जन्म से शूद्र होते हैं लेकिन संस्कारों द्वारा या गुण कर्म स्वभाव के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय इत्यादि बन जाते हैं।

चौथी बात मोनियर विलियम्स ने यह कही है कि इकट्ठे खाना, आपस में विवाह करना, और व्यवसाय का एक होना एक वर्ण के लक्षण हैं। इन तीन में से केवल दूसरा ही ध्यान देने के योग्य है, क्योंकि यदि व्यवसाय का एक होना कोई तत्त्व हो तो मोनियर विलियम्स के लिए इङ्गलेण्ड के स्कूलों और कालजों के सभी अध्यापकों को एक ही वर्ण का समझना वैसा ही न्यायसंगत होगा। यही बात खान पान की भी समझ लीजिए। इकट्ठे खाने पीने का मनु ने घोर निषेध किया है। यह निषेध भिन्न भिन्न वर्णों के लोगों के लिए ही नहीं, बल्कि सभी व्यक्तियों के लिए है।

मनु कहते हैं :—

नोच्छिष्टं कस्यचिद्दद्यात् नाद्याच्चैव तथाऽन्तरा ।
न चैवात्यशनं कुर्यान्नोच्छिष्टः क्वचिद् व्रजेत् ॥ १ ॥

किसी मनुष्य को किसी दूसरे मनुष्य के साथ एक ही थाली में न खाना चाहिए, न ही किसी को विना बाहर खाना, और खाने के बाद विना हाथ धोये बाहर भाग जाना चाहिए।

इस लिए यह बात बिलकुल निर्विवाद है। अब केवल अन्तर्विवाह की बात रहगई। हम यहां फिर मनु का प्रमाण देते हैं :—

सवर्णाग्रे द्विजातीनां प्रशस्ता दारकर्मणि ।
कामतस्तु प्रवृत्तानामिमाः स्युः क्रमशो वराः ॥
शूद्रैव भार्या शूद्रस्य सा च स्वा च विशः स्मृते ।
ते च स्वा चैव राज्ञश्च ताश्च स्वा चाऽग्रजन्मनः ॥

अर्थात् प्रथम विवाह का सब से उत्तम प्रकार वह है जिस में नर और नारी दोनों एक ही वर्ण (जिसे भूल से जाति कहा जाता है) के हों, परन्तु

शूद्र स्त्री को केवल शूद्र से और वैश्य स्त्री को वैश्य से विवाह करना चाहिए। क्षत्रिय को केवल शूद्रा, वैश्या और क्षत्रिया से, और ब्राह्मण को किसी से विवाह करना चाहिए।

इस से विदित होता है कि वैश्या स्त्री के ब्राह्मण के साथ विवाह करने की आज्ञा है और यही हाल दूसरे वर्णों का है। अध्यापक मोनियर विलियम्स की प्रतिज्ञा थी कि वर्ण-व्यवस्था भारत में एक धार्म्मिक संस्था है परन्तु इङ्गलेण्ड में यह एक सामाजिक संस्था है। हम ने यह सिद्ध कर दिया है कि वर्ण-व्यवस्था धार्मिक संस्था नहीं बल्कि अन्य देशों की भाँति एक सामाजिक संस्था है। उन की प्रतिज्ञा थी कि ब्राह्मण-धर्म्म में परमेश्वर सब मनुष्यों को असमान समझता है परन्तु हम ने प्रमाणित कर दिया है कि वह ऐसा नहीं करता। उन का कथन था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जन्म से होते हैं। हम ने साबित किया है कि वे नहीं किन्तु शूद्र हैं। अन्त में उन्होंने कहा था कि व्यवसाय का एक होना, अन्तर्विवाह, और इकट्ठा खान पान एक वर्ण के विशेष लक्षण हैं। हम ने दिखलाया है कि यह बात नहीं। अब हम अध्यापक के अपूर्व पाण्डित्य के द्योतक इस विषय को छोड़ कर हिन्दुओं के धर्म्म पर उन की भूमिका के दूसरे भाग को लेते हैं।

वे कहते हैं कि किसी धर्म्म की जाँच करते समय उस की तीन बातों को देखना चाहिए—१. विश्वास, २. कर्म्म या अनुष्ठान, ३. सिद्धान्त या सिद्धान्त विषयक ज्ञान। वे पिछली दो बातों—विश्वास और कर्म्म या अनुष्ठान—को धर्म्म का लौकिक पक्ष; और सिद्धान्तों तथा सिद्धान्त-विषयक ज्ञान को उस का अलौकिक पक्ष कहते हैं। इस भेद की स्थापना के उपरान्त वे कहते हैं कि अलौकिक लक्ष्य-बिन्दु की दृष्टि से हिन्दू धर्म्म मायावाद है। वे कहते हैं:—

"यह (हिन्दू-धर्म्म) सिखलाता है कि वास्तव में विश्वात्मा के सिवा और किसी भी वस्तु का अस्तित्व नहीं; प्रत्येक व्यक्ति का आत्मा उस विश्वात्मा से अभिन्न है; प्रत्येक व्यक्ति का सब से उच्च लक्ष्य यह होना चाहिये कि वह सदा के लिए, करने, रखने और होने से छूट जाये, और वह ऐसा आध्यात्मिक ज्ञान लाभ करने के लिए अपने आप को गम्भीर चिन्तन में मग्न करे जिस से कि उस का एक भिन्न अस्तित्व रखने का भ्रम मात्र दूर हो जाये; और वह अपने ऊपर इस विश्वास को ठूँसे कि मैं उस सत्ता का एक अंश हूं जिस से कि यह सारा विश्व बना हुआ है।"

हम दिखायँगे कि हमारे संस्कृत के बोडन प्रोफेसर की प्रतिज्ञायें कहाँ तक ठीक हैं। वे कहते हैं कि हिन्दूधर्म्म ये बातें सिखाता है:—

१. कि विश्वात्मा के सिवा संसार में दूसरी वस्तु और कोई नहीं।

२. कि प्रत्येक व्यक्ति इस आत्मा से अभिन्न है।

३. कि प्रत्येक मनुष्य का लक्ष्य करने, रखने और होने से छूट जाना होना चाहिए।

४. कि प्रत्येक आत्मा को अपने भिन्न अस्तित्व में होने से स्वतन्त्र हो जाना चाहिए।

५. कि प्रत्येक आत्मा उस आत्मा का एक अंश है जिससे कि विश्व ब्रह्माण्ड बना हुआ है।

आओ अब हम इन पाँच प्रतिज्ञाओं की पड़ताल करें।

उनकी पहली प्रतिज्ञा यह है कि विश्वात्मा के सिवा संसार में दूसरी वस्तु और कोई नहीं। मैं यहाँ एक उपनिषद् का प्रमाण देता हूं:—

अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां स्वरूपाः।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः॥

अर्थ यह है कि "ईश्वर, प्रकृति, और आत्मा ये तीन अनादि पदार्थ हैं, इनको कभी किसी ने उत्पन्न नहीं किया। अनादि आत्माएँ भौतिक शरीरों में फँसी होने के समय अनादि-प्रकृति का उपभोग करती हैं। परन्तु तीसरा अनादि पदार्थ, ईश्वर, सदा रहता है लेकिन न ही वह भौतिक शरीर धारण करता है और न ही भौतिक जगत् का उपभोग करता है।" यहां यह कहा गया है कि न केवल एक विश्वात्मा का ही अस्तित्व है बलिक प्रकृति और जीवात्माएँ भी वैसे ही अनादि काल से मौजूद हैं। यदि इस विषय में अधिक प्रमाणों की आवश्यकता हो तो और भी दिए जा सकते हैं, परन्तु मेरा विचार है कि एक ऊपर का ही प्रमाण पर्याप्त होगा।

विलियम्स साहब की दूसरी प्रतिज्ञा यह है कि प्रत्येक आत्मा विश्वात्मा से अभिन्न है। यहां हम बृहदारण्यक उपनिषद् का प्रमाण देते हैं:—

य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोन्तरोऽयमत्मा न वेद यस्यात्माशरीरम्।
आत्मनोऽन्तरो यमयति स त आत्मान्तर्याम्यमृतः॥

महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी स्त्री मैत्रेयी से कहते हैं कि "हे मैत्रेयि! जो परमेश्वर आत्मा अर्थात् जीव में स्थित और जीवात्मा से भिन्न है, जिस को मूढ़ जीवात्मा नहीं जानता कि वह परमात्मा मेरे में व्यापक है, जिस परमेश्वर का जीवात्मा शरीर अर्थात् जैसे शरीर में जीव रहता है वैसे ही जीव में परमेश्वर व्यापक है, जीवात्मा से भिन्न रहकर जीव के पाप पुण्यों का साक्षी होकर उनके फल जीवों को देकर नियम में रखता है वही अविनाशी स्वरूप तेरा भी अन्तर्यामी आत्मा अर्थात् तेरे भीतर व्यापक है उसको तू जान।"

विलियम्स साहब की तीसरी प्रतिज्ञा ब्राह्मण-धर्म के विषय में यह है कि यह प्रत्येक मनुष्य को करने, होने और रखने से छूट जाने का उपदेश

करता है। मैं यहां यजुर्वेद के ४०वें अध्याय से प्रमाण देता हूं:—

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतँसमाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे॥

इसका अर्थ यह है कि प्रत्येक मनुष्य को कर्म्म करते हुए अपना जीवन व्यतीत करना चाहिए और सदा पुण्य कर्म्म करने चाहिएं। इस प्रकार उसे १०० या इससे अधिक वर्षों तक जीने की कामना करनी चाहिए। केवल इस प्रकार ही पाप और दुःख से छूटना सम्भव है। भाव यह है कि कर्म्मों अथवा उत्तम कर्म्मों का करना सबसे पहली आवश्यक बात है।

विलियम्स की चौथी प्रतिज्ञा यह है कि प्रत्येक को अपने भिन्न अस्तित्व का भ्रम दूर कर देना चाहिए। मुझे इसका उत्तर देने की आवश्यकता नहीं क्योंकि यह स्पष्ट है कि परमेश्वर को जीवात्मा से भिन्न मान लेने से भिन्न अस्तित्व का भाव एक भ्रम नहीं रह जाता, और जब यह भ्रम नहीं तो फिर इसका दूर करना उचित नहीं।

पाँचवीं प्रतिज्ञा यह है कि प्रत्येक जीवात्मा उस सत्ता का एक अंश है जिससे कि विश्वब्रह्माण्ड बना हुआ है। यदि इस विषय में कुछ कहने का प्रयोजन ही है तो इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि एक नहीं बल्कि उपनिषदों के अनेक मन्त्रों में विश्वात्मा को अवयव-रहित, अकाय, निराकार, और अखण्ड माना गया है। परमेश्वर के कोई अवयव नहीं इसलिए यह विश्वास करना कि अखण्ड विश्वात्मा के जीवात्मा अंश हैं सदा असंगत है।

तब इस अद्वैतवाद का, जो कि किसी विश्वास, कार्य या अनुष्ठान की आवश्यकता को स्वीकार नहीं करता, भारत में पाए जाने वाले विश्वासों, असंख्य कार्यों या अनुष्ठानों से मेल कराने के लिए विलियम्स एक भ्रांतिजनक तर्क घड़ लेते हैं। इस कुतर्क को संस्कृत न्याय की परिभाषा में छल कहते हैं। वे कहते हैं कि परमेश्वर को जीवात्माओं से अभिन्न मान लेने से, हिन्दू यह विश्वास करने लगे हैं कि जीवात्मायें सर्वथा परमेश्वर से निकली हैं। अँग्रेजी भाषा और अँग्रेज़ी मस्तिष्क शायद अभिन्नता को निकास के साथ गड़बड़ कर सकें, परन्तु, जब तक इसका कोई स्पष्ट प्रमाण न दिया जाए, मैं विलियम्स की प्रतिज्ञा के युक्तियुक्त होने के विषय में कुछ नहीं कह सकता।

अब मैं भूमिका के तीसरे भाग अर्थात् भारत की भाषाओं को लेता हूँ। मोनियर विलियम्स कहते हैं:—

"संस्कृत नाम, जैसा कि इस का प्रयोग हिन्दुओं की प्राचीन भाषा के लिए होता है, एक अत्यन्त कठिन भाषा की कृत्रिम संज्ञा है। इस भाषा को पहले पहल आर्य जाति की भारतीय शाखा भारतवर्ष में लाई थी। यह

मौलिक बोली आर्य्यों से पूर्व की आदिम जातियों की बोलियों के संसर्ग से शीघ्र ही रूपान्तरित हो गई, और इस प्रकार परिवर्तित होकर उन आर्य प्रवासियों की विशिष्ट भाषा बनगई जोकि पञ्जाब और उस के आस पास के प्रान्त की सात नदियों (सप्त सिन्धवा=ज़िन्द में हप्त हेन्दू) के पड़ोस में आकर बसे थे। इस प्रकार सांचे में ढल कर हिन्दुओं की वाणी बनी हुई इस मौलिक भाषा के लिए सब से योग्य नाम हिन्दु-ई (=सिन्धु-ई) है। इस का पीछे का प्रधान विकास हिन्दी * है, जिस प्रकार कि एङ्गल और सैक्सन लोगों की निम्न-जर्मन बोली ब्रिटन देश में रूपान्तरित होकर ऐङ्गलो-सेक्सन कहलाने लगी थी। परन्तु बहुत शीघ्र भारत में वही हुआ जो कि सारे सभ्य देशों में हुआ है। बोल चाल की भाषा, इस के प्रचलित रूप और गुण के एक बार प्रतिष्ठित हो जाने पर, दो शाखाओं में विभक्त हो गई, एक को तो विद्वानों ने यत्नपूर्वक कठिन बना दिया, और दूसरी को अपढ़ों ने सर्व प्रिय और विविध रूप से प्रान्तिक बना दिया। परन्तु भारत में, थोड़ी सी शिक्षित समाज के अशिक्षितों से बिलकुल अलग रहने, सर्व साधारण की घोर अविद्या, और अभिमानी ब्राह्मणों की ज्ञान की चाभी को अपने ही हाथ में रखने की कामना के कारण इन शाखाओं की भिन्नता ज़ियादा स्पष्ट, ज़ियादा पृथक्, और ज़ियादा प्रचण्ड होती गई। इसी लिए, खुद व्याकरण ही जिसे कि दूसरी जातियाँ साध्य के लिये एक साधन समझती हैं, भारतीय पण्डितों में एक साध्य समझा जाने लगा, और उस के गिर्द परिभाषाओं की काँटेदार बाड़ लगाकर उसे एक जटिल विद्या बना दिया गया। भाषा भी व्याकरण के साथ साथ कठिन बनादी गई। इस ने अपना स्वाभाविक नाम हिन्दू-ई या 'हिन्दुओं की बोली' छोड़कर एक कृत्रिम संज्ञा अर्थात् संस्कृत या पूर्ण रीति से बनाई हुई 'बोली' (सम=विशेष, कृत=बनाई हुई) ग्रहण की, जिस से उस का अशिष्ट कर्मों से पूर्ण पार्थक्य, और उस का केवल धर्म्म और साहित्य के लिए समर्पण प्रकट हो; और सामान्य बोली को प्राकृत नाम दिया गया, जिस का अर्थ 'मौलिक' और 'व्युत्पन्न' बोली दोनों है। यह खुद अद्भुत व्यापार है: क्योंकि यद्यपि योरुप में भी इसी प्रकार का पार्थक्य होता रहा है, लेकिन हम वहां यह नहीं

* कई लोग यह खयाल करते है कि यह बोली वेद-मन्त्रों की भाषा से प्रायः अभिन्न थी, और यह पिछली भाषा बहुधा यथार्थ प्राकृत रूप पेश करती है -(जैसा कि कृत के लिए कुत); लेकिन वैदिक संस्कृत भी ऐसी बड़ी बड़ी कठिनाइयां उपस्थित करती है जिन से इसे एक सरल मौलिक बोली मानने में सङ्कोच होता है, (उदाहरणार्थ, Intensives जैसे व्याकरण के जटिल रूपों के प्रयोग में), और पाणिनि सामान्य भाषा और वैदिक भाषा में भेद करने के लिए पहली को केवल भाषा और दूसरी को छन्दस् (वेद) कहता है।

देखले कि लैटिन और ग्रीक भाषाओं ने विद्वानों की भाषायें बन जाने पर लैटिन और ग्रीक कहलाना छोड़ दिया हो । वे भी, ऐसे ही नाम हैं जैसे कि आधुनिक जाति की सामान्य बोली और साहित्यिक भाषा के हमारे और भिन्न भिन्न नाम हैं। "

यहाँ मोनियर विलियम्स छः भिन्न भिन्न प्रतिज्ञायें करते हैं।

१—कि संस्कृत (अच्छी तरह से बनी हुई) एक कृत्रिम संज्ञा है।

२—कि यह बहुत ही कठिन है।

३—कि इस का आदिम जातियों की भाषा द्वारा रूपान्तर हुआ था और इस से (आर्य) भाषा पैदा हुई थी।

४—कि व्याकरण इतना कठिन और महाश्रमसाधित है कि इसे एक साधन के स्थान में साध्य समझा गया था।

५—कि संस्कृत व्याकरण एक जटिल विद्या है जिसके इर्द गिर्द परिभाषाओं की एक काँटेदार बाड़ लगाई गई है।

६—कि प्राकृत का अर्थ मौलिक बोली है।

हम उस की प्रतिज्ञाओं को क्रम से लेंगे।

कोई संज्ञा कृत्रिम उस समय कहलाती है जब कि यह, इस से प्रकट होने वाले भाव के कारण नहीं, बल्कि, यों ही यथारुचि चुन ली गई हो। किसी जोन या मोनियर विलियम्स कहलाने वाले व्यक्ति के लिए जोन या मोनियर विलियम्स एक कृत्रिम संज्ञा है क्योंकि यह, उस व्यक्ति के किसी एक गुण या गुणों को नहीं प्रकट करती जिस का द्योतक कि मोनियर विलियम्स शब्द है। अच्छा, तो क्या फिर संस्कृत कोई कृत्रिम संज्ञा है? वे खुद ही स्वीकार करते हैं कि संस्कृत का अर्थ अच्छी तरह से बनाई हुई है। आओ देखें कि क्या संस्कृत अच्छी तरह से बनी हुई है*। ....

---

* इस के आगे का हस्तलेख नहीं मिलता—सम्पादक।

भूमिका सम्बन्धी कई व्याख्यान हुए थे। यह बात 'आर्य्य पत्रिका' के २४ जुलाई सन् १८८८ के लेख से ज्ञात होती है। वहां लिखा है "उन्हों ने अभी तक इस क्रम के तीन व्याख्यान दिए हैं। और अभी तक भूमिका ही समाप्त नहीं हुई।" यह तीनों व्याख्यान ४, ११, १८ जुलाई को प्रति बुधवार सायं ७½ बजे आर्य्य समाज मन्दिर में हुए थे। भगवद्दत्त।

अध्यापक मोनियर विलियम्स साहब

की
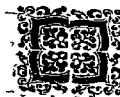
" इण्डियन विज़डम " नामक पुस्तक की आलोचना ।

पहला व्याख्यान ।

वेदों के सूक्त, (१)

मैं अब मोनियर विलियम्स के वेदों के सूक्तों पर व्याख्यान को लेता हूं। वे अपने व्याख्यान में प्राचीन हिन्दू ग्रन्थों की बहुत ही विख्यात धार्मिक, दार्शनिक, और नैतिक शिक्षाओं के दृष्टान्त देने की प्रतिज्ञा करते हैं। उन के लिए "संस्कृत साहित्य की प्रचुरता का यथेष्ट भाव" प्रकट करना कठिन है। वे शिकायत करते हैं कि मेरे पास प्रचुर परिमित सामग्री है, क्योंकि वे स्वीकार करते हैं कि मैं उस से ठीक तौर पर काम नहीं ले सकता । परन्तु हमें यह ख़याल नहीं कर लेना चाहिए कि मोनियर विलियम्स की प्रकृति का मनुष्य हिन्दू ग्रन्थों ऐसे प्रलाप के गुण कीर्तन में कभी बहुत ज़ियादा गरम हो सकता है। उन ग्रन्थों में बहुत ज़ियादा देखें नीरस पुनरुक्तियाँ, अतिरिक्त विशेषण, और क्लिष्ट कल्पनायें मिलती हैं। " *संस्कृत में वह ठण्डक और कड़ी सरलता नहीं मिलती जो कि* एक अंगरेज़ के ग्रन्थों में विशेष तौर पर पाई जाती है। वे इतने ठण्डे देश में रहते हैं जहाँ कि पूर्वीय शैली की गरमी कभी पैदा हो ही नहीं सकती। वे इङ्गलैण्ड के अन्दर इतनी घोर और सरल सभ्यता में घिरे बैठे हैं कि वहाँ भारत की नम्र परन्तु जटिल सभ्यता नहीं घुस सकती। ' हिन्दू ग्रन्थकार विशिष्टता को परिमाण से', और ' गुण को राशि से ' मापते हैं । परन्तु अध्यापक महाशय ' संक्षेप करने की उस कला पर जो कि संस्कृत साहित्य (उन का अभिप्राय सूत्रों से है) के कुछ अङ्गों में बड़ी सफलता पूर्वक विकसित की गई है ' आँखें बन्द नहीं कर सके। अपनी सम्मति का सूत्रों के अस्तित्व के साथ मेल करने के लिए अध्यापक विलियम्स एक कैफियत देते हैं । वह यह है, " सम्भवतः ख़ुद विस्तार ही, जो कि भारतीय लेखकों का स्वाभाविक गुण है, अपने विपरीत संक्षेप की चरम सीमा तक लेजाने वाला हुआ । यह संक्षेप केवल प्रतिक्रिया के नियम से ही नहीं, प्रत्युत बहुत अधिक बोझ से दब कर निर्बल हुई स्मरण-शक्ति को " सहायक और तेजस्कर औषध " देने के

प्रयोजन से हुआ "। अध्यापक विलियम्स का यह कथन सर्वथा सत्य होता यदि काल की दृष्टि से संस्कृत के वे ग्रन्थ जिन में विस्तार अधिक मिलता है सूत्र ग्रन्थों के पहले की रचना होते। वेदों को न गिनकर जो कि भारतीय साहित्य का उत्पत्ति स्थान हैं, उपनिषद्, उपवेद, और विशेषतः छः दर्शन भारत का संक्षिप्त साहित्य (सूत्र ग्रन्थ) कहला सकते हैं, और पीछे के उपन्यासों, नाटकों, पुराणों, वृत्तियों, और टीकाओं का नाम, विना किसी प्रकार के झूठ के, भारत का सविस्तर साहित्य रक्खा जा सकता है । अब उपनिषदों, या उपवेदों या दर्शनों की एक भी पंक्ति पुराणों और नाटकों आदि के बाद की लिखी हुई नहीं; अध्यापक विलियम्स खुद भी यह बात स्वीकार करते हैं । तब हम विलियम्स की इस प्रतिज्ञा का कि सूत्र ग्रन्थ प्रतिक्रिया के नियम का परिणाम हैं क्या अर्थ समझें ? क्या मोनियर विलियम्स का यह मतलब है कि क्रिया होने के बहुत समय पहले अर्थात् सविस्तर साहित्य लिखा जाने के बहुत समय पहले, प्रतिक्रिया अर्थात् सूत्र ग्रन्थों के लिखे जाने की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी ? इस न्याय के लिए मोनियर विलियम्स बड़ी ही प्रतिष्ठा के पात्र हैं क्योंकि उन के मतानुसार प्रतिक्रिया उस क्रिया के पहले होती है जिस की कि वह प्रतिक्रिया है । अलौकिक ईसाई धर्म्म को, जिस के अनुयायी कि मोनियर विलियम्स हैं. उन के रूप में एक बहुत ही सच्चा पक्षसमर्थक मिला है । ईसाई धर्म्म हमें पिता के विना पुत्र की उत्पत्ति स्वीकार करने को कहता है । लेकिन मोनियर विलियम्स यह मनाना चाहते हैं कि पिता के जन्म से भी बहुत समय पहले पुत्र मौजूद था । ज्यों ज्यों हम आगे चलेंगे, हम दिखलाते जायेंगे कि मोनियर विलियम्स की यह प्रतिज्ञा उन की आगे आने वाली प्रतिज्ञाओं के सामने कुछ भी चौंका देने वाली नहीं । उन की दूसरी युक्ति यह है कि प्राचीन लोगों ने दबकर निर्बल हुई स्मरण-शक्ति को सहायक और तेजस्कर ओषधियाँ देने के लिए ही संक्षिप्त रीति से लिखने की शैली निकाली थी । अब, महाशयगण, आप ही निष्पक्ष होकर न्याय कीजिए । स्मृति को दबाने और निर्बल करने वाली क्या चीज़ थी ? क्या उपनिषद्, उपवेद या ब्राह्मण ऐसा करने वाले थे ? यदि अध्यापक विलियम्स यह समझते हैं कि उपनिषदों, ब्राह्मणों या उपवेदों ने स्मृति को दबाकर क्षीण कर दिया तो उन्हें संस्कृत साहित्य का कुछ भी ज्ञान नहीं । बुद्धि का ह्रास और स्मृति की परतंत्रता आधुनिक सभ्यता का ही प्रसाद है । मैं यहाँ 'नेचर' नामक एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक पत्र के २५ जनवरी १८८३ ई० के अङ्क का प्रमाण उपस्थित करता हूँ :—

" विज्ञान के बहुत थोड़े विद्यार्थी ऐसे होंगे जो विज्ञान-सम्बन्धी साहित्य के सदैव बढ़ते रहने वाले प्रवाह का और अन्वेषण की विशेष तथा अपेक्षाकृत

परिमित शाखा में भी उस प्रवाह के साथ २ रहने की कठिनता का अनुभव करके व्याकुल न होते हों। यदि पुरानी सभायें और चिरप्रतिष्ठित सामयिक पुस्तकें ही अपनी २ चौथ देती रहें तो इस देश के सभी भागों और भूमण्डल के सभी देशों से आने के कारण, उनके लेख ही एक बड़े से बड़े उत्सुक उत्साही की शक्ति को थका देने के लिए पर्य्याप्त से अधिक होंगे। परन्तु प्रत्येक मोड़ पर नयी सभायें, नयी सामयिक पुस्तकें, नए स्वतन्त्र कार्य जारी हो रहे हैं, जहां तक कि मनुष्य निराश होकर एक परिमित विभाग के अतिरिक्त विज्ञान के अन्य विभागों में उसकी उन्नति के साथ २ रहने का यत्न छोड़ देने के लिए तैयार होजाता है।"

"इस शीघ्रता से बढ़ने वाले साहित्य की सबसे अधिक आश्चर्यजनक और उत्साह-भंजक बात इसके एक बहुत बड़े भाग की दरिद्रता या निःसारता है। एक सच्चा उत्साही विद्यार्थी, जो अपने आपको कम से कम उन बातों के साथ परिचित रखने का यत्न करता है जो कि विज्ञान के उसके अपने विभाग में होरही हैं, इस बात को पहचानने में क्रमशः ही, मानों स्वाभाविक ज्ञान द्वारा,निपुण बनता है कि कौन से पत्र उसके पढ़ने योग्य हैं और कौन से नहीं। लेकिन कितनी बार वह यह पूछता हुआ सुना जाता है कि क्या कोई ऐसा साधन नहीं जिसके द्वारा वैज्ञानिक साहित्य की धारा को उस वस्तु के निरन्तर पड़ते रहने के कारण जिसके लिए कि उसके पास कूड़ा करकट से बढ़कर अच्छा नाम और कोई नहीं, फूलने-और मैला होने से-बचाया जा सके।"

यदि इस विषय में अधिक साक्षी की आवश्यकता हो तो पाठक को चाहिए कि परिणामों की सत्यता की जांच के लिए शिक्षा की प्रचलित प्रणालियों का अवलोकन करे। कौन ऐसा व्यक्ति है जो परीक्षाओं में उत्तीर्ण होने के लिए ठूँसने की परमावश्यकता को न स्वीकार करता हो? कौन ऐसा व्यक्ति है जो इस सत्य घटना से इनकार करेगा कि आजकल गणित बल्कि दर्शन भी रटने या ठूँसने की शैली पर ही सीखे जाते हैं? केवल भारत ही इन कुरूपताओं से भरा हुआ नहीं। इङ्गलैण्ड की अवस्था इससे भी अधिक खराब है। वहां स्मरण-शक्ति की शिकायतों की पुकार इतनी बढ़ गई है कि क्षीण अँगरेज़ी स्मृतियों को सर्वनाश से बचाने के लिए अनेक अध्यापकों ने स्मृति-शिक्षा के लिए सर्वथा नवीन पाठशालायें स्थापित की है। तब क्या यह स्पष्ट नहीं कि साहित्य-प्रपंच, "विपुल वाग्विस्तार", और निःसारता तथा निर्गुणता, जिनकी मोनियर विलियम्स इतनी शिकायत करते हैं, उपनिषदों, उपवेदों, और दर्शनों के रचयिताओं के स्वाभाविक, सरल, और बलवर्धक,-

लेखों की अपेक्षा आधुनिक सभ्यता की उनकी अपनी ही छावनी में अधिक पाई जाती हैं। इसको साबित करने के लिए मैं यहां प्रसिद्ध उपवेद, सुश्रुत का प्रमाण देता हूं।

"सूक्ष्माहि द्रव्यरस गुण वीर्य्य विपाक दोष धातु मलाशय मर्म्मसिरा स्नायुसन्ध्य अस्थि गर्भसम्भवद्रव्यसमूहविभागास्तथा प्रनष्टशल्योद्धरण व्रण विनिश्चय भग्न विकल्पाः साध्ययाप्यप्रत्याख्येयता च विकाराणामेवादयश्चान्ये विशेषः सहस्रशोये विचिन्त्य माना विमल विपुल बुद्धेरपि बुद्धिमाकुली कुर्य्युः किम्पुनरल्पबुद्धेः तस्मादवश्यमनुपदपादश्लोकार्धश्लोकमनुवर्णयितव्यमनुश्रोतव्यञ्च ॥" अध्याय ४ ॥

इस का अर्थ यह है—"विविध शरीर-शास्त्र सम्बन्धी विषय जिन को द्रव्य, रस, गुण, वीर्य्य इत्यादि कहा जाता है कई दफे बड़े २ निर्मल बुद्धि वाले विद्वानों को भी चकरा देते हैं। इस लिए चिकित्सा शास्त्र के प्रत्येक विद्यार्थी को चाहिए कि इन सिद्धान्तों को समझने या जानने के लिए अपनी बुद्धि को लगाए, और चिन्तन करे।" अधिक प्रमाण देने की कोई ज़रूरत नहीं क्योंकि इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि उपनिषद्, निरुक्त, उपवेद और दर्शन सब के सब बुद्धि के लिए हैं, और शिकायत यह नहीं कि वे याद नहीं हो सकते बल्कि यह है कि उन से प्रायः निर्मल-मस्तिष्क वाली बुद्धियाँ भी चकरा जाती हैं। इस लिए यह स्पष्ट है कि संस्कृत का संक्षिप्त किया हुआ साहित्य (अर्थात् सूत्र ग्रन्थ) प्रतिक्रिया का फल नहीं, और न ही वह स्मरण-शक्ति के लिए सहायक या तेजस्कर औषध है, बल्कि वह बुद्धि या समझने की शक्तियों से काम लेने की आवश्यकता का अनुभव कराता है।

अध्यापक विलियम्स, इस सर्वथा गौण बात को छोड़कर, यथार्थ विषय की ओर आते हैं। विषय का वर्णन करने के पहले केवल एक बार ही वे एक निष्पक्ष लेखक की तरह, संसार के दूसरे धर्म्मों का पक्षपात से रहित होकर न्यायपूर्वक अध्ययन करने का आदेश करते हैं। मैं पक्षपातशून्य और न्याय-प्रिय ईसाई अध्यापक मोनियर विलियम्स का फिर प्रमाण पेश करता हूं जिस से उनकी न्यायप्रियता और पक्षपातशून्यता को समझने में भूल न हो:—

"क्योंकि, क्या यह न मान लिया जाय कि मनुष्य-जाति को दी हुई मौलिक सचाई के चिन्हों की प्रत्येक धर्म्म में, चाहे वह धर्म सड़ा गला ही क्यों न हो, यत्नपूर्वक तलाश होनी चाहिए, ताकि जिस समय भी सजीव चिट्टान का कोई खण्ड मालूम होजाए उसी समय इर्द गिर्द इकट्ठे हुए भूल के सारे ढेर को उलटा देने के लिए एक दम उससे खम्भे का काम लिया जा

सके ? हर हालत में, यह बात युक्तियुक्त मानी जायगी कि यदि गिरते हुए धर्मों के सड़े हुए शरीर की भित्ति में कोई सत्य या निर्दोष वस्तु दिखलाई न जासके, तो इस प्रकार कम से कम ईसाई धर्म की सचाई अधिक स्पष्ट रीति से प्रकट हो सकेगी और मुकाबिले मे इस के गुण अधिक सुव्यक्त हो जायँगे।"

मोनियर विलियम्स साहब को ना-सड़ते हुए बल्कि सजीव ईसाई धर्म सम्बन्धी आशाओं के साथ एक ओर रखकर, अब हम यथार्थ विषय की ओर आते हैं। अध्यापक विलियम्स यह स्वीकार करते हैं कि "ईश्वरीय ज्ञान की भावना यद्यपि निश्चित रीति से ग्रीक और रोमन लोगों में कभी भी उत्पन्न नहीं हुई, पर हिन्दुओं को पूरी तरह ज्ञात है।" परन्तु जिन अर्थों में बायबल को ईसाई और कुरान को मुसलमान ईश्वरीय ज्ञान समझते हैं वेद उन अर्थों में ईश्वरीय ज्ञान नहीं।

कुरान "एक पुस्तक है जोकि प्रत्यक्ष एक लेखक की रचना है और जो रमज़ान के मास में अलक़द्र की रात को पूरी की पूरी आकाश से उतरी थी।" "बायबल की पुरानी पुस्तक तर्गम नामक चलडी भाषान्तरों और टीकाओं से सुसज्जित हुई।" परन्तु, अध्यापक विलियम्स कहते हैं कि "वेद शब्द का अर्थ ज्ञान है: वेद एक परिभाषा है जिसका प्रयोग ईश्वरीय अलिखित ज्ञान के लिए होता है। इस ईश्वरीय ज्ञान के विषय में यह कल्पना कर ली गई है कि स्वयंभू परमात्मा के मुख से यह साँस की तरह निकला था, और किसी एक मनुष्य को नहीं, प्रत्युत ऋषियों की एक सारी श्रेणी को ही दिया गया था। इस प्रकार प्राप्त किए हुए ज्ञान को उन्होंने आगे फैलाया—लिख कर नहीं, बल्कि कान में सुनाकर, निरन्तर वाचिक पुनरुक्ति से, एक गुरु परंपरा के द्वारा जोकि ब्राह्मण होने के कारण अपने को इस ज्ञान के सच्चे आदाता प्रकट करते थे।...........इस के अतिरिक्त, जब अन्त को, इस की निरन्तर वृद्धि से, यह इतना जटिल बन गया कि इसका वाचिक संचार कठिन प्रतीत होने लगा तब इस वेद ने अपने आपको, कुरान के समान, एक ग्रन्थखण्ड में नहीं, प्रत्युत निबंधों की एक पूर्ण माला में विभक्त कर लिया। इन निबंधों की रचना वास्तव में अनेक शताब्दियों के अन्दर भिन्न भिन्न समयों पर कई एक भिन्न २ कवियों और लेखकों द्वारा हुई थी।

मोनियर विलियम्स यहां ये प्रतिज्ञायें करते हैं:—

१. कि वेद वास्तव में स्वयंभू परमात्मा से सांस की तरह निकला हुआ आलिखित ज्ञान है।

२. कि वेद ऋषियों की एक सारी श्रेणी को दिये गये थे।
३. कि वे बराबर बदले रहे, इसी से वे अब लिखित पुस्तकाकार में पाये जाते हैं।
४. कि वेद ऐसे निबंधों की एक माला है जिन की रचना अनेक शताब्दियों के अन्दर भिन्न समयों पर कई एक भिन्न २ कवियों और लेखकों द्वारा हुई थी।

हम अध्यापक विलियम्स की प्रतिज्ञाओं को एक २ करके लेंगे। उनकी पहली प्रतिज्ञा यह है कि वेद वस्तुतः स्वयंभू परमात्मा से सांस की तरह निकला हुआ अलिखित ज्ञान है। अब क्या अध्यापक विलियम्स कल्पना करते हैं कि लिखित ज्ञान भी कभी कोई वस्तु हो सकती है? परन्तु यहाँ यह बात स्पष्ट समझ लेनी चाहिए कि मैं यहाँ लिखित ज्ञान का कथन कर रहा हूँ ज्ञान को लेकर लिखने का नहीं। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यापक विलियम्स यह समझ रहे हैं कि वेदों का यह एक घोर दोष है। उनका यह विचार मालूम होता है कि ईसाइयों का इश्वरीय ज्ञान, सफ़ेद कागज़ पर काली स्याही से लिखा होने के कारण, निबद्ध है; और यही बात मुसलमानों की है क्योंकि उनकी पुस्तक भी अपने वर्तमान आकार में आकाश से उतरी थी। इसलिए वे कल्पना कर लेते हैं कि ईसाइयों के पास एक निश्चित ईश्वरीय ज्ञान है, एक ऐसी नियत वस्तु है जिसे वे अपनी पवित्र पुस्तकें कहकर लोगों को दिखला सकते हैं, परन्तु वेद अलिखित ज्ञान होने के कारण कोई स्पर्शनीय, या वास्तविक, य· कोई निश्चित पदार्थ नहीं। इस विषय में उनकी सरासर भूल है, यदि भूल नहीं, तो उनमें दार्शनिक शिक्षा की भारी कमी है। क्योंकि, वेदों के अलिखित ज्ञान होने से, मैं पूछता हूँ—क्या कोई ऐसी वस्तु हो सकती है जिसे दार्शनिक यथार्थता के साथ लिखित ज्ञान कह सकें? इस विषय को अधिक स्पष्ट कर देते हैं। ईश्वरीय ज्ञान केवल वहां तक ही ईश्वरीय ज्ञान है जहां तक कि इसका किसी व्यक्ति पर प्रकाश हुआ हो। बायबल को ईश्वरीय ज्ञान बताया जाता है, इसलिए इसका किसी पर प्रकाश हुआ था। ईश्वरीय ज्ञान केवल वहां तक ही ईश्वरीय ज्ञान है जहां तक कि इसका बुद्धि पर प्रकाश हुआ है अर्थात् जहां तक उस व्यक्ति को जिस पर कि इसका प्रकाश हुआ है प्रकाशित तथ्यों का प्रत्यक्ष रूप से ज्ञान हो जाता है। बायबल को ईश्वरीय ज्ञान मान कर यह स्वीकार करना होगा कि कोई व्यक्ति ऐसा था जिस पर इस का प्रकाश हुआ, और कोई व्यक्ति ऐसा था जिस को इस ईश्वरीय ज्ञान के विषयों की अभिज्ञता प्राप्त हुई। क्या यह उस की प्रकाशित तथ्यों की अभिज्ञता किसी प्रकार प्रकाशित तथ्यों के ज्ञान से पृथक

है ? यदि नहीं, तो फिर बायबल एक ज्ञान है, और जिस हद तक यह ज्ञान उस व्यक्ति की अभिज्ञता में था जिस पर कि इसका प्रकाश हुआ था, जो कि शब्द ईश्वरीय ज्ञान का सच्चा अर्थ है, यह अलिखित ज्ञान था। इस प्रकार, तब, बायबलीय ईश्वरीय ज्ञान भी अलिखित ज्ञान है, और अध्यापक विलियम्स अपने आपको इस भँवर-जाल से बाहर नहीं निकाल सकते कि या तो बायबलीय ईश्वरीय ज्ञान एक अलिखित ज्ञान है और उस अवस्था में किसी प्रकार वेदों के ईश्वरीय ज्ञान से, जो स्वयं भी अलिखित ज्ञान है, भिन्न नहीं, या बायबल केवल एक लेख है जिसका कि चेतनता ने अनुभव नहीं किया, प्रत्युत जो उसी प्रकार उतारा गया था जिस प्रकार कि कुरान मुहम्मद साहब पर उतारा गया था. मुहम्मद साहब स्वयं अपढ़ होने के कारण उसे समझते नहीं थे परन्तु उनको धर्म्म के प्रसार के निमित्त इस ज्ञान के प्रचारार्थ ईश्वर की ओर से विशेष आदेश और शक्ति मिली थी। इस अवस्था में फिर बायबल ईश्वरीय ज्ञान नहीं रह जाती। यह केवल एक लुप्त अर्थों वाले वचनों की पुस्तक है जो कुछ लोगों के द्वारा, जो कि स्वयं भी इसे नहीं समझते थे, अलौकिक रीति से भेजी गई थी। क्या अध्यापक विलियम्स इस कठिनता से बच सकते हैं ? बात असल में यह है कि वे लौकिक कट्टर ईसाई धर्म्म का गुणगान करना चाहते हैं, और इस बात से डर कर कि कहीं स्वधर्म्मभ्रष्ट और नास्तिक न कहलाने लगें वे उस भाव को ग्रहण करने की अपेक्षा जिससे कि वे धर्म्मभ्रष्ट समझे जायँ बायबल को एक लुप्तार्थ-वचन पुस्तक रहने देना स्वीकार करते हैं। और इस बात का निर्णय करना आपके हाथ में है कि यह मानना अधिक दार्शनिक है कि परमेश्वर ने एक बंद पुस्तक भेजी जो कि अखण्ड रूप में उतरी थी या यह मानना कि परमेश्वर केवल कुछ मनुष्यों की बुद्धियों में ज्ञान का प्रकाश करता है, और वे इस प्रकार ज्ञानालोक से उद्भासित होकर उस प्रकाशित ज्ञान को लिपिबद्ध कर देते हैं। इतना तो अध्यापक विलियम्स की पहली प्रतिज्ञा के पहले भाग के सम्बंध में हुआ।

अब हम दूसरे भाग की ओर आते हैं। इसका सम्बन्ध वेद के ईश्वरीय ज्ञान होने की रीति या वेद की उत्पत्ति के साथ है। वे कहते हैं:—

"वेद की उत्पत्ति के वर्णनों में बहुसंख्यक असामंजस्य हैं। १. एक वृत्तान्त उसे परमेश्वर से सांस की तरह, बिना किसी मन्त्रणा या विचार के, ईश्वर की शक्ति से निकला बताता है; २. दूसरा चारों वेदों को ब्रह्म से जलते हुये ईंधन से धूयें के समान निकला बताता है; ३, तीसरा उन्हें तत्वों से निकालता है, ४. चौथा गायत्री से; ५. अथर्ववेद का एक मन्त्र उन्हें काल से (अ० १९, मं० ५४) निकालता है; ६. शतपथ ब्राह्मण कहता है कि परमेश्वर तीन

लोकों पर विचार करता था, वहां से उसने तीन ज्योतियां, आग, हवा, और सूर्य उत्पन्न कीं, और इन में से ऋग्, यजु, और साम वेद क्रम से निकाले। मनु (१, २३) इसी की पुष्टि करता है; ७. पुरुष सूक्त में तीन वेद तांत्रिक बलि, पुरुष से निकाले गये हैं; ८. अन्ततः, मीमांसक वेद को स्वयं एक सनातन शब्द इसके मूलपाठ का उच्चारण या प्रकाश करने वाले से सर्वथा स्वतंत्र, और अनन्तकाल से, स्वतः विद्यमान विघोषित करते हैं। इस लिये वेद को प्रायः श्रुत अर्थात् सुना हुआ कहा जाता है। ९. इन सब के विपरीत, हमें ऋषि यह बारम्बार बता रहे है कि मंत्रों को स्वयं उन्होंने रचा था" ।

इस छोटे से प्रकरण में अध्यापक विलियम्स दिखाते हैं कि वेदों की उत्पत्ति के विषय में नौ भिन्न भिन्न परस्पर विरोधी कल्पनायें हैं। वे इन नौ कल्पनाओं को गिनकर यह समझते है कि मैंने वेदों के ईश्वरीय ज्ञान होने की भित्ति को विध्वंस कर दिया है। पर उन की यह भारी भूल है। वे, उच्च कोटि के संस्कृत साहित्य का तो कहना ही क्या, साधारण संस्कृत शब्दों से भी अपनी भारी अनभिज्ञता का परिचय देते हैं। सच्ची बात यह है कि न केवल कोई नौ परस्पर विरोधी कल्पनायें ही नहीं, प्रत्युत ये सब एक ही कल्पना हैं जिस को सदा से सभी प्राचीन वैदिक-लेखक मानते आये हैं। वेदों की उत्पत्ति के विषय में एक मात्र कल्पना यही है कि वेद ईश्वर से स्वतः सिद्ध प्रवृत्ति है, परमेश्वर की सहज बुद्धि और ज्ञान के सिद्धान्तों का इस संसार में अकामतः स्वाभाविक और अपूर्व निर्गम है। इसी एक एकरूप कल्पना की सर्वत्र पुष्टि की गई है। अब हम अध्यापक विलियम्स की गिनी हुई कल्पनाओं को एक एक करके लेते हैं।

वेद स्वयंभू परमेश्वर से सांस की तरह निकले। देखिये शतपथ (काण्ड १४, अध्याय ५) कहता है:—एवं वा अरेऽस्य महतोभूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वांगिरसः, इत्यादि।

इसका अर्थ यह है कि याज्ञवल्क्य मैत्रेयी के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहते हैं—" हे मैत्रेयि! वेद उस परमेश्वर से जो कि आकाश से भी बड़ा और ईथर से भी अधिक व्यापक है उसी प्रकार सहजतया उत्पन्न हुआ है जिस प्रकार कि मनुष्य-शरीर से सहजतया बिना श्रम के श्वास निकलता है।" वेद ईश्वर की सोच विचार और मन्त्रणा का फल नहीं जैसा कि अध्यापक विलियम्स अपने ईश्वरीय ज्ञान के लिए पसन्द करते हैं, क्योंकि सत्य के परमेश्वर और विश्व के परमेश्वर को, जो कि आर्यों का भी परमेश्वर है, मनुष्य-जाति को अपना ज्ञान देने का विचार उत्पन्न करने के लिए अपने मस्तिष्क को प्रचंड कम्पनों द्वारा व्यथित करने का प्रयोजन नहीं। जिस प्रकार सहज रीति से बिना श्रम के मनुष्य का श्वास शरीर के भीतर और बाहर

आता है उसी तरह बुद्धि और ज्ञान परमेश्वर से निकलते हैं। अदृष्ट की शक्ति जिस की ओर अध्यापक विलियम्स ने अपनी टीका में संकेत किया है ईश्वरीय ज्ञान को पाने वाले ऋषियों की वैदिक ज्ञान को ग्रहण करने की अदृश्य और आध्यात्मिक शक्ति से भिन्न और कुछ नहीं। इस लिये, यह तो पहले वृत्तान्त की बात हुई।

अब हम दूसरी पर आते हैं। इस के अनुसार वेद ब्रह्म से जलते हुए ईंधन से धूयें के समान निकलते हैं। अर्थ बहुत स्पष्ट है। अर्थात् ब्रह्म या परमेश्वर से वेद उसी सहज रीति से निकलते हैं जिस प्रकार की धूआं जलते हुए ईंधन से चुपचाप, निःशब्द, स्वभावतः विनाश्रम के निकलता है। प्रधान भाव वही है, परन्तु मोनियर विलियम्स की विकृत दृष्टि में यह पहले से असंगत दूसरा वृत्तान्त है।

तीसरी प्रतिज्ञा वेदों की उत्पत्ति तत्वों से बताती है। यहां मोनियर विलियम्स ने अनुवाद में भूल की है। जिस संस्कृत शब्द का अर्थ उन्होंने तत्व किया है वह भूत है। अब भूत का अर्थ तत्व नहीं प्रत्युत परमेश्वर है। भूतानि पदार्थानि विद्यन्तेऽस्मिन्निति भूतः—परमेश्वर इस लिये भूत कहलाता है क्योंकि सभी पदार्थ उस में विद्यमान हैं। इस भाव को प्रकट करने के लिए कि वेद अनादि काल से ईश्वरीय बुद्धि के गर्भ में वर्त्तमान हैं वेदों को भूत अर्थात् परमेश्वर से निकला हुआ कहा गया है। वह परमेश्वर ज्ञान स्वरूप, सर्व प्राचीन और अतीत पदार्थों अर्थात् सर्व सनातन सिद्धान्तों और तत्वों का आधार है। यह वर्णन किसी प्रकार भी पहले दो का विरोधी नहीं, प्रत्युत परमेश्वर के लिए भूत शब्द का काव्यमय प्रयोग उसी भाव को अधिक श्रेष्ठ रीति से प्रकट करता है।

चौथा बयान यह है कि वेद गायत्री से निकले हैं। यहां भी अध्यापक विलियम्स यह कह कर कि यह चौथा बयान पहले तीन से भिन्न और असंगत है वैदिक साहित्य से अपनी पूर्ण अनभिज्ञता का परिचय देते हैं। निघण्टु (अ० ३, खण्ड १४) में जो कि वैदिक परिभाषाओं का कोष है लिखा है—"गायति अर्चेनिकर्मा" तस्माद् गायत्री भवति। इस का अर्थ यह है कि गायति धातु अर्चनि (पूजन करना) का बोधक है। इस लिए सब के पूजन और आराधन के योग्य सत्ता (परमेश्वर) गायत्री कहलाती है। यही बात निरुक्त भी अपने सातवें अध्याय, तीसरे पाद और छटे खण्ड में कहता है—गायत्री गायतेः स्तुति कर्म्मणस्त्रिगमना वा विपरीता गायतो मुखादुदपतदिति च ब्राह्मणम्। इस लिए वेद गायत्री अर्थात् सब पूज्य और आराध्य देव परमेश्वर से निकले हैं।

अब उन्नीसवें अध्याय के पांचवें काण्ड के तीसरे मंत्र में उसी का पांचवां बयान आता है। कालादृचः समभवन् यजुः कालादजायत। इसका अनुवाद मोनियर विलियम्स इस प्रकार करते हैं मानो इसका अर्थ यह है कि ऋक् और यजुर्वेद काल से निकले हैं। यहां फिर हमारे संस्कृत के विद्वान् बोडन प्रोफेसर और पूर्वीय विद्याओं के जगद्विख्यात पंडित काल शब्द का अर्थ नहीं समझते। निघण्टु अध्याय २, खण्ड १४ में कहा है—"कालयति गतिकर्म्मा" तस्मात् कालः। जिस का अर्थ है कि जो आत्मा सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है वह काल कहलाता है। या कालयति संख्याति सर्वान् पदार्थान् स कालः अर्थात् वह अनन्त आत्मा जिस की तुलना से सारे पदार्थ परिमेय हैं काल कहलाता है। इसलिए काल उसी अनन्त सत्ता, उसी गायत्री परमेश्वर, या ब्रह्म, या स्वयंभू का नाम है जिस से उपर्युक्त पहले चार बयानों में वेदों की उत्पत्ति बताई गई है।

अब हम छटे पर आते हैं। शतपथ ब्राह्मण के वेदों की उत्पत्ति के वर्णन का अनुवाद करते हुए जैसी भारी भूल मोनियर विलियम्स ने की है उस से बढ़ कर उनकी और भूल नहीं हो सकती। इस बयान के अनुसार परमेश्वर तीन लोकों पर विचार करता रहा और वहां से उस ने तीन ज्योतियां—आग, हवा, और सूर्य—उत्पन्न कीं, जिन में से ऋक्, यजु, और सामवेद यथाक्रम निकाले गये। यहां विलियम्स की भूल यह है कि उन्होंने संस्कृत शब्दों के स्थान में अंग्रेज़ी शब्द—fire (आग) air (हवा) और sun (सूर्य)—रख दिये हैं। विलियम्स साहब का अपना ही अनुवाद यदि उस में उनके अपने अंग्रेजी शब्दों की जगह मूल संस्कृत शब्द कर दिये जांय तो इस प्रकार होगाः— सृष्टि का स्रष्टा परमेश्वर तीन लोकों पर सोचता रहा और वहां से उसने तीन ज्योतियां—अग्नि, वायु, और रवि—उत्पन्न कीं और उनसे वेद निकाले। अब ज्योति का अर्थ प्रकाश नहीं, प्रत्युत दीप्तिमान सत्ता, और अध्यात्मिक अवस्था अर्थात् श्रेष्ठ अवस्था वाला मनुष्य है। अग्नि, वायु और रवि आग, हवा, और सूर्य के नाम नहीं प्रत्युत तीन मनुष्यों के नाम हैं। तब इस वाक्य का अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर ने आरम्भ में शरीर उत्पन्न किये जिनको अग्नि, वायु, और रवि नामक तीन मनुष्यों की आत्मायें मिलीं। इन तीन ऋषियों, अर्थात् श्रेष्ठ अवस्था वाले अग्नि, वायु और रवि नामक मनुष्यों, के मन में परमेश्वर ने यथाक्रम ऋक्, यजु, और सामवेद के ज्ञान का प्रकाश किया। अब कहिए पहले बयानों का इससे किस अंश में विरोध है? विलियम्स साहब के कथन को मनु भी सिद्ध नहीं करता। मनु कहता है:—

अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्।
दुदोह यज्ञ सिद्ध्यर्थमृग् यजुः साम लक्षणम्॥

इसका अर्थ है कि इस संसार में जीवन के उद्देश की सिद्धि का ज्ञान प्रदान करने के लिए अग्नि, वायु, और रवि नामक तीन ऋषियों पर तीन वेदों-ऋक्, यजु, और साम—का प्रकाश किया गया था।

अब हम पुरुष-सूक्त के सातवें बयान को लेते हैं, जहां मोनियर विलियम्स के कथनानुसार, वेद तांत्रिक बलि, पुरुष, से निकाले गये हैं। मैं यहां पुरुष-सूक्त का मंत्र उद्धृत करता हूं:—

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद्यजुस्तस्मादजायत॥

इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि ऋक्, यजुः, साम, और छंदस् अर्थात् अथर्ववेद उस पुरुष से निकले हैं जो कि यज्ञ और सर्वहुत है। विलियम्स साहब इसका अनुवाद तांत्रिक बलि, पुरुष, करते हैं। परन्तु यह उनकी भूल है। पुरुष वह विश्वात्मा है जो सारी प्रकृति में व्यापक है। निरुक्त (अ० २, पाद १, खण्ड ५) कहता है:—

पुरुषः पुरिषादः पुरिशयः पूरयतेर्वा पूरयत्यन्तरित्यन्तरपुरुषमभिप्रेत्य।
यस्मात्परं नापरमस्ति किञ्चिद्यस्मान्नाणीयो न ज्यायोऽस्ति कश्चित्
वृक्ष इव स्तब्धो दिवि तिष्ठत्येकस्तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्व मित्यपि निगमो भवति।

इसका अर्थ यह है कि परमेश्वर को पुरुष इसलिए कहा जाता है क्योंकि वह पुरिषाद्य है अर्थात् वह विश्व में व्यापक और जीवात्मा के भी भीतर निवास करता है। इसी आशय में, यह कहते हुए कि परमेश्वर से श्रेष्ठतर, उससे पृथक्, उससे सूक्ष्मतर और उससे अधिक विस्तार वाला और कोई नहीं, वैदिक मंत्रों का प्रकाश हुआ है। वह सब को धारण करता है पर आप अचल है। वह केवल मात्र एक है। हां, वही एक आत्मा है जो सब में व्यापक है। इससे स्पष्ट है कि पुरुष का अर्थ परमेश्वर की विश्वात्मा है। अब हम दूसरे शब्द यज्ञ को लेते हैं। निरुक्त (अध्याय ३, पाद ४, खण्ड २) कहता है:—

यज्ञः कस्मात् प्रख्यातं यजतिकर्मेति नैरुक्ता याच्ञ्यो भवतीति वा यजुरुन्नो भवतीति वा बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवो यजूंष्येनं नयन्तीति।

अर्थ यह है—परमेश्वर का नाम यज्ञ क्यों है? क्योंकि वह प्रकृति की सारी शक्तियों का प्रधान परिचालक है; क्योंकि वही एक आराध्य देव है; और क्योंकि उसी को यजुर्वेद के मंत्र दिखलाते हैं। इसलिए विलियम्स द्वारा उद्धृत पुरुष-सूक्त के इस वचन का अर्थ यह है:—परमेश्वर से, जिसे पुरुष अर्थात् विश्वात्मा कहते हैं, और जो ऊपर दिये कारणों से यज्ञ भी कहलाता है; ऋक्, यजु, साम, और अथर्ववेद निकले हैं। आठवें, मीमांसक भेदों को

अनादि और स्वतः विद्यमान बतलाते हैं । यह विचार उपर्युक्त कल्पनाओं का किसी प्रकार भी विरोधी नहीं ।

और अन्ततः, विलियम्स कहते हैं—"हमें ऋषि बारम्बार बता रहे हैं कि मंत्रों को स्वयं उन्होंने रचा है ।" अध्यात्मवाद के इस युग में यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि ऋषियों की आत्मायें मोनियर विलियम्स के सन्मुख प्रकट हुई हों और उन्होंने तांत्रिक रीति से अध्यापक महाशय के कान में चुपके से कह दिया हो कि वेदों की रचना हम ने की है । परन्तु जहां तक स्वयं ऋषियों के ग्रन्थों से ज्ञात होता है, विलियम्स साहब की यह प्रतिज्ञा न केवल मिथ्या और भित्तिशून्य है प्रत्युत घोर हानिकारक और बहुत ही चिकन है । क्योंकि ऋषि लोग अपने आपको वेदों के रचयिता बिलकुल नहीं प्रकट करते । वे सब वेदों को अपौरुषेय, अर्थात् जो मनुष्यों की रचना न हो, मानते हैं । मैं यहां निरुक्त (अध्याय १, पाद ६, खं० ५) का प्रमाण उपस्थित करता हूं :—

साक्षात्कृतधर्म्माण ऋषयो बभूवुस्तेऽवरेऽभ्यो साक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्त्सम्प्रादुः ।

फिर निरुक्त अध्याय २, पाद ३. खण्ड २ में लिखा है :—

ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेत्यौपमन्यवस्तद्यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भवभ्यनर्षत्तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते ।

इसका अर्थ यह है कि ऋषि वे लोग थे जिन्होंने मंत्रों की सचाइयों का अनुभव किया, और जो तत्पश्चात् उन सचाइयों को न जानने वाले अपने दूसरे मनुष्य भाइयों को उनका ज्ञान कराने लगे । इसके आगे औपमन्यव कहता है कि ऋषि मंत्रों के रचयिता नहीं, प्रत्युत उनके द्रष्टा होते हैं ।

अब हमने विलियम्स साहब की पहली प्रतिज्ञा का थोड़े में ही उत्तर दे दिया है, इसी प्रकार दूसरी प्रतिज्ञा का भी अंशतः उत्तर दिया जा चुका है । विलियम्स साहब का यह कथन कि वेदों को मनुष्यों की एक पूरी श्रेणी ने जिन्हें कि ऋषि कहते हैं, बनाया है, सर्वथा प्रमाणशून्य है । उनको न केवल उनकी सारी श्रेणी ने ही नहीं बनाया प्रत्युत उस श्रेणी के किसी एक व्यक्ति ने भी नहीं बनाया । विलियम्स साहब के ऐसा समझने का कारण यह है कि वेदों का प्रत्येक मंत्र ये चार चीजें देता है—अपना छंद, स्वर, देवता, और ऋषि । ऋषि का नाम उस मनुष्य को जतलाता है जिस ने कि पहले पहल संसार में उस मंत्र के अर्थों का प्रचार किया ।

विलियम्स साहब की तीसरी प्रतिज्ञा यह है कि वेद बढ़ते रहे यहाँ तक कि वे इतने बड़े होगये कि उन को वर्तमान चार ग्रन्थों में विभक्त करने की आवश्यकता हुई । यहाँ भी मोनियर विलियम्स संस्कृत से अपनी अन-

भिन्नता का परिचय देते हैं क्योंकि वे समझते हैं कि वेदों के चार पुस्तकों में विभक्त होने का कारण उन के विषय की वृद्धि है, कोई न्यायसंगत और सुव्यवस्थित नियम नहीं। मैं पाठकों का ध्यान अपने उस लेख की ओर आकर्षित करता हूँ जो एक बार १३ जुलाई सन् १८८६ की आर्यपत्रिका में छपा था :—

" 'ऋक्' शब्द पदार्थों के गुणों, धर्म्मों, और उन से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं तथा प्रतिक्रियाओं का बोधक है। इसीलिए ऋग्वेद को यह नाम दिया गया है क्योंकि इस का काम सारे जड़ पदार्थों के भौतिक, रासायनिक, और प्रत्यक्ष विशेष गुणों का, तथा सारे मानसिक पदार्थों के आध्यात्मिक गुणों का वर्णन करना है। पदार्थों के ज्ञान के पश्चात् कर्म अर्थात् उस ज्ञान का किसी उद्देश के लिए प्रयोग होता है। वह उद्देश मनुष्य के लिए उस ज्ञान की उपयोगिता है। इसलिए ऋक् के पश्चात् यजुर्वेद है। यजु का अर्थ प्रयोग है। औद्योगिक और सार्वविषयिक शिक्षा के इस दुहरे नियम पर ही आर्यों की पाठ्य पुस्तकों, वेदों, का ऋक् और यजु में विभाग हुआ है।

जगत् के ज्ञान और उस ज्ञान के प्रयोग के उपरान्त, मानव-शक्तियों को संस्कृत और उन्नत करने का काम है। यह काम केवल ब्रह्म की सच्ची उपासना के द्वारा ही हो सकता है। सामवेद का काम उन मन्त्रों का उच्चार करना है जो मन को उन्नत करने वाले हैं। इस मानसिक उन्नति से मनुष्य श्रेष्ठ और ज्ञानालोक से दीप्तिमान हो जाता है।"

वेदों की उत्पत्ति के विषय में आर्यों का जो भाव है उस पर हमें हंसी नहीं उड़ानी चाहिए, क्योंकि उन के इस भाव की पुष्टि के लिए पर्याप्त कारण विद्यमान हैं। यह कोई नूतन भाव नहीं, हिन्दुओं की देव-माला भी इसी की पुष्टि करती है। यह देव-माला वैदिक आशय और अर्थ का केवल भ्रष्ट और गर्ह्य विकार है। पौराणिक देव-माला में सारी शिक्षा के औद्योगिक और सार्वविषयिक शीर्षकों में उदार और सार्वत्रिक भेद को सर्वथा भुला दिया गया है, और शेष सब चीज़ों की तरह इसे सुकेड़ कर उथले विचार का सङ्कीर्ण मूढ़विश्वासात्मक मंडल बना दिया गया है। वेद सार्वविषयिक और औद्योगिक विद्याओं की सार्वत्रिक पुस्तकें समझे जाने के स्थान में अब केवल धार्म्मिक विचार की ही संहिताएँ समझे जाते हैं। धर्म्म, मनुष्य-प्रकृति की समस्त कर्मोत्सुक प्रवृत्तियों का पथप्रदर्शक नियम ग्रहण किया जाने के स्थान में विशेष मन्तव्यों और पन्थों का पर्याय समझा जाता है। यही अवस्था ऋक् और यजुर्वेद की है। फिर भी आर्य विचार और बुद्धि के इस विकृत अवशिष्टांश—पौराणिक देवमाला—में वेदों का ऋक् और यजु, अर्थात्

सार्वविषयिक और औद्योगिक में विभाग ठीक ठीक तौर पर बना हुआ है। ऋक् का आशय आजकल विविध देवी देवताओं की स्तुति और वर्णन के गीतों और भजनों का संग्रह समझा जाता है; और यजु का अर्थ अब धार्म्मिक संस्कारों के प्रधान अङ्ग, अर्थात् अनुष्ठानों में पढ़े जाने वाले मंत्र हैं। आजकल के कथन-मात्र पण्डितों का ऐसा ही मत है।

अब हम विलियम्स साहब के वेदों के बयान को लेते हैं। वे कहते हैं कि वेदों के तीन भाग हैं—अर्थात् १. मंत्र, २. ब्राह्मण, और ३. उपनिषद्। अब हम इस तथ्य पर विचार नहीं करेंगे कि केवल मंत्र ही वेद हैं, ब्राह्मण और उपनिषद् नहीं, क्योंकि ब्राह्मण और उपनिषद् वेदों की टीकाएँ मात्र हैं। वे कहते हैं :—

"वे (विलियम्स के अनुसार वेदों के मंत्र-भाग) पांच मुख्य संहिताओं या मंत्र-सङ्ग्रहों में सम्मिलित हैं। इन संहिताओं के नाम क्रम से ऋक्, अथर्व, साम, तैत्तिरीय और वाजसनेय हैं।"

एक ही पूर्णविराम में विलियम्स साहब ने दो प्रतिज्ञायें की हैं :—

१. संहिता का अर्थ मंत्रों का संग्रह है।

२. ऐसे पांच संग्रह हैं—ऋक, अथर्व, साम, तैत्तिरीय और वाजसनेय।

संहिता का अर्थ संग्रह बताकर विलियम्स ने संस्कृत व्याकरण से अपनी अनभिज्ञता का दूसरा प्रमाण दिया है। पाणिनि (१. ४, १०७) कहता है—परः सन्निकर्षः संहिता, अर्थात् एक पद के दूसरे के साथ सन्निकर्ष का नाम संहिता है। इस भेद को स्पष्ट करने के लिए मैं पाठकों को पाणिनि का नहीं, प्रत्युत स्वयं पूर्वीय भाषाओं के इन पंडितों का प्रमाण देता हूँ। हाल ही में ऋग्वेद के दो संस्करण—१. संहिता पाठ और २. पद पाठ—प्रकाशित हुए हैं। दोनों मन्त्रों के संग्रह हैं, संहितायें नहीं। अब यदि संहिता का अर्थ मंत्रों का संग्रह होता तो मेक्समूलर अज्ञानतः अपना और अपने पण्डित भाई मोनियर विलियम्स का खण्डन कभी नहीं करते। उनकी दूसरी प्रतिज्ञा वेदों की संख्या के विषय में है। वाजसनेय संहिता ठीक वही वस्तु है जिसका नाम कि यजुर्वेद है; और तैत्तिरीय संहिता तो ब्राह्मण संहिता है और मंत्र-संहिता नहीं। क्या विलियम्स साहब से जबतक उनकी इच्छा संस्कृत शब्दों और संस्कृत साहित्य को बिगाड़ने की न हो, और जब तक उनकी चेतन कामना प्रत्येक वैदिक सचाई को ग़लत पेश करने और उसका द्रोहबुद्धि से अर्थ करने की न हो, कभी इससे भारी भूल कर सकते थे? हम आज तक वेदत्रयी और वेदचतुष्टयी तो पढ़ते रहे हैं, पर किसी ने, स्वयं विलियम्स साहब ने भी, कभी वेदपंचकम् सुना या पढ़ा नहीं। वास्तव में दूसरे पण्डितों के मौन या प्रोत्साहन ने विलि-

यम्स साहब को अत्यधिक दलेर बना दिया है, और संस्कृत साहित्य के विषय में एक भी ऐसा झूठ नहीं जिसको उनकी सर्वशक्तिमान् पवित्र लेखनी अंधों के अंधे अनुयायियों के लिए एक सप्रमाण सचाई में परिणत नहीं कर सकती। वेदों को प्रार्थनाएं, भजन, और स्तोत्र बताने के उपरान्त विलियम्स साहब एक और प्रश्न को ले बैठते हैं। इस को मै उन्हीं के शब्दों में बयान करता हूं।

"लोग पूछेंगे कि इन संग्रहों के स्तोत्र और प्रार्थनाएं किन देवी देवताओं के लिए थे? यह एक बड़ा मनोरंजक प्रश्न है, क्योंकि सम्भवतः ये वही देवी देवता थे जिनका हमारे आर्य पूर्वज अपने आदिम देश में पूजन करते थे। उनका यह देश मध्य एशिया की समस्थली पर, कदाचित् बुखारा प्रदेश में आक्सस नदी के स्रोत के कहीं निकट था। उत्तर यह है:—वे उन प्राकृतिक शक्तियों का पूजन करते थे जिन के सामने सभी जातियां, केवल प्रकृति के आलोक में मार्ग देखने के कारण अपने जीवन-प्रभात में अन्तःस्फूर्ति से शिर निवाया करती थीं, और जिनके सामने अधिक सभ्य और प्रबुद्ध लोग भी यदि पूजाभाव से नहीं तो भय और सम्मान से ही सदा बाध्य होकर झुकते रहे हैं।"*

*हस्तलेख नहीं मिलता—सम्पादक।

दूसरा व्याख्यान

वेदों के सूक्त (२)

अब हम खास वेदों पर मोनियर विलियम्स साहब की समालोचना को लेते हैं। इस विषय पर मोनियर विलियम्स का कथन यह हैं:—

"वेदों का यह एकत्व शीघ्र ही विविध शाखाओं में बिखर गया। केवल थोड़े से सूक्तों में ही एक स्वयंभू, सर्वव्यापक परमेश्वर की सरल कल्पना प्रतीत होती है, और उन में भी सारे जगत् में व्यापक एक परमेश्वर का भाव कुछ अनिश्चित और अस्पष्ट सा है। कदाचित् सब से प्राचीन और सुन्दर देवत्व प्राप्ति द्यौः अर्थात् आकाश की है जैसा कि द्यौः—पितर अर्थात् दिव्य पिता (ग्रीक और रोमन लोगों का ज्यूस या जूपीटर)। तब, द्यौः के साथ मिलती ही एक देवी अदिति थी। अदिति (अर्थात् अनन्त विस्तार) को पीछे से सभी देवताओं की माता मान लिया गया। इस के पश्चात् इसी कल्पना का विकास हुआ। इस का नाम वरुण या 'घेरने वाला आकाश' रक्खा गया। यह अहुर मज़्द के मुकाबले में है, जिस का नाम प्राचीन फारसी (ज़न्द) देवमाला में उर्मज़्द, और यूनानी देवमाला में ओवपवस है, परन्तु यह उस से अधिक आध्यात्मिक कल्पना है और ऐसी पूजा की ओर लेजाने वाली है जिस ने महान् परमेश्वर में विश्वास का रूप धारण किया......इस वरुण की कल्पना शीघ्र ही एक और कुछ कुछ अस्पष्ट मनुष्य धर्मारोप के सम्बन्ध में की गई। इसका नाम मित्र अर्थात् 'दिन का देवता' था। कुछ काल के उपरान्त आकाश और दिव्य मंडल के ये मनुष्य रूपधारण अत्यधिक अस्पष्ट प्रतीत होने लगे। इस लिए शीघ्र ही पश्चात् यह विस्तृत पर्यन्तवर्ती अन्तरिक्ष भिन्न२ शक्तियों और गुणों वाली भिन्न २ जगत्सम्बन्धिनी सत्ताओं में विभक्त होगया। पहला, जलमय वायुमंडल—जिस का नाम मनुष्यत्व का आरोप करने पर इन्द्र रक्खा गया है। यह सदा रोके जाने पर भी अपने तुषारमय भण्डार (बिन्दुओं) को बांटने का सदैव यत्न करता रहता है, दूसरा, पवन—जिस की कल्पना या तो व्यक्ति रूप में वायु के नाम से की गई है, या सभी दिशाओं से आने वाली जंगम शक्तियों के संपूर्ण समूह के रूप में, जिनका नाम कि मरुत अर्थात् आंधी के देवता है। उसी समय केन्द्र से दूर चले जाने की क्रिया से—यदि मैं इस परिभाषा का प्रयोग करूं—जो वरुण एक समय सर्वथा दिव्य था वह गगन-मण्डल के आदित्य नामक सात गौण देवताओं (जो बाद में बढ़कर बारह हो गये और वर्ष के अनेक महीनों में सूर्य के भिन्न २ रूप समझे जाने

लगे) में से एक समझा जाने लगा, और तत्पश्चात् जब वे पवन को छोड़कर पृथ्वी पर आनेये तो उन्हें समुद्रों का शासक मान लिया गया।"

"इन भिन्न २ देवता मानी हुई प्राकृतिक शक्तियों में से पूजा की सब से अधिक प्रिय वस्तु वह देवता था जिस के विषय में यह माना जाता था कि वह ओस और वर्षा देता है। पूर्व दिशा के कृषक उत्तर के किसानों की अपेक्षा इसकी अधिक कामना करते थे।

इस लिए कम से कम इस दृष्टि से कि वेदों के सूक्तों और प्रार्थनाओं की एक बड़ी संख्या उसी के प्रति है, इन्द्र—प्राचीन भारतीय देवमाला का जूपीटर प्लूवियस—वैदिक उपासकों का मुख्य देवता है।"

"परन्तु तापकी सहायता के विना मेंह क्या कर सकता था? उस शक्ति के कारण जिस की तीव्रता ने भारतीय मनुष्य के मन में भय का संस्कार डाला होगा उस भारतीय मनुष्य ने उस शक्ति रखने वाले में ईश्वरीय गुणों का आरोप किया। इस लिए वैदिक उपासकों का दूसरा बड़ा देवता, और यज्ञों के साथ उस के सम्बन्ध में कई दृष्टियों से सब से अधिक महत्व-पूर्ण अग्नि, (लातीनी इग्निस) 'आग का देवता' है। यहां तक कि सूर्य भी, जिस को सम्भवतः पहले पहल ताप का मौलिक स्रोत समझ कर पूजा जाता था, आग का ही एक दूसरा रूप समझा जाने लगा। वह उसी दिव्य शक्ति की आकाश में एक अभिव्यक्ति मात्र माना गया, और इसी से उस के पास जाना अधिक कठिन था। एक दूसरी देवी, उषा, या 'प्रभात की देवी,—यूनान वालों की——स्वभावतः ही सूर्य के साथ जोड़ दी गई, और आकाश की पुत्री समझी जाने लगी। दो और देवताओं, अश्विनौ, का कथा में उषा से सम्बन्ध घड़ा गया। वे सदा तरुण और सुन्दर, सोने के रथ में चढ़े हुए, और उषा के अग्रगामी मान लिए गये। वे कभी कभी दस्र अर्थात् 'स्वर्ग वैद्य,' 'रोगों का नाश करने वाले,' भी कहलाते हैं। इनका नाम नासत्य, अर्थात् 'जो कभी असत्य न हों' भी है। वे ऐसे दो प्रकाशमान बिन्दुओं या रश्मियों का मनुष्यधर्मारोप प्रतीत होते हैं जिन के विषय में यह कल्पना की गई है कि वे प्रभात-काल की अग्रगामिनी हैं। ये और 'मृत्यु का देवता' यम ही वेद के मंत्र-भाग के बड़े २ देवता हैं।"

यहां मोनियर विलियम्स १३ बातें उपस्थित करते हैं, और ठीक १३ ही बातों पर विवाद हो सकता है। विलियम्स कहते हैं कि वेद में इनकी पूजा की आज्ञा है:—

१. द्यौः पितर, आकाश के पिता के तौर पर। इसका ग्रीक और रोमन लोगों में क्रम से ज्यूस और जूपीटर नाम हो जाता है।
२. अदिति, अनन्त विस्तार की देवी, और सब देवताओं की माता।

३. वरुण, पर्यन्तवर्ती आकाश का देवता, जिसके सदृश फ़ारसियों का अहुर-मुज़्द और यूनानियों का उज़र और गोस है।
४. मित्र, दिन का देवता, वरुण का सहकारी।
५. इन्द्र, जलमय आकाश (बादलों) का देवता।
६. वृत्र, एक दानव जो इन्द्र का द्वेषी है।
७. वायु, हवा का देवता।
८. मरुत, या आंधी के देवता।
९. आदित्य जिनकी संख्या पहले सात समझी जाती थी। यह संख्या पीछे से बढ़ाकर १२ कर दी गई। सूर्य और १२ सौर मासों की पूजा इसी प्रकार चली।
१०. अग्नि, आग का देवता।
११. उषा, प्रभात की देवी।
१२. अश्विनौ, उषा के जौड़िया अग्रगामी, जिनको दक्ष या स्वर्ग वैद्य और 'नासत्य या जो कभी असत्य न हों' भी कहते हैं।
१३. यम या मृत्यु का देवता।

इनमें से प्रत्येक प्रतिज्ञा पर विवाद किया जा सकता है परन्तु मेरे पास इसके लिए न समय ही है और न विलियम्स साहब की ओर से क्रोधोद्दीपन। इन १३ देवताओं की सूची पर विचार करने और यह दिखलाने के लिए कि विलियम्स साहब इनमें से एक को भी नहीं समझे बहुत समय लगेगा। परन्तु इससे कुछ लाभ भी न होगा, क्योंकि विलियम्स साहब ने इन तेरह में से केवल सात अर्थात् वरुण, मित्र, इन्द्र, आदित्य, अग्नि, अश्विनौ, तथा यम, और दो और, काल या वक्त और रात्रि या रात, के विषय में ही वेदों के प्रमाण दिये हैं, और बाकी को वैसे ही छोड़ दिया है।

अगले व्याख्यान में हम इन प्रतिज्ञाओं में से प्रत्येक पर बारी बारी से विचार करेंगे और दिखलायँगे कि विलियम्स साहब की प्रतिज्ञाओं की सच्चाई का आधार कितना निर्बल है। परन्तु इस समय इस काम को करने के लिए मेरे पास न ही पर्याप्त समय है और न ही मेरे अन्दर प्रवृत्ति, क्योंकि एक और अधिक आवश्यक प्रश्न ज़ोर डाल रहा है। इसलिए इतना कह देना ही पर्याप्त होगा कि मोनियर विलियम्स साहब की सम्मति में वेद एक असभ्य और अशिष्ट युग की पुस्तकें हैं जब कि पार्थिव वस्तु समूह की पूजा होती थी और जब कि आकाश, अन्तरिक्ष, विशाल विस्तार, दिन, जलमय वायु मण्डल, मेघ, पवन, आंधी, वर्षा, सूर्य तथा इसके बारह मास, आग, उषा काल, दिन का उदय होना और मृत्यु ऐसी नैसर्गिक शक्तियों की देवताभाव से आराधना

की जाती थी। निस्सन्देह मोनियर विलियम्स की प्रतिज्ञा यह है कि मंत्रों में जिन शक्तियों को ईश्वरभाव से स्वीकृत किया गया है सम्भवतः वैदिक काल में उनकी मूर्तियां नहीं बनाई जाती थीं; परन्तु वे कहते हैं कि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि पूर्व कालीन उपासक अपने देवताओं में अपनी कल्पना में मनुष्याकार का आरोप किया करते थे। इसलिए, वेदों के मूर्ति पूजा विषयिक न होने पर विलियम्स साहब का प्रशंसावाद, गुण कीर्तन मात्र ही है, इससे बढ़कर और कुछ नहीं। उनका उद्देश यह दिखलाना है कि जितनी भी रिआयत की जा सके उसके कर देने पर भी, वेद अधिक से अधिक, ऐसी पुस्तकें हैं जिनमें प्राकृत पदार्थों की पूजा और निकृष्ट असभ्य धर्म्म भरा हुआ है। मैं आपको उस अवतरण का स्मरण कराता हूँ जो कि आरम्भ में दिया गया है। वे कहते हैं:—

"वेद का यह एकत्व शीघ्र ही विविध शाखाओं में बिखर गया। केवल थोड़े से सूक्तों में ही एक स्वयंभू, सर्वव्यापक परमेश्वर की सरल कल्पना प्रतीत होती है, और इनमें भी सारे जगत् में व्यापक एक परमेश्वर का भाव कुछ अनिश्चित और अस्पष्ट सा है।"

आज मेरा उद्देश केवल यही दिखलाना है कि विलियम्स साहब के ये शब्द जैसी उत्तम रीति से बायबल पर चरितार्थ होते हैं वैसे और किसी पर नहीं होते। कौनसी बायबल? जिसके लिए मोनियर विलियम्स के मन में सम्मान का गहरा भाव है, जिसको वे परमेश्वर का पवित्र शब्द कहते हैं, जिसको संसार के तीन झूठे धर्म्मों—इसलाम, ब्राह्मण धर्म्म, बौद्ध धर्म्म—के मुकाबले में एक मात्र सच्चे धर्म्म की पुस्तक समझते हैं। परन्तु वेदों के न केवल थोड़े से सूक्तों में ही स्वयंभू, सर्वव्यापक एक परमेश्वर की सरल कल्पना है, प्रत्युत हम देखते हैं कि सारे वेद में परमेश्वर को स्वयंभू और सर्वव्यापक वर्णन किया गया है, और इन सूक्तों में भी यह कल्पना न केवल अस्पष्ट और अनिश्चित ही नहीं प्रत्युत इस विषय में जैसा स्पष्ट वेदों का कथन है उस से स्पष्टतर किसी और वर्णन का होना सम्भव ही नहीं॥

मैं दिखलाऊंगा कि वेद ही केवल एक पवित्र एकेश्वरवाद की शिक्षा देते हैं, और कि बायबल एक ऐसी पुस्तक है जिस में एक स्वयम्भू, सर्वव्यापक परमेश्वर की कल्पना अत्यन्त अस्पष्ट और अनिश्चित है।

अब वेद को देखिए:—

तमीशानं जगतस्तस्थुषस्पतिं धियञ्जिन्वमवसे हूमहे वयम्।
पूषानो यथा वेदसामसद्वृधे रक्षिता पायुरदब्धः स्वस्तये॥

ऋ० अ० १ अ० ६ व० १५ मं० ५।

इसका अर्थ यह है कि 'जो सब जगत् का बनाने वाला है, जो चेतन और जड़ जगत् का राजा और पालनकर्त्ता है, जो मनुष्यों को बुद्धि और आनन्द से तृप्त करने वाला है उसकी हम लोग अपनी रक्षा के लिये प्रार्थना करते हैं, सब सुखों से पुष्ट करने वाले जिस प्रकार आप हमारे सब सुखों के बढ़ाने वाले हैं वैसे ही रक्षा भी करें ।

फिर—

तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः । दिवीव चक्षुराततम् ॥

ऋ० अ० १ अ० २ व० ७ मं० ५ ।

अर्थात्—ज्ञानी पुरुष सदा उसके साथ संसर्ग की कामना करते हैं जो कि सर्वव्यापक है, क्योंकि वह सब कहीं है । न काल, न देश, न द्रव्य उसे बांट सकता है । वह एक काल, या एक स्थान, या एक वस्तु तक परिमित नहीं, प्रत्युत सर्वत्र है जिस प्रकार कि सूर्य का प्रकाश अबाधक देश में फैल जाता है ॥

फिर—

परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च ।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभिसंविवेश ॥

यजुर्वेद अ० ३२, मंत्र ११ ।

अर्थ—जो परमेश्वर आकाशादि सब भूतों में तथा सूर्यादि सब लोकों में व्याप्त होरहा है और जो पूर्वादि दिशाओं तथा आग्नेयादि उपदिशाओं में भी निरन्तर भरपूर होरहा है, जिस की व्यापकता से एक अणु भी ख़ाली नहीं है, जो अपने सामर्थ्य को जानता है, और जो कल्पादि में सृष्टि की उत्पत्ति करने वाला है, उस आनन्द स्वरूप परमेश्वर को जो जीवात्मा अपने सामर्थ्य मन से यथावत जानता है, वही उसको प्राप्त होके मोक्ष सुख को भोगता है ।

महद्यक्षं भुवनस्यमध्ये तपसि क्रान्तं सलिलस्य पृष्ठे ।
तस्मिञ्छ्रयन्ते य उ के च देवा वृक्षस्य स्कन्धः परित इव शाखाः ॥

अथर्व० कां० १० प्रपा० २३ । अनु० ४ मं० ३८ ।

अर्थ—ब्रह्म जो सब से बड़ा और सब की पूजा के योग्य है, जो सब लोकों में विद्यमान है,और उपासना के योग्य है, जिसकी बुद्धि और ज्ञान असीम है, जो कि अनन्त देश का भी आधार है, जिस में सब रहते और आश्रय पाते हैं, जिस प्रकार कि बीज में वृक्ष रहता है और आश्रय पाता है, उसी प्रकार संसार का वह आश्रय है ।

न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।
तमिदं निगतं सहः स एष एक एक वृदेक एवं ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एक वृतो भवन्ति ॥

अ० का० १३ अनु० ४ मं० १६—२१ ॥

अर्थ—वह एक ही है, कोई दूसरा, तीसरा, चौथा परमेश्वर नहीं । न पांचवां, न छठा, न सातवां परमेश्वर है । हां, न कोई आठवां, न नवां, न दसवां परमेश्वर है । उस एक मात्र परमेश्वर में सभी रहते, चेष्टा करते, और अपनी सत्ता रखते हैं ।

अब आपने देख लिया कि वेदों का धर्म किस प्रकार का है । क्या एकेश्वर-वाद का इस से उत्तमतर, स्पष्टतर, और व्यक्ततर, वर्णन और होसकता है ? क्या परमेश्वर की सर्वव्यापकता और देवत्व के वर्णन के लिए इन से कोई और उत्तम शब्द मिल सकते हैं ?

अब हम मोनियर विलियम्स की प्रेमपात्रा, युग युगान्तर की ईसाई सिद्दान्त, बायबल को लेते हैं जिस की विशिष्टता को प्रमाणित करने के लिए मोनियर विलियम्स वेदों की निन्दा करते, उन के मिथ्यार्थ करते, और उनको बिगाड़ते हैं ।

टोमसपेन के नाम अपनी चिट्ठी में बिशप वाटसन ने लिखा था—"एक निष्पक्ष मनुष्य जो बायबल को पढ़ते हुए सचाई को ढूंढने का सच्चा यत्न करता है, पहले इस बात की जांच करेगा कि क्या यह परमेश्वर में किसी ऐसे विशेषण का आरोप करती है जो पुण्यशीलता, सत्य, न्याय और शिष्टता के प्रतिकूल है या क्या यह उसे भी मानवीय निर्बलताओं के अधीन प्रकट करती है ।" बी० वाटसन, पृष्ठ० ११४ ।

मैं इस मार्ग का अनुसरण करूंगा । हम देखते हैं कि बायबल परमेश्वर को मानवीय निर्बलताओं के अधीन प्रकट करती है और उस में ऐसे विशेषणों का आरोप करती है जो कि पुण्यशीलता, सत्य, न्याय और शिष्टता के प्रतिकूल हैं ।

यह परमेश्वर को मानुषी निर्बलताओं के अधीन प्रकट करती है । यह उस को शरीर धारी, और हमारे ऐसी निर्बलताओं और अभावों के अधीन बताती है । जब वह अब्राहम को दर्शन देता था तो, बायबल के अनुसार, वह

तीन फरिश्तों जैसा दिखाई देता था । तब वे अब्राहम आदि से बातें करते थे । बायबल का बयान इस प्रकार है :—

"२. और उस (अब्राहम) ने आंखें उठाकर देखा तो उसे तीन मनुष्य अपने पास खड़े दिखाई दिये; और जब उसने उनको देखा तो वह अपने खेमे के द्वार पर उसके स्वागत के लिए दौड़ा दौड़ा गया, और पृथ्वी की ओर झुक कर उसने प्रणाम किया ।

३. और कहा, मेरे प्रभो ! यदि अब आपने मुझ पर कृपा दृष्टि की है तो मेरी प्रार्थना है कि अपने दास के पास से चले न जाइये ।

४. मैं प्रार्थना करता हूं कि मुझे थोड़ा सा जल लाने और आपके चरणों को धोने की आज्ञा दीजिये और आप पेड़ के तले विश्राम कीजिए ।

५. और मैं रोटी का ग्रास लाऊँगा, और तुम्हारे हृदयों को तृप्त करूंगा। इसके बाद आप चले जायँ; क्योंकि आप अपने दास के पास आये हैं । और उन्होंने कहा—"जैसा तुमने कहा है वैसा ही करो ।"

६. अब्राहम जल्दी से खेमे में सरा (उसकी स्त्री) के पास गया, और कहा—"जल्दी से उत्तम आटे के तीन मान तैयार करो, इसको गूँधो, और चूल्हे पर चपातियां बनाओ" ।

७. और अब्राहम गोशाला में दौड़ा गया और एक कोमल और उत्तम बछड़ा ले आया, और इसे एक युवक को दे दिया; और उसने जल्दी से इसे पका दिया ।

८. और वह मक्खन, दूध, और पकाया हुआ बछड़ा लाया, और उन के सामने रख दिया; और वह उनके पास वृक्ष के नीचे खड़ा हो गया, और वे खाते रहे ।

९. और वे उससे बोले, तेरी स्त्री सरा कहां है ? और उसने कहा, देखो खेमे में है ।

१०. और उसने कहा, मैं जीवन-काल के अनुसार निश्चय ही तुम्हारे पास लौटकर आऊँगा; और देखो, तुम्हारी स्त्री सरा एक पुत्र को जन्म देगी ।" उत्पत्ति पुस्तक, अध्याय १८ । *

* शेष आलोचना नहीं मिलती, सम्पादक ।

चौथा व्याख्यान।

वेदों के सूक्त (४)

इस व्याख्यान में मैं ऋग्वेद के पहले अष्टक के ५० वें सूक्त पर विचार करूँगा। इस सूक्त का मोनियर विलियम्स का किया अनुवाद उसकी इस पर टिप्पणी सहित नीचे दिया जाता है। मोनियर विलियम्स कहते हैं :—

"दूसरा देवता सूर्य* है। इस के विविध व्यापारों के कारण इस के अनेक नाम हैं—यथा सवितृ, अर्यमन्, मित्र, वरुण, पूशन्; कई वार ये दिव्य मण्डल के पृथक् पृथक् देवता भी माने जाते हैं। जैसा कि पहले कह आये हैं, वैदिक उपासकों ने इसको अपने मनों में आग के साथ मिला दिया है। इस का प्रायः वर्णन इस प्रकार आता है कि कि यह एक रथ में बैठा हुआ है, जिस को सात रक्तवर्ण घोड़े (सप्ताह के सात दिनों को प्रकट करने वाले) खींच रहे हैं, और आगे आगे उषा है। इस देवता की प्रार्थना के एक सूक्त (ऋग्वेद १, ५०) का शाब्दिक अनुवाद हम नीचे देते हैं:—

"देखो उषा की किरणें अग्रदूत के समान सूर्य को ऊँचा लिये जा रही हैं जिस से मनुष्य सर्वज्ञ परमेश्वर को देख लें।

तारे रात के साथ सब-को-देखने-वाली-आंख के सामने से चुपचाप चोरों की तरह खिसक रहे हैं। इस आँख की किरणें उस की उज्ज्वल अग्नि शिखाओं के समान चमकती हुई आकृति का एक जाति के पश्चात् दूसरी जाति पर प्रकाश करती हैं। हे सूर्य, तू ऐसे वेग के साथ जोकि मनुष्य के ज्ञान से बाहर है, सब को स्पष्ट दिखाई देता हुआ सदा चलता रहता है।

तू प्रकाश को उत्पन्न करता है, और उस के साथ सम्पूर्ण जगत् को प्रकाशित करता है; तू सारी मनुष्य-जाति और आकाश की सारी सेना के सामने उदय होता है।

हे आलोकदाता वरुण! तेरी तीक्ष्ण दृष्टि इस सकल कर्मोद्युक्त जगत् और इस विशाल अन्तरिक्ष को जल्दी जल्दी छान डालती है। तू हमारे दिनों और रातों को मापता है और सब भूतों को देखता है।

उज्ज्वल लटों वाले सूर्य, निर्मल-दृष्टि वाले दिन के देवता! तेरे सात रक्तवर्ण घोड़े तेरे रथ को दौड़ाये लिये जाते हैं। इन अपने आप जुते हुए तेरे घोड़ों, तेरे रथ की सात पुत्रियों के साथ तू आगे आगे बढ़ता है।

---

* यास्क मुनि इन्द्र, अग्नि और सूर्य को देवताओं की एक वैदिक त्रिमूर्ति बनाते हैं।

हे देवों के देव, सूर्य ! इस अधम अंधकार से परे ऊपर प्रकाश की ओर तेरे तेजोमय पथ पर हम चढ़ेंगे।"

इस प्रकरण में मोनियर विलियम्स ये प्रतिज्ञाएँ करते हैं :—

(१) कि सूर्य को सवितृ, अर्यमन्, मित्र, वरुण, और पूशन् आदि भिन्न भिन्न नामों में, देवताभाव से पूजा जाता था।

(२) कि वैदिक उपासकों के मन में सूर्य अग्नि के साथ मिला हुआ था।

(३) कि सूर्य को सात रक्तवर्ण घोड़ों वाले एक रथ में बैठा हुआ जिस के आगे कि उषा जा रही है, वर्णन किया गया है।

(४) कि ये रक्तवर्ण घोड़े सप्ताह के सात दिनों को जताते हैं।

मोनियर विलियम्स ऋग्वेद के पहले अष्टक के ५० वें सूक्त का प्रायः शाब्दिक अनुवाद साथ देते हैं जिस का उल्लेख ऊपर हो चुका है।

मुझे यह कहने का प्रयोजन नहीं कि पूशन्, वरुण, मित्र, अर्यमन्, और सवितृ केवल उसी सूर्य के दूसरे नाम हैं, और अग्नि भी उस का ही एक नाम है परन्तु विलियम्स के कथन के विरुद्ध, ये वे भिन्न भिन्न नाम नहीं जिन में सूर्य की पूजा होती थी। सूर्य जगत् का ईश्वर है—सूर्य्य आत्मा जगतस्तस्थुषः अर्थात् वही विश्वात्मा सारे चेतन और जड जगत् में व्यापक है।

सप्त हरित सूर्य के रथ को खेंचने वाले सात रक्तवर्ण घोड़े नहीं, न ही सूर्य का कोई रथ है। सप्त हरित सात किरणें हैं जैसा कि आगे चलकर ज्ञात होगा। रथ का अर्थ यह अत्युच्च ब्रह्माण्ड है। सप्ताह के सात दिन का नाम सात हरित नहीं। परन्तु विलियम्स के अनुवाद का मूल्य उसी का सच्चा अर्थ देने पर अच्छी तरह प्रकट हो जायगा।

अब मैं प्रत्येक मन्त्र के मोनियर विलियम्स के किए अनुवाद के साथ साथ अपना अनुवाद भी दूँगा जिस से दोनों की तुलना हो सके।

अमर जीवात्मा के भीतर ईश्वरीय तत्त्व........................*

इस के साथ मोनियर विलियम्स के किए उसी (तीसरे) मंत्र के अर्थ की तुलना कीजिए। वे कहते हैं

"(वह सूर्य) जिस की किरणें उसकी उज्ज्वल अग्नि-शिखाओं के समान चमकती हुई आकृति का एक जाति के पश्चात् दूसरी जाति पर प्रकाश करती हैं।"

विलियम्स के किए मंत्रार्थ में अर्थों की शुद्धता, विचार की उच्चता और विषय का महत्व ढूंढने पर भी नहीं मिलता। 'जनां अनु' का अर्थ विलियम्स के पण्डितोचित मन को 'एक जाति के पश्चात् दूसरी जाति' प्रतीत

*हस्तलेख नहीं मिलता—सम्पादक।

होता है। केतवः और अग्नयः किरणें और उज्ज्वल अग्नि-शिखाएं बन गये हैं। पश्चिम के भाषातत्वविद् वैदिक मंत्रों के अर्थों को बिगाड़ने, और वेदों को प्राथमिक अर्थात् अपेक्षाकृत असभ्य और पौराणिक युग की पुस्तकों के सदृश बनाने का व्यर्थ ही यत्न करते हैं। मैं कहता हूँ, व्यर्थ ही, पूर्वीय भाषाओं के ये कथन-मात्र पण्डित वैदिक पुस्तकों का अर्थ अपने मस्तिष्क में पाले हुए, अर्थात् अपनी बुद्धि-चापल्य से बनाए हुए भाषातत्वशास्त्र नामक विज्ञान के आलोक में करने का यत्न करते हैं। क्योंकि, सारा भाषातत्वशास्त्र, सारा पाण्डित्य, और सारी विद्वत्ता सत्य की समाहृत, तीक्ष्ण, और उष्ण किरणों के सामने हिम की तरह उड़ जाते हैं। *

अब हम इस सूक्त के पांचवें मंत्र को मोनियर विलियम्स के स्वभावानुरूप अनुवाद सहित लेते हैं।............"तू (सूर्य) सारी मनुष्य-जाति और आकाश की सारी सेना के सामने उदय होता है।" क्या कभी कह सकते हैं कि विलियम्स साहब वैदिक मंत्रों के, और विशेषतः इस मंत्र के अर्थ समझते हैं? उनकी वैदिक देवमालाओं की कल्पना कहां गई? उनकी वह तीव्र ईसाई बुद्धि कहां है जिसको वेदों में प्राकृत तत्त्व समूह की पूजा की गंध आया करती है? क्या वह इतनी मलिन हो गई है कि वे अब अत्यन्त सरल बातों को समझने में भी समर्थ नहीं रहे? सूर्य सारी मनुष्य-जाति के सामने एक दम उदय नहीं होता; परन्तु दीन, अविद्या ग्रस्त, मूढ विश्वासी वैदिक उपासकों ने ऐसी कल्पना करली होगी, परन्तु क्या एक भौंदू, एक असभ्य बर्बर भी, जिसको विलियम्स साहब के अनुभव का एक लाखवां अंश भी प्राप्त नहीं, क्या वह भी आकाश की सारी सेना—जिससे उनका तात्पर्य तारकामय आकाश से है—के सामने सूर्य के निकलने की कल्पना कर सकता है? कदापि नहीं! एक बर्बर की भाषा में कहें तो कह सकते हैं कि सूर्य आकाश के तारागण की चमकती हुई दृष्टि को अंधा कर देता है। यह केवल रात के चमकते मोतियों अर्थात् तारकाओं को बारीक पीसकर अभाव और विस्मरण के चूर्ण में परिणत कर देता है। परन्तु यह कभी भी आकाश की सारी सेना के सामने नहीं चढ़ता, क्योंकि ज्योंही यह उदय होता है तारागण अंधे होकर शून्यता में लीन हो जाते हैं। फिर मोनियर विलियम्स की भूल का क्या कारण है? कारण स्पष्ट है। विलियम्स साहब 'देवानाम्' का अनुवाद आकाश की तारकाएँ करते हैं। वे अपना 'देव' का अर्थ देवता भूल गये हैं। यहां उन्हें देवानाम्

* पण्डित गुरुदत्त का चौथे मंत्र का अर्थ "वैदिक संज्ञा-विज्ञान और योरुपीय विद्वान्" नामक प्रबंध में देखिए।

का अर्थ 'आकाश की सारी सेना' सूझा है। मोनियर विलियम्स की स्मृति मंत्र के 'प्रत्यङविश्वं स्वर्दृशे' शब्दों को छोड़ जाती है। ऐसा जान पड़ता है कि वैदिक कवि ने इन निरर्थक शब्दों को केवल छन्द की पूर्ति के लिए ही रक्खा था! परन्तु इसके लिए एक और कैफियत भी दी जा सकती है। विलियम्स साहब आकाश की सारी सेना में इतने लीन थे कि ज्योंही सूर्य उदय हुआ, आकाश की सेना के साथ ही उनकी इन शब्दों की स्मृति भी चली गई। इसीलिए उनके अनुवाद में रिक्तता है।

हम कह आये हैं कि इस दृश्यमान जगत् का कारण परमेश्वर है। क्या वह उपासना के योग्य नहीं? वह जो कि निस्सन्देह हम मनुष्यों में, देवों= ज्ञानियों के हृदयों में, और संसार के प्राकृतिक पदार्थों में निवास करता है। वह जो कि प्रत्येक वस्तु और भूत (प्रत्यङ्) के हृदय में साक्षात् रहता है, हां ठीक वही सच्चा उपास्य देव है। उसकी पूजा करने से हम केवल किसी छायामयी मूर्ति, किसी दूरस्थ सत्ता या भाव की पूजा नहीं करते, प्रत्युत एक नित्य व्यापक, सर्वज्ञ चेतन परमेश्वर की उपासना करते हैं। यह उस ईसा की पूजा नहीं है, जो, यदि बायबल की गप्पें ठीक हों, कोई १९०० वर्ष हुए इस संसार में था, जो इस समय हमारे अन्दर नहीं, जो भारत या अमरीका में नहीं, प्रत्युत जूडिया और योरुसलेम में रहता था, जो इब्रानी लोगों में रहता था, जो आर्यों और अमरीका के आदिम निवासियों में नहीं रहता था, और जो, इन सब बातों के होते भी, भूतकाल में रहता था, परन्तु अब अपने पूर्ववत् मनुष्य रूप में, रक्त और मांस के शरीर में, नहीं रहता। ईसा के दिन बीत गये पर परमेश्वर के दिन सदा रहते हैं। वेदों के पवित्र और उच्च धर्म्म के मुकाबले में, जो कि आर्यों का भी धर्म्म है, और हमारे भीतर के सजीव परमेश्वर की पूजा के मुकाबले में ईसाई मत प्रतिमापूजन का एक बहुत ही भद्दा सा रूप है। इसके अतिरिक्त वेद गम्भीर शब्दों में और समाज के बीच गगन-भेदी गिरजों में और 'निष्फल प्रार्थनाओं के प्रहसनों' में नहीं, प्रत्युत मानव-हृदय रूपी संजीव मन्दिर में परमात्म देव की पूजा का उपदेश करते हैं। वे एक ऐसी उपासना का आदेश करते हैं जिसमें उस सर्वव्यापक परमानन्द विश्वस्वर्दृशे का इस लोक तथा परलोक में अनुभव किया जाता है जो कि सर्वत्र विराजमान है।

मानव-हृदयरूपी सजीव मन्दिर में भगवान् की उपासना की बात मेरी अपनी ही कल्पना का फल नहीं। यही एक सच्ची उपासना है। यह पुष्प-सुगंध के सदृश स्वभावतः और निःशब्द रीति से होती है। इसके लिए गिरजों की किसी पूर्वनिर्णीत विधि, और किसी स्त्री या पुरुष के बनाये भजनों या सङ्गीत

मालाओं की आवश्यकता नहीं। सच्ची उपासना शान्त मन, और पवित्र शाश्वत जीवन है। कृष्ण कहते हैं:—

ईश्वरःसर्वभूतानांहृद्देऽर्जुन तिष्ठति अर्थात् "मनुष्य का सब से भीतरी हृदय ही ईश्वर का निवास स्थान है।" इस विचार की पुष्टि के लिए मैं वेदों और उपनिषदों के वाक्य देता हूँ।

"जिस स्थान में मनुष्य का मन शान्त होसके वही परमात्मा की उपासना के लिए ठीक है।"

"नीच लोग अपने देवताओं को जल में ढूँढते हैं; मूर्ख उनका निवास लकड़ी, ईंट और पत्थर में समझते हैं: अधिक विस्तृत ज्ञान वाले लोग उनकी दिव्य मण्डली में तलाश करते हैं, परन्तु ज्ञानी पुरुष विश्वात्मा की ही उपासना करते हैं।

"केवल एक ही चेतन और सच्चा परमेश्वर है; वह नित्य, निराकार और निर्विकार है; उसका बल, बुद्धि, और पुण्य अनन्त है; वह जगत् का निर्माता और रक्षक है।

"वह आत्मा जो प्रकृति और प्रकृति से संयुक्त सभी भूतों से भिन्न है, विविध नहीं। वह एक है और अवर्णनीय है: उसकी महिमा इतनी महान् है कि उसकी कोई प्रतिमा नहीं हो सकती। वह अज्ञेय आत्मा है जो सब को सुख और ज्ञान से तृप्त करता है; जो सब का उत्पादक और जीवनाधार है; ज्ञानी मनुष्य को परमात्मा के सिवा और किसी की उपासना न करनी चाहिए।"

"दृढ़ सत्यनिष्ठा, मन और इन्द्रियों के संयम, ब्रह्मचर्य, और आध्यात्मिक गुरुओं के उपदेश के द्वारा मनुष्यों को उस परमेश्वर को प्राप्त करना चाहिए जो कि तेजोमय और पूर्ण है, जो हृदय में कार्य करता है, और जिस के पास काम और इच्छा से रहित उपासक ही पहुँच सकते हैं।"

अपनी प्रतिज्ञा को प्रमाणित करने के लिए अब मुझे और अवतरण देने का प्रयोजन नहीं। परन्तु अब हमें सचाई के सच्चे भक्तों के समान इस बात को स्वीकार करना चाहिए कि व्यावहारिक सामाजिक उपासना सर्वथा विधिबाह्य है, और कि सच्ची उपासना कभी शब्दों, और हृदयङ्गम तथा रुलाने वाले धर्मोपदेशों द्वारा नहीं होती। एक मात्र सच्ची उपासना जिस का वेद आदेश करते हैं और जिसे हमें भी सीखना चाहिए सत्य का अभ्यास, मन, और इन्द्रियों का दमन, ब्रह्मचर्य, आध्यात्मिक गुरुओं के उपदेश, और काम और क्रोध की निवृत्ति है।

संक्षेप से यह वैदिक उपासना है। यदि चाहो तो इसके साथ सारे धार्मिक जगत् की उपासनाओं की तुलना करके देखो। केवल यही एक उपासना शुद्ध ईश्वरीय बुद्धि का अनुभव करा सकती है। क्योंकि प्रकाश, विश्व प्रकाश—चक्षस्—जो सारे संसार में और सारे मनुष्यों में चमकता है, जो हमारे सारे कर्मों को देखता है, जनांपश्यसि, और भौतिक जगत् के दृश्य-चमत्कारों की व्यवस्था करता है, भुरण्यन्तं अनु, वही प्रकाश हमें पवित्रता और ज्ञान की प्राप्ति करा सकता है, वरुण पावक। इसलिये यह समझ लेना चाहिए कि जिस मनुष्य ने विश्वात्मा की इस सच्ची उपासना की विधि नहीं सीखी वह कभी पवित्रता और ज्ञान को प्राप्त नहीं होसकता। उपासना की यही सच्ची विधि है क्योंकि ऋग्वेद के मण्डल प्रथम के ५०वें सूक्त के छठे मंत्र का ठीक यही आशय है। वह मंत्र यह है:—

येना पावक चक्षसा भुरण्यंतं जनाँ अनु। त्वं वरुण पश्यसि ॥ ६ ॥*

* 'आलोचना' संबन्धी व्याख्यान तो दस, बारह हुए थे परन्तु आगे कोई हस्तलेख नहीं छपा। किसी की असावधानी से लुप्त हो गये होंगे। भगवद्दत्त

एष हि द्रष्टा, स्प्रष्टा, श्रोता, घ्राता, रसयिता, मन्ता, बोद्धा, कर्त्ता, विज्ञानात्मा पुरुषः। प्रश्नो० ४, ६।

हां, जीवात्मा वह है जो देखती, स्पर्श करती, सुनती, सूंघती, चखती, इच्छा करती, जानती, काम करती, और प्रत्येक चीज़ को समझती है। जीवात्मा ही सच्चा चेतन मनुष्य है।

जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण।

अविद्या कैसी दुःखदाई है। पतञ्जलि कहते हैं कि अविद्या ही एक ऐसी भूमि है जहां पाप जड़ पकड़ सकते और फैल सकते हैं।* और है भी यह ठीक। संसार के सभी पाप नैसर्गिक शक्तियों को विमार्ग पर लगाने से ही पैदा होते हैं। इसका कारण भी अन्त में अविद्या ही है। यों तो अविद्या सब कहीं बुरी है पर मनुष्य की आत्म-विषयिक अविद्या सब से बढ़कर हानिकारक है। अविद्या के मूर्छितकारी प्रभाव के नीचे लोग अपने आपको अपने जीवन-सार से वञ्चित समझने लगते हैं। संसार के नाम मात्र धर्म्म भी, आजकल के जड़वादियों के विषयाश्रित बाह्यवाद (objective externalism) की अपेक्षा, सन्देहवाद, बल्कि पूरे २ शून्यवाद के प्रचार में कुछ कम यत्न नहीं कर रहे। सच तो यह है कि शून्यवाद को फैलाने में दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों के सरल और तर्क-संगत निश्चयों ने उतना भाग नहीं लिया जितना कि नाम मात्र धर्म्मों की धार्म्मिक शिक्षाओं ने लिया है। जिन परिणामों पर निर्व्याज जिज्ञासु, और निष्पक्ष विचारक पहुंचे हैं उनमें अधिक से अधिक बुरी बात यही है कि वे संदिग्ध और अस्थिर हैं। वे केवल एक रहस्य अथवा शरीर और मन के बीच एक अनियत सम्बन्ध मानकर ही ठहर जाते है। परन्तु हमारे सभी धर्म्मों के ब्रह्मज्ञानी इस से आगे जाते हैं। इनकी प्रतिज्ञाएं निश्चित, अभिमानपूर्ण, और सन्देहरहित होती हैं। धार्म्मिक पादड़ी, जो पाश्चात्य जगत् के सर्वांग-पूर्ण राजनैतिक धर्म्म, अर्थात् लोक-प्रिय संस्कृत ईसाई धर्म्म, को मानता है प्रश्न का-आत्मा क्या वस्तु है? यह स्पष्ट उत्तर देता है, "और प्रभु परमेश्वर ने पृथ्वी की धूलि से मनुष्य (आदम) को बनाया; और उसकी नासिका में जीवन का श्वास फूंक

* योगसूत्र २, ४,

दिया, और मनुष्य एक जीवित आत्मा होगया।" * और मुहम्मद साहब का कुरान में दिया हुआ **नफ़खतफ़िह** का सिद्धान्त उसी की पुनरुक्ति मात्र है। वह प्रत्येक बात में बायबल के वर्णन की प्रतिध्वनि है। मुसलमान और ईसाई लोगों ने **इस प्रकार ही** जीवन और मृत्यु की महान् समस्या को हल किया है; और **इस प्रकार ही** जीवात्मा को एक श्वास मात्र बताया गया है। अपने **नास्तिक** ईसाई देश की बुद्धि के अनुसार महाकवि टेनीसन प्रकृति देवी के मुख से इस प्रकार उत्तर दिलाता है:—

"Thou makest thine appeal to me:
I bring to life, I bring to death:
The spirit does but mean the breath:
I know no more. †

अर्थात् आत्मा केवल एक फूंक है। इस से बढ़कर मुझे और कुछ मालूम नहीं।"

इस प्रकार जीवात्मा को न केवल इसके यथार्थ व्यापारों और शक्तियों से ही वञ्चित किया गया है किन्तु इस के अस्तित्व से भी इनकार किया गया है। यह कैसी असंगत कल्पना है, क्योंकि परमेश्वर के फेफड़े इस अनन्त अन्तरिक्ष में विचरने वाले असंख्य लोकों के संख्यातीत प्राणियों को जीवित रखने के लिए प्राणभूत अग्नि के श्वास लगातार निकालते निकालते अवश्य थक जाते होंगे, जिससे उन्हें प्रत्येक सातवें दिन पूर्ण विश्राम का प्रयोजन होता है। यह कल्पना असंगत ही नहीं किन्तु घोर हानिकारक और भ्रमजनक भी है। क्योंकि इस से बढ़कर अनिष्टकर और क्या हो सकता है कि मनुष्य को एक शून्यता, एक आभास और एक श्वास मात्र बताया जाय।

एक बार इतना मान लीजिए कि मनुष्य की आत्मा कोई पदार्थ नहीं, या प्रकृति के समान प्रत्यक्ष और वास्तविक सत्ता नहीं, (बल्कि यह उससे भी अधिक वास्तविक है); बौद्धों की तरह, एक बार मान लीजिए कि मनुष्य जीवन आकाश के क्षणिक उल्का के सदृश गुज़र जाने वाली नश्वर चिंगारी है; या, ईसाइयों की तरह, यह केवल एक फूंक है; या, आधुनिक विषयाश्रित विकासवादियों की तरह, यह मान लीजिए, कि 'आत्मा केवल एक कल्पना है जो कि सभ्य जातियों को अपने जंगली बाप दादा से विरसे में मिली है, ये जंगली लोग जब स्वप्न में किसी मित्र को अपने साथ बातें करते देखते थे और जागने पर जब वे उसे अपने पास नहीं पाते थे तब उनके अन्दर यह भावना

*उत्पत्ति पुस्तक, २, ७।

† In Memoriam, 56,2.

उत्पन्न होती थी कि प्रत्येक मनुष्य का उसके अनुरूप एक अदृश्य दूसरा आत्मा अवश्य है जो कि स्वप्नों में प्रकट होता है परन्तु वह स्पर्शनीय नहीं है; एक बार मनुष्य-आत्मा का अभाव मान लीजिए और फिर देखिए कि सारे धर्म्म और सारे आचार का बना बनाया भवन किस प्रकार भूतलशायी हो जाता है। क्या मुक्ति को मुफ्त लुटाने वाले अलौकिक ईसाई धर्म्म का भवन आत्म-बुद्धि की इस रेतीली नींव पर खड़ा हो सकता है? ऐ वृथाभिमानी ईसाई! अपने ब्रह्मज्ञान को और अपनी मुक्ति की कल्पना को पोंछ डाल, क्योंकि आत्म कोई चीज़ नहीं जिसको बचाया जाए। जिसको तुम बचाना चाहते हो वह केवल एक आभास और एक श्वास मात्र है। यह कोई सार वस्तु नहीं। और ऐ मुसलमानों! अपने पैगम्बर (भविष्यद्वादी) के माध्यस्थ्य के सिद्धान्त को तिलांजलि दे दो, क्योंकि यह माध्यस्थ्य केवल एक आभास को ही, जो कि पहले ही अन्तर्धान हो चुका है या, शायद, एक घड़ी में नष्ट हो जायगा, नरक में पड़ने से बचायगा। और हे-तुम सब लोगो, जो आत्मा की उत्पत्ति* में अर्थात् परमेश्वर की आज्ञा से उसके शून्यता से उत्पन्न होने में विश्वास रखते हो, समझलो कि जो चीज शून्यता से पैदा हुई है वह फिर उसी भूत-प्रलय में जा गिरेगी जिससे कि वह प्रकट हुई थी, और उसका अभाव हो जायगा!

आत्मा के अभाव का मूढ़विश्वास या कुसंस्कार धर्म के केवल प्रारम्भिक स्तरों तक ही परिमित नहीं। यह सभ्य संसार में फैलना आरम्भ हो गया है, यहां तक कि यह 'वैज्ञानिक कल्पना' के किनारे तक पहुंच चुका है।

ब्रह्माण्ड के स्वाभाविक सृष्टि होने की कल्पना सारे भौतिक दृश्यचमत्कारों का कारण भौतिक पद्धतियों की रचना को या आकार के परिवर्तनों को बताकर ही बस नहीं कर देती, किन्तु वह जीवन तथा शरीर सम्बन्धी सभी दृश्य-चमत्कारों को भी पिण्ड और गति के तत्त्वों का ही परिणाम सिद्ध करने का यत्न करती है। वण्ड्ट साहब शरीर शास्त्र के विषय में कहता है कि "जो वाद अब (शरीर-शास्त्र में) प्रधान हो रहा है, और जिसे साधारणतः स्वाभाविक सृष्टिवाद या भौतिक वाद कहा जाता है, उसका मूल वह कारणिक कल्पना है जो कि सृष्टि-विज्ञान की सजातीय शाखाओं में चिरकाल से प्रचलित है। सृष्टि-विज्ञान प्रकृति को कारणों और कार्यों की एक ऐसी लड़ी समझता है जिसमें कि कारणिक कर्मों के अन्तिम नियम यंत्रगति-विद्या के नियम हैं। इस प्रकार शरीर-शास्त्र व्यावहारिक पदार्थ-विद्या की एक शाखा मालूम होता है। इस की समस्या प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों को साधारण भौतिक नियमों और, इस प्रकार, अन्ततः यंत्रगति-विद्या

*"उत्पत्ति, उत्कर्ष और अमर जीवन आत्मा के विशेष गुण हैं।" ब्राह्मसमाज ट्रैक्ट, "सिध्दान्तसूत्रम्; नवीनचन्द्रराय द्वारा अनुवादित, प्रकरण २, सूत्र २५।

के मौलिक नियमों का परिणाम सिद्ध करना है।" फिर अध्यापक हेकाल और भी स्पष्ट शब्दों में कहता है,—"विकास का साधारण सिद्धान्त यह मानता है कि प्रकृति में उत्कर्ष का एक महान्, निरन्तर, और चिरस्थाई क्रम जारी है, और कि सारे नैसर्गिक दृश्य-चमत्कार, बिना किसी अपवाद के, आकाशस्थ लोकों की गति और लुढ़कते हुए पत्थर के पतन से लेकर पौधे की वृद्धि और मनुष्य की चेतना तक, कारणत्व के उसी महान् नियम के अधीन हैं—अर्थात् वे अन्ततः परमाणु–गतिशास्त्र के रूप में प्रकट होते हैं।" केवल इतना ही नहीं, किन्तु हेकल यह भी कहता है कि यह सिद्धान्त सृष्टि का युक्ति-संगत समाधान है, और कारणिक सम्बन्धों के लिये बुद्धि की याचना को शान्त करता है, क्योंकि यह सृष्टि के सभी दृश्य-चमत्कारों को विकास के महान् क्रम के भागों के रूप में, या कारणों और कार्यों की माला के रूप में जोड़ देता है।" * सृष्टि के स्वाभाविक होने की इस कल्पना के असर से ही डाक्टर बुचनर (Dr. Buchner) ने अपनी Matter and Force नामक पुस्तक में मनोविज्ञान या आध्यात्मिक तत्वज्ञान के अस्तित्व से इनकार करदिया है। अनेक लोग समझते हैं कि सारी शक्ति और सारे मन की कैफ़ियत देने के लिए प्रकृति और उसकी रासायनिक क्रियाएँ ही पर्याप्त हैं। फिर अनेक लोग ऐसे भी हैं जो व्यक्तित्व, अमरत्व, या प्रकृति की स्वतंत्रता की भावना को कुसंस्कार या असंगति समझते हैं। यह दार्शनिक और वैज्ञानिक लोगों की बात है जिनको दिन रात संपूर्ण विनाश का भय बना रहता है।

यद्यपि यह बात सत्य है कि पाश्चात्य देशों में विज्ञान और धर्म्म के बड़े २ केन्द्रों में इस जड़वाद का चिरकाल तक प्रचार रहा है और अब भी प्रचार है तथापि यह बात ध्यान देने योग्य है कि समय २ पर ऐसे मनुष्य पैदा होते रहे हैं जिन्होंने निर्भय होकर प्रकृति के प्रदेशों की छान बीन की है और विशुद्ध सत्य को समझने तथा बताने का यत्न किया है।

शरीर-शास्त्र में गहरी खोज करने से यह बात मालूम हुई है कि मनुष्य-शरीर में स्वयं–स्थिति-पालक शक्ति मौजूद है। और भिन्न भिन्न कालों के वैद्य और चिकित्सक लोग अपने रोगियों और मृतकों के वैद्यक अनुभव के आधार पर इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि मनुष्य देह में स्वयम्–उपशमकारिणी-शक्ति है जो कि रोग को बाहर निकाल कर रोगी को स्वस्थ कर देती है। औषधियां उस उपशमकारिणीशक्ति की केवल सहायता के लिये हैं। इस प्रकार वान-हल्मन्ट एक सूत्र मानने पर बाध्य हुआ था। इस का नाम उसने "आर्च्युस"

* Stallo's Concepts Modern Physics, pp. 19-20.

(Archeus) रखा था और इसे यह जड़ और निश्चेष्ट प्रकृति से स्वतंत्र समझता था। यह सूत्र उस की राय में सब रोगों पर व्यापक था और विशेष ओषधियों में रोगियों को स्वस्थ और चंगा करने वाली पर्याप्त शक्ति भर सकता था। इसी सूत्र को स्टाहल ने एनिमा (anima) या चेतन शक्ति नाम से पुकारा था। इसे वह रोगों को दबाने के अतिरिक्त क्षतियों को पूरा करने वाला और पीड़ाओं को शान्त करने वाला भी मानता था। इसी सूत्र का नाम व्हायट ने "चेतन सूत्र" रखा था। डाक्टर कल्लन ने इसे (vis medicatrix nature) नाम दिया था; डाक्टर ब्राउन ने इसे Caloric कलोरिक नाम से, डाक्टर डार्विन ने इन्द्रिय-शक्ति (Sensorial energy) नाम से, रश ने "गुह्य कारण" नाम से, ब्राउसेस (Broussais) ने 'प्राणभृत रसायन' नाम से पुकारा था; और हूपर इसे 'प्राणभूत सूत्र' नाम देता है। सजीव शक्ति, स्थितिपालक बल, मनुष्य प्रकृति की युक्ति और जीवन की शक्तियां इत्यादि अनेक नाम इस सूत्र के और भी हैं।

जहां एक तरफ़ से डाक्टर और वैद्य लोग एक प्राणभूत सूत्र में विश्वास करने लगे हैं, वहां जीव-विद्या पर आनुमानिक कल्पना इतनी बढ़ गई है कि वह जीवन की उत्पत्ति के प्रश्न की जांच करने लगी है। और निष्कपट जिज्ञासु और सरल लेखक इस बात को स्वीकार करने के लिये बाध्य हुए हैं कि "जीवन को भी एक कारण ही मान लिया जाय क्योंकि जो दृश्य-चमत्कार सारे सजीव जन्तु दिखलाते हैं उन में से अनेक ऐसे हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक नियम के साथ दिखलाया नहीं जा सकता, और जिन को, कम से कम, थोड़ी देर के लिये हमें ज़रूर 'प्राणभूत' कहना पड़ेगा। *

यह भी माना गया है कि प्रोटोप्लाज़्म नाम का एक नमनीय कार्बन-मिश्रण है जो कि कार्बन, आक्सीजन, हाइड्रोजन, और नाइट्रोजन नामक चार अवियोज्य मूल-तत्वों का बना है, और यही जीवन का भौतिक आधार है। इसी कारण बहुधा जीवन की रचनामयी उत्पत्ति के सिद्धान्त पर ज़ोर दिया जाता है। परन्तु जीवन के इस भौतिक आधार का उल्लेख करते हुए यह अवश्य कहना पड़ेगा कि यद्यपि इन चार मूल-तत्वों की विद्यमानता बाहर से इसे भौतिक आधार ठहराती है तथापि इस बात में भारी संदेह है कि इस की रचना सदा एक ही सी नियत होती है। यह अभी दिखलाया नहीं गया कि सजीव द्रव्य, जिस का उचित नाम हमने प्रोटोप्लाज़्म रखा है, सब अवस्थाओं में और सब कहीं एक ही दृढ और स्थिर रासायनिक रचना रखता है; और वास्तव में ऐसे

* Nicholson's Manual of Zoology, 6th Edition, page 7.
† Ibid, p. 9, note

अनेक कारण हैं जिन से यह विश्वास करना पड़ता है कि इस की रचना नियत और स्थिर नहीं।'† इस के अतिरिक्त नीचतम. जन्तुओं में दिखलाई देने वाले प्राण-भूत दृश्य-चमत्कारों के विपय में वैज्ञानिक लोग यह स्वीकार करने पर वाध्य हुए हैं कि प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों के लिये इन्द्रियविन्यास का होना कोई वास्तविक और आवश्यक शर्त नहीं है । अमीवा (Amoeba) नामक जीवाणु के विषय में प्रोफेसर निकलसन कहते हैं,—यह जीवाणु, जिस का शरीर अर्द्ध तरल प्रोटोप्लाज़्म के जंगम पिण्ड से कुछ ही वड़ा होता है,भोजन को—जहां तक कि खुद परिणाम का सम्बन्ध है—वैसी ही उत्तमता से पचाता है जिस-प्रकार कि एक पूर्ण इन्द्रियां रखने वाला उच्चकोटि का जन्तु अपने जटिल पाचक-यंत्र (आमाशय) के साथ पचाता है । यह भोजन को अपने भीतर लेजाता है, विना किसी पाचक-इन्द्रिय के उसे पचाता है; और इस के अतिरिक्त इस में वह गहन निर्वाचन-शक्ति है जिस के द्वारा यह अपने भोजन में से अपने-लिये-आवश्यक तत्त्वों को निकाल कर अवशिष्ट को फेंक. देता है । इस लिये, हमारे ज्ञान की वर्तमान अवस्था में, हमें यह परिणाम निकालना पड़ता है कि पाचन-क्रिया में भी जैसी कि यह अमीवा में दिखाई देती है, कुछ ऐसी वात हैं जो कि केवल भौतिक या रासायनिक ही नहीं । इसी प्रकार प्रत्येक शरीर में, मरने के झट ही वाद, पहले ही सा प्रोटोप्लाज़्म, उसी रूप और उसी व्यवस्था में मौजूद होता है; परन्तु स्पष्ट रूप से उस में उस चीज़ का अभाव हो जाता है जिस से कि उस के सभी विशेष गुण और क्रियाएं नियमित, प्रत्युत कुछ एक तो उत्पन्न भी होती थीं । वह कुछ क्या है यह हम नहीं जानते, और शायद कभी जानेंगे भी नहीं; और यह सम्भव है, यद्यपि वहुत अनुपपन्न है, कि भावी आविष्कार शायद सिद्ध करदें कि यह किसी भौतिक शक्ति का रूपान्तर मात्र है ।......यह वहुत ही सम्भाव्य मालूम होता है कि प्रत्येक प्राणभूत क्रिया में कुछ चीज़ ऐसी होती है जो कि केवल भौतिक और रासायनिक ही नहीं होती,प्रत्युत जो एक अज्ञात शक्ति द्वारा व्यवस्थित होती है । यह शक्ति दूसरी सभी शक्तियों की अपेक्षा उच्चतर, श्रेष्ठतर, और उन से सर्वथा विभिन्न होती है । इस प्राणभूत 'शक्ति' की विद्य-मानता पोषण के अतीव सरल दृश्य-चमत्कारों में भी देखी जा सकती है, और इस समय तक सन्तानोत्पत्ति के दृश्य-चमत्कारों को किसी ज्ञात भौतिक अथवा रासायनिक शक्ति की क्रिया द्वारा स्पष्ट करने का यत्न नहीं हुआ ।"*

उसी का वर्णन करते हुए प्रोफेसर हक्सले कहता है:— "ग्रेगरिनिडा (Gregarinida) के शरीर से नीचतर शरीर की कल्पना करना कठिन मालूम

* Nicholson'sZoo logy, 6th Edition, pp. 12–13.

होता है, फिर भी अनेक र्‌हाईज़ोपोडा Rhizopoda इस से भी अधिक सादा हैं। न ही कोई और ऐसा जन्तु-समूह है जो इस अतीव दृढ सिद्धान्त को कि जीवन इन्द्रियविन्यास का कारण है, उसका कार्य नहीं, अधिक स्पष्ट रीति से प्रकट करता हो, क्योंकि इन नीचतम जन्तुओं में इन्द्रियविन्यास के नाम से पुकारे जाने योग्य बिल्कुल कोई वस्तु नहीं जिसे कि सूक्ष्मदर्शकयंत्र से काम लेने वाले लोग नव-निर्माणित सुन्दर यन्त्रों की सहायता से मालूम करसकें। इन जन्तुओं में से अनेक का शरीर गाढ़े रस के एक पिण्ड के सिवा और कुछ भी नहीं। इसे आप पतले सरेश का एक छोटा सा कण समझिए। इसका यह मतलब नहीं कि इसकी रचना सरेश से मिलती है प्रत्युत इसकी बनावट और रूप उसके सदृश होते हैं; यह रचना और इन्द्रियों से रहित होता है, और न ही इसके अवयव नियत रूप से बने होते है। इस पर भी इस में जीवन के सभी आवश्यक विशेष गुण और चिन्ह होते हैं। यह एक अपने जैसे शरीर से ही उत्पन्न होता है, और भोजन को पचाने और चेष्टा करने में समर्थ होता है। इतना ही नहीं, यह एक सीपी अर्थात्—एक रचना—पैदा कर सकता है। यह रचना या सीपी अनेक अवस्थाओं में असाधारण जटिल और बहुत सुन्दर भी होती है।

"गाढ़े रस के इस कण का, आप रचना-शून्य और अवयवों के स्थायी भेद या भिन्नता से रहित होने पर भी, उन उत्कृष्ट और प्रायः गणित-शास्त्रानुसार सुव्यवस्थित रचनाओं को उत्पन्न करने के लिए भौतिक शक्तियों को मार्ग दिखाने में समर्थ होना मुझे एक बहुत ही भारी महत्व की बात मालूम होती है।"*

वह परिणाम जिस पर कि उपर्युक्त बातें हमें पहुंचाती हैं, और जिस पर कि हेकल पहुंचा है यह है कि "उनके शरीरों तथा उनकी इन्द्रियों के आकार सर्वथा उनके जीवन का ही परिणाम हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि चाहे इसे **जीवन, प्राणभूत सूत्र, व्यवस्थापक सूत्र, गुह्यकारण, इन्द्रिय-शक्ति,** vis medicatrix natura, **और चेतन-शक्ति** आदि किसी भी नाम से पुकारो, आधुनिक वैज्ञानिक जगत् एक ऐसी सत्ता को देखने लगा है जिसका सम्बन्ध कि गतिशास्त्र-सम्बन्धी शरीरविद्या Dynamic Physiology से है। इस सत्ता को वह जीवन नाम देता है। अब यह केवल एक प्रवास, केवल एक आभास, या इन्द्रियविन्यास की केवल एक उपज ही नहीं रहा। अब तो यह एक **सूक्ष्म, शुद्ध, गति-सम्बन्धी पदार्थ है,** एक ऐसी सत्ता

* An Introduction to the classifications of animals by Thomas Henry Huxley, L. L. D., F. R S., London, 1896 pp. 10-11.

है जो इन्द्रियों की रचना करती है, जो वृद्धि, जीवन-शक्ति और गति को पैदा करती, जो घावों को भरती, क्षतियों को पूरा करती, खाती पीती, और अनुभव करती है,जो चैतन्य–युक्त है,जो कर्म्मों को पैदा करती है,और जो रोगों को रोकती, दबाती, और चंगा करती है। यह है वह अनिवार्य परिणाम जिस पर कि पाश्चात्य देशों में निष्कपट जिज्ञासु और दार्शनिक लोग शरीर-शास्त्र-सम्बन्धी खोजों द्वारा पहुंचे हैं। इस प्रकार वे एक ऐसी सत्ता को मानने पर बाध्य हुए हैं (यदि तुम्हें अच्छा लगता है तो इसे भौतिक कहदो, पर है यह एक सत्ता) जिसे कि पूर्व के प्राचीन दार्शनिकों ने **आत्मा** नाम दिया था।

इस विषय में हमने जान बूझ कर प्राचीन पूर्वीय विचारकों के प्रमाण नहीं दिये। इस का स्पष्ट कारण यह है कि वर्तमान कालीन भारत अपनी मानसिक चेष्टा, धर्म, श्रद्धा, और विश्वास मुख्यतः सभ्य पाश्चात्य इंगलैण्ड से ही प्राप्त करता है। यदि हम शुरू में ही अक्षरशः ठीक इन्हीं बातों को साबित करने के लिये प्राचीन संस्कृत ग्रंथों के प्रमाण उपस्थित करते, तो इस में कुछ भी सन्देह नहीं कि इन को बिना किसी संकोच के मूढ़विश्वासी, अव्यवस्थितचित्त, अवैज्ञानिक, और गले सड़े विचार वाले लोगों की बातें कह दिया जाता; यद्यपि इस विषय पर पाश्चात्य विद्वानों का अच्छे से अच्छा प्रमाण उपस्थित किया गया है फिर भी प्रमाण की वह सुव्यवस्थित और सर्वाङ्गपूर्ण परिगणना नहीं मिलती जो कि एक निश्चित और अवधारित सम्मति का विशेष गुण है।

अब हम अपने यथार्थ विषय, 'जीवात्मा के अस्तित्व के प्रमाण' को वैशेषिक दर्शन की दृष्टि से लेते हैं। जैसा कि ऊपर कहा गया है आर्यावर्त के प्राचीन तत्त्ववेत्ता इस प्राणभूत सूत्र को **आत्मा** कहते थे। वैशेषिक दर्शन वालों ने इसे अपने नौ द्रव्यों में से एक द्रव्य माना है। वैशेषिक में द्रव्य उसे कहते हैं जिस में गुण और क्रिया हो,* अथवा जिस को अंगरेजी तत्त्वज्ञान में एक सबस्टेन्स (Substance), या, इस से भी बढ़ कर,एक **सबस्ट्रेटम** (गुणाश्रय), या **नाउमेनन** Noumenon कहा जाएगा। अतः यह स्पष्ट है कि आत्मा एक सत्ता है, जगत् के नौ मूलद्रव्यों (नाउमेना) में से एक मूलद्रव्य है और एक वस्तु है जिस में कि गुण और क्रिया अन्तर्निष्ठ हैं।

इस लिये हमें अपने आत्मा-सम्बन्धी पहले विचारों को निकाल देना चाहिये जिस से, इस दर्शन के अनुसार हम उस के स्वरूप को अधिक उत्तम रीति से समझ सकें। अंगरेज़ वेदान्ती आत्मा को प्रायः कोई अभौतिक शून्यता

* क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम ॥ वैशेषिक सूत्र १, १, १५।

समझने के कारण इस बात का कोई उत्तर नहीं दे सकते कि मन बाह्य जगत् को कैसे जानता और उस पर कैसे क्रिया करता है। मानव मन को सर्वथा अभौतिक अर्थात् प्रकृति के सभी विशेष गुणों से जहां तक कि प्रकृति का वास्तविकता विस्तार या स्थान घेरने के गुण से भी रहित मान लेने के कारण उनकी बुद्धियों को बाह्य जगत् के प्रत्यक्ष ज्ञान का प्रश्न होने पर मजबूरन ठहर जाना पड़ा है। उन्हों-ने प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण बाह्य जगत् के अनुभवों या दिव्य शक्ति द्वारा उत्पा-पादित संवादों को बताकर इस प्रश्न को हल करने का व्यर्थ यत्न किया क्योंकि प्रश्न अभी वैसा का वैसा ही बना रहा।

एक कोमल और नमनीय मोम की सिलाख लेकर उसे एक ऐसी सतह पर फैलाओ जिस पर कि एक ठोस, कठिन चित्र खुदा हुआ हो। मोम पर बड़ी सुगमता से वह चित्र बन जायगा। यह मोम पर संस्कार है। इसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि बाह्य पदार्थों का अनुभव उनके भौतिक होने के कारण सर्वथा अभौतिक आत्मा द्वारा प्रत्यक्ष रूप से नहीं हो सकता, क्योंकि हम उन पदार्थों के बीच जिन में कोई भी गुण सामान्य नहीं, किसी भी क्रिया की कल्पना नहीं कर सकते। उदाहरणार्थ मन और प्रकृति को ले लीजिए। मन तो सर्वथा कल्पनात्मक, अदृश्य, अस्पृश्य, छायावत असार शून्यता है; और प्रकृति स्वतः विद्यमान, बाह्य, वास्तविक, दृश्य; स्पर्शनीय, और इन्द्रियग्राह्य है। इसी लिए यह कहा गया था कि पदार्थों के अनुभव में जो कुछ होता है वह यह है:–पहले पहल ज्ञाना-शय बाह्य पदार्थों का संस्कार ग्रहण करता है फिर ज्ञानाशय के इसी संस्कार का अनुभव अन्ततःआत्मा को होता है। परन्तु इससे समस्या हल नहीं होती। क्योंकि, यदि ज्ञानाशय बाह्य पदार्थों का संस्कार ग्रहण करता है तो चाहे कितना ही कोमल नमनीय और परिशोधित यह ज्ञानाशय क्यों न हो फिर भी यह भौतिक होगा क्योंकि चाहे कुछ ही क्यों न हो एक भौतिक वस्तु केवल दूसरी भौतिक वस्तु पर ही संस्कार पैदा कर सकती है। इस लिये बाह्य भौतिक जगत् का संस्कार ग्रहण करने के लिये खुद ज्ञानाशय का भौतिक होना आवश्यक है। यदि ज्ञाना-शय भौतिक है जैसा कि हम इसे मानने पर बाध्य हुए हैं, तो समस्या हल न हुई, क्योंकि यह कठिनाई अभी तक बनी हुई ही है कि सर्वथा अभौतिक मन ज्ञानाशय के भौतिक और बाह्य संस्कारों का किस प्रकार अनुभव कर सकता है।

कुछ दार्शनिकों का मत है कि ईश्वरीय मध्यस्थ्य ही इस कठिनता को दूर करने का एक मात्र साधन है इस लिए वे यह सिद्धान्त घड़ते हैं कि परमात्मा, सर्वशक्तिमान होने के कारण एक ओर तो भौतिक बाह्य जगतमें प्रकृति के भौतिक दृश्य-चमत्कार पैदा करता है, और दूसरी ओर मानस-जगत् में प्रत्यक्ष रूप से

अनुरूप आन्तरिक मानसिक परिवर्तन पैदा करता है। इसी से हमें प्रतिक्षण न केवल प्रकृति और प्रकृतिक दृश्य-चमत्कारों का ही प्रत्युत सदृश मानसिक चमत्कारों का भी, जो कि ईश्वरीय इच्छा की प्रत्यक्ष क्रिया के कारण स्वावलम्बी हैं,ज्ञान रहता है। यह कहने की कोई आवश्यकता नहीं कि यह सिद्धान्त वाह्यजगत् के प्रत्यक्षज्ञान का समाधान करने के स्थान में इसप्रकार के प्रत्यक्षज्ञान के अस्तित्व से ही बिलकुल इनकार करके इस जटिलग्रन्थ को ही काट डालता है। इस सिद्धान्त के कारण हमें न केवल अपने प्रत्यक्ष ज्ञान से ही प्रत्युत खुद वाह्य जगत् से भी हाथ धो लेने पड़ते हैं, क्योंकि यदि हमें वाह्य जगत् का बोध न हो प्रत्युत ईश्वरीय माध्यस्थ्य की क्रिया से उत्पन्न हुए केवलमानसिक परिवर्तनों का ही ज्ञान हो, तो हमारे पास वाह्य जगत् के अस्तित्व का क्या प्रमाण है?

जब हम प्रकृति पर आत्मा की क्रिया के समान और सदृश प्रश्न पर विचार करने लगते हैं तो वाह्य जगत के प्रत्यक्ष ज्ञान का समाधान और भी कठिन हो जाता है। मान लीजिये कि यहां बीस सेर का एक लोहे का गोला पड़ा है। आत्मा की आज्ञा से बांह उठती है और गोले को उठा लेती है। अब यहां एक और रहस्य की व्याख्या की ज़रूरत होती है। एक सर्वथा अभौतिक आत्मा एक सर्वथा भौतिक और जड़ बीस सेर के गोले को कैसे उठा सकती है? अधीर पाठक उत्तर देगा कि गोला हाथ के कारण उठा है। लेकिन गोले के समान ही भौतिक हाथ को किस ने हिलाया? फिर शायद कोई यह भी कहे कि यह काम पट्ठों के नियम पूर्वक सिकुड़न से हुआ, परन्तु पट्ठे भी भौतिक हैं, इस लिये प्रश्न वही बना रहता है कि पट्ठों को किसने सिकोड़ा? इस पर वृथाभिमानी शरीर शास्त्र वेत्ता कह सकता है कि मस्तिष्क से एक नाड़ीगत लहर आई और उस ने एक दम पट्ठों को सुकेड़ लिया। पर मन के सन्मुख फिर भी यह प्रश्न रहता है कि नाड़ीगत लहरों को किसने प्रोत्साहित किया? आप कहेंगे कि आत्मा के संकल्प ने। अब फिर यहां सारे प्रश्नों का एक प्रश्न आ उपस्थित होता है कि क्या अभौतिक आत्मा अपने अभौतिक संकल्प से, ठोस, सफेद, तन्तुमयी, कोमल भौतिक नाड़ियों को अपना नाड़ीगत रस छोड़ने और पट्ठों को सिकोड़ने के लिये उत्तेजित कर सकती है? इस लिये यह स्पष्ट है कि अन्तिम पहिली से बचने का कोई उपाय नहीं। तो फिर यह पहेली आई कहां से इस का उत्तर साफ है। आत्मा कोई सर्वथा अभौतिक असार, शून्य, छायावत् या श्वास-रूप चीज़ है यह पहिले का बैठा हुआ झूठा ख्याल ही इस का जन्म दाता है।

एक वार इतना मान लीजिये, जैसाकि वैशेषिक दर्शन सिखाता है, कि

आत्मा वैसा ही द्रव्य है जैसा कि प्रकृति, वैसा ही गुणाश्रय या वस्तु है जैसा कि साधारण बाह्य पदार्थ, फिर यह स्पष्ट होजायगा कि किस प्रकार एक वस्तु दूसरी पर क्रिया कर सकती या उस के संस्कार को ग्रहण कर सकती है। यह विचित्र वस्तु, आत्मा, दो महान अभिव्यक्तियों—ऐच्छिक और अनैच्छिक—का स्थान है। आत्मा के ऐच्छिक या चेतन व्यापार प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव, और संकल्प हैं। इन का दूसरा नाम बुद्धि, सुख दुःख, इच्छा, द्वेष, और प्रयत्न भी है। यह ऐच्छिक व्यापार उन सब अध्यात्मवादियों के लिये विवाद का विषय बने रहे हैं जिन्होंने कि अज्ञान से या जानबूझ कर व्यापारों के दूसरे समूह-अर्थात् प्राणापान श्वास प्रश्वास) निमेषोन्मेष (आंख का झपकना,जीवन (शरीर निर्माण और चेतन)मनस् (ज्ञानेन्द्रिय), गति (चेष्टा), इन्द्रिय (इन्द्रियों का व्यापार) अन्तर्विकरण (ऐन्द्रियिक अनुभव) पर विचार नहीं किया। आत्मा के व्यापारों के इन दो समूहों को अलगर कर देने का फल यह हुआ है कि अध्यामवादियों और वैज्ञानिक लोगों में झगड़ा हो गया है और दोनों ही आत्मा की वास्तविकता से इनकार कर रहे हैं। अध्यात्मवादी metaply sicians का आत्मा की वास्तविकता से इनकार करने का प्रत्यक्ष कारण यह है कि संवेदना (sensation) अनुभव (feeling) इच्छा, रुचि, तथा प्रत्यय (desire and idea,) उपलब्धि (perception), और प्रत्यक्षज्ञान का कोई अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं, किन्तु वे सुव्यवस्थित रचना में ही व्यक्त होते प्रतीत होते हैं। इस के अतिरिक्त अध्यात्मवादियों में सभी आन्तरिक या मानसिक बातों को वास्तविक या सत्य न मान कर उन्हें कल्पित या अद्भुत समझने की प्रवृति पाई जाती है। इस लिए प्रत्यक्ष ज्ञान, अनुभव और इच्छा के साथ व्यवहार करते हुए वे मन (आत्मा) को उसके दृश्य चमत्कारों से कुछ अधिक वास्तविक नहीं समझते। यदि उनको आत्मा के अनैच्छिक व्यापारों का भी परिचय होता तो वे झट ही देख लेते कि वह सत्य कुछ चीज़ोंजो शरीरोंके बनाने या देह को सजीव करने जैसे स्पर्शनीय और वास्तविक दृश्य-चमत्कार पैदा करती है, या जो गति और गति की सद्व्यवस्था पैदा करती है, एक सत्यता है जो चैतन्यपूर्वक अनुभव करती, जानती, और संकल्प करती है।

दूसरी तरफ वैज्ञानिक जगत् आत्मा की वास्तविकता से इस के विपरीत कारण से इनकार करने पर तुला हुआ है—अर्थात् विज्ञानियों का कहना है कि शरीरों के व्यापारों के विषय में जो बाह्य चमत्कार-सम्बन्धी खोजें हम ने की हैं उन से हमें जियादा से जियादा आत्मा की अनैच्छिक शक्तियों का ही पता मिलता है, और यह अन्यथा हो नहीं सकता था। क्योंकि सारा भौतिक जगत् मनोविज्ञान की दृष्टि से, केवल विषयाश्रित भाव है। आत्मा ही एक ऐसी वस्तु है

जो एक ही समय में विषयाश्रित और अध्यात्मिक दोनों हैं। अपने जडवाद और केवल इन्द्रिय-प्रमाण के भरोसे रहने की बद्धमूल प्रवृति के कारण, वैज्ञानिक लोगों ने आत्मा के केवल विषयाश्रित को ही ढूंढ पाया है, और फलतः वे शून्य-वाद में जा ठहरे हैं जो कि आत्मा के आध्यात्मिक पक्ष से इनकार करता है। ऐन्द्रियक द्रव्य (organic matter) के बाहर कहीं आत्मा की अनैच्छिक प्रवृत्तियों को न पाकर क्योंकि वे व्यक्त न होंगी, उन्होंने चैतन्य को एक स्वाधीन द्रव्य स्वीकार करने से ही इनकार कर दिया है। चूंकि जीवन को भी अन्य शक्तियों में से एक शक्ति समझना उन्हें अधिक प्रिय और एकरूप मालूम होता है, और चूंकि शक्तियों की इस सूची में चैतन्य का कोई स्थान नहीं, इसलिए यह अवश्य ही नैसर्गिक शक्तियों की अतीव जटिल क्रिया का अभिव्यक्त भ्रामक परिणाम होगा वे रसायन प्रीति युक्त प्रकृति को ही पर्याप्त समझते हैं। यदि आत्मा ऐच्छिक और अनैच्छिक व्यापारों के दोनों समूहों को एक ही साथ देख लिया जाता तो मन पर किसी प्रकार का भी अंधकार छाया न रहता तो इस बात का ज्ञान हो जाता कि जिन को मन के अनैच्छिक व्यापार कहा जाता है उन के करने में आत्मा का व्यवहार वैसा ही होता है जैसा कि प्रकृति के भिन्न भिन्न तत्वों का आत्मा भी अपनी सहज रासायन- प्रीतियों और गति-सम्बन्धी चेष्टाओं के साथ, रक्ताशय से रक्त को, फेफड़ों से पवन को, और मस्तिष्क से विद्युत की नाड़ीगत लहरों को खेंचती और परे हटाती है। आत्मा का यह द्विगुणरूप ही गौतम के प्रशस्तपाद-भाष्य के निम्नलिखित अवतरण का विषय है।

आत्माधिकारः।

आत्मत्वाभिसम्बंधादात्मा, तस्य सौक्ष्म्यादप्रत्यक्षत्वे सति करणैः शब्दाद्युपलब्ध्यनुमितैः श्रोत्रादिभिस्समाधिगमः क्रियते, वास्यादीनामिव करणानां कर्तृ प्रयोज्यत्वदर्शनात्, शब्दादिषु प्रसिद्धया च प्रसाधकोऽनुमीयते, न शरीरेन्द्रिय मनसां चैतन्य संज्ञत्वात्। न शरीरस्य चैतन्यं, घटादिवद्भूतकार्य्यत्वान्मृते चासम्भवात्, न इन्द्रियाणां करणत्वा दुपहतेषु विषया सानिध्ये चानुस्मृति दर्शनात्, नापि मनसः करणान्तरानपेक्षित्वे युगपदालोचनानुस्मृति प्रसंगात्स्वयं करणभावाच्च, परिशेष्यादात्म कार्य्यत्वाच्चेतनात्मा समधिगम्यते। शरीर समवायिनीभ्यां च हिताहित प्राप्तिपरिहारयोग्याभ्यां प्रवृत्ति निवृत्तिभ्यां रथकर्मणा सारथिवत्प्रयत्नवान्विग्रहस्याधिष्ठातानुमीयते। प्राणादिभिश्च कथं शरीर परिगृहीते वायौ विकृतकर्म्म दर्शनाद्भस्त्राधमापयितेव, निमेषोन्मेषकर्म्मणा नियतेन दारुयंत्रप्रयोक्तेव, देहस्य वृद्धिक्षतभग्नसंरोहणादि निमित्तत्वादगृहपतिरिव, अभिमत विषयग्राहक करण संम्बन्ध निमित्तेन मनः कर्म्मणा गृहकोणेषु पजकप्रेरक इव दारकः, नयनविषयालोचना-

न्तरं रसानुस्मृतिक्रमेण रसविक्रिया दर्शनादने कगवाक्षान्तर्गत प्रेक्षकवदुभय-दर्शी कश्चिदेको विज्ञायते। बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्नैश्च गुणैर्गुण्यनुमीयते। ते च न शरीरेन्द्रियगुणाः, कस्मादहंकारेणैकवाक्यताभावात्प्रदेश वृत्तित्वाद याव-द्द्रव्यभावित्वाद्बाह्येन्द्रिया प्रत्यक्षत्वाच्च तथाहं शब्देन पृथिव्यादि शब्दव्य तिरेका-दितितस्य गुणा बुद्धि सुखदुःखेच्छाद्वेष प्रयत्न धर्मा धर्म संस्कार संख्यापरि-माण पृथक्त्व संयोग विभागः। आत्मलिंगाधिकारे बुद्ध्यादयः प्रयत्नान्तः सिद्धाः, धर्माधर्मावात्मान्तरगुणानाम कारणत्व वचनात्, संस्कारः स्मृत्युत्पत्तौ कारणत्व वचनात्. व्यवस्थावचनात्संख्या, पृथक्त्वमतएव, तथाचात्मेति वचनात्परम मह-त्परिमाणम्, सन्निकर्षजत्वात्सुखादीना संयोगस्तद्विनाशकत्वाद्विभागा इति। प्रशस्तपादभाष्य आत्माधिकरणम् ॥

ऊपर के वचन का स्थूल और प्रायः शाब्दिक अनुवाद यह है:—

"दूसरा पदार्थ आत्मा कहलाता है क्योंकि इस में शरीर में स्वतंत्रता पूर्वक भ्रमण करने का विशेष गुण है। सूक्ष्म होने के कारण इसकी इन्द्रियों द्वारा उपलब्धि नहीं हो सकती। इस लिए इसके अस्तित्व का पता आंख, कान, इत्यादि साधनी भूत इन्द्रियों के सुस्वर व्यापार से लगता है, क्योंकि इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि इन्द्रियां केवल साधन हैं, जिन से काम लेने के लिए, शेष सब यंत्रों की तरह, किसी कर्त्ता या शक्ति की जरूरत है। इसके अतिरिक्त; जब शब्दों, वर्ण और स्वादों आदि का स्वरूप भली भांति ज्ञेय माना गया है, तो फिर ज्ञाता के अस्तित्व को स्वीकार करना भी स्वाभाविक है। यह ज्ञाता शरीर, इन्द्रियां, *या मनस† नहीं हो सकता क्योंकि इन में चेतना नहीं। शरीर में चेतना नहीं, क्योंकि यह प्रकृति के निर्जीव, जड़ और सर्वथा अचेतन तत्वों और पर-माणुओं के संयोग का परिणाम है, जिस प्रकार कि घड़ादि सामान्य पदार्थ चेत-नाशून्य है। इसके अतिरिक्त शरीर के चैतन्य शून्य होने का प्रमाण एक यह भी है कि यदि चेतना का कारण सचमुच शरीर ही होता तो मृत्यु के बाद यह कभी भी चेतना शून्य न हो जाता। नही इन्द्रियां चैतन्य का कारण हैं, क्योंकि एक तो ये साधन मात्र हैं, दूसरे यदि ये चेतना का कारण होतीं तो उनके नष्ट

---

* यहां चर्म की स्थूल इन्द्रियों से अभिप्राय नहीं प्रत्युत आत्मा की उन अदृश्य और सूक्ष्म इन्द्रियों या शक्तियों से अभिप्राय है जोकि इन स्थूल इन्द्रियों में रहती हैं।

† संस्कृत तत्वज्ञान में मनुष्य तीन सत्ताओं का बना माना गया है, अर्थात् १ भौतिकशरीर या स्थूलशरीर; २ सूक्ष्म शरीर या मनस्। मनस जीवन और संवेदन सूत्रों (sensation) (principles) का एकव्यूह है। पर स्थूल शरीर ३ अन्तरात्मा के बीच एक जोड़ने वाली सूक्ष्म, अतीन्द्रिय मध्यवर्ती शृंखला है, यह अन्तरात्मा ही वास्तविक मनुष्य और मध्यवर्ती नी सत्ता है॥

होजाने के साथ चेतना भी अवश्य ही नष्ट हो जाती, और उनके आस्तित्व से चैतन्य का आविष्कार होता, पर ये दोनों बातें ठीक नहीं। आंख के खराब होजाने पर रंगीन चीजों को उपलब्धि चाहे न होसके पर याद वे फिर भी आसकती हैं; इस लिए एक इन्द्रिय के नष्ट या बिगड़ जाने पर भी अनुस्मृति के रूप में चेतना बनी रहती है। इसी प्रकार सभी इन्द्रियों के स्वस्थ होते हुए भी, जब उपलब्धि के विषय उनके सम्मुख उपस्थित न किए जायें, चेतना का अभाव होसकता है। इस लिए इन्द्रियां चेतन सत्तायें नहीं। न ही मनस चेतन सत्ता है, क्योंकि यह भी अन्त को एक साधन है, और यदि यह आत्मा के हाथ में एक साधन न होता तो सूक्ष्म शरीर के लिए एक ही समय में और झटपट एक से अधिक संस्कारों का ज्ञान लाभ करना सम्भव होता, पर यह बात नहीं है। इस लिए अब स्थूल शरीर इन्द्रियों, और मनस् (सूक्ष्म शरीर) के अलावा एक चौथी सत्ता का आस्तित्व भी स्पष्टतः प्रतिष्ठित होगया।"

"आत्मा के सम्बन्ध में प्रारम्भिक अनुमान इसके रथ के सारथि की तरह एक शासक सत्ता होने का है। जब सारथि अपने पट्ठों का बल लगाकर रथ को खेंचने वाले घोड़ों की वागों को इधर या उधर फेरता है तो रथ गति की आज्ञा में होकर उसी ओर को चलने लगता है। अब हमारे शरीर की चेष्टाएं भी जिन्हें प्रवृत्ति, अर्थात् जिसे सुखकर समझा जाता है उस में लगाना, और निवृत्ति, अर्थात् जिसे दुःखकर समझा जाता है उससे इच्छा पूर्वक हटना कहते हैं इसी प्रकार शरीर में मुड़ती हुई देखी जाती हैं। हमारा शरीर इस प्रकार एक रथ की तरह है, सारथि आत्मा वागों को पकड़े हुए शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति को अपनी इच्छा के अनुसार मोड़ता है। आत्मा के विषय में हमारा दूसरा अनुमान धौंकनी में से लगातार वायु को निकालते हुए लुहार का है। फेफड़ों में जाने वाला वायु रासायिनिक रीति से दूषित होजाता है, और आत्मा इसको अपने फेफड़े रूपी धौंकनी से लगातार बाहर निकालता रहता है। हमारा तीसरा अनुमान आंखों की पलकों के स्वाभाविक झपकने से है। जिस प्रकार मदारी तारों को खींचकर पुतलियों को नचाता है, उसी प्रकार आत्मा के प्रयत्न से पैदा होने वाला विशेष नाड़ियों का तनाव आंखों की पलकों की चेष्टाएं कराता रहता है। आत्मा के विषय में हमारा चौथा अनुमान एक शिल्पी (मकान बनाने वाले) का है। गृहपति शिल्पी शीघ्र ही अपना गृह मन्दिर बना लेता है, टूटी हुई

जोकि क्रिया करती, अनुभव करती, उपभोग करती, और चेतन है। मनस् के इस व्यूह से यह परिणाम यह निकलता है कि आत्मा के लिए एक ही समय में दो संस्कारों का ज्ञान प्राप्त करना असम्भव है॥

सीढ़ियों या गिरी हुई छत्त की मुरम्मत कर देता है और अपने मैले कमरों में सफेदी करलेता है। इसी प्रकार आत्मा रूपी शिल्पी भी अविकसित शरीर की वृद्धि करता, इसके घावों और इसके टूटे हुए या क्षति ग्रस्त अंगों की मरम्मत करता है। आत्मा के विषय में हमारा पांचवां अनुमान एक बालक का है जो कि छड़ी के साथ एक मकड़ी को कमरे के एक कोने से दूसरे कोने में दौड़ता फिरता है। इसी प्रकार आत्मा सूक्ष्म शरीर (मन) को, बालक के से कौतुक के साथ, शरीर के एक कोने (इन्द्रिय) से दूसरे कोने में फिराता है हमारा छठा अनुमान एक दर्शक का है जो कि एक गोल कमरे के बीच में खड़ा है। कमरे में चारों ओर खिड़कियां हैं इस लिए वह, अपने उच्च स्थान से, प्रत्येक दिशा में होने वाली घटनाओं को, यथार्थ खिड़कियों में से शान्त पूर्वक देख सकता है। नेत्रों के सामने एक फल रक्खा जाता है। वे उसका रंग ही देख पाते हैं, लेकिन इसका स्वाद झट स्मरण हो आता है और माधुर्य की प्रचुरता से जिह्वा से थूक निकलने लगता है। इनके अतिरिक्त हम सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न और बुद्धि आदि गुणों से एक वस्तु के अस्तित्व का अनुमान करते है। ये गुण शरीर या इन्द्रियों के नहीं। क्योंकि अहंकार अपना ऐक्य भाव इन गुणों के साथ बताता है, शरीर या इन्द्रियों के साथ नहीं। "मैं अनुभव करता हूं, मैं इच्छा करता हूँ" चैतन्य की सच्ची कैफियतें हैं, परन्तु यह नहीं कि शरीर या इन्द्रियां अनुभव करती, या इच्छा करती, या चेतन हैं।"

"यह गुण उस द्रव्य को जतलाते हैं जिस में कि यह रहते हैं यह किसी किसी या प्रत्येक वस्तु में नहीं पाये जाते, और बाहर की इंद्रियां इन्हें जान नहीं सकतीं इसलिए ये एक तीसरी चीज अर्थात् आत्मा के गुण हैं। आत्मा के गुण ये हैं:— बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्माधर्म, संस्कार, संख्या; परिमाण, पृथकत्व, संयोग और विभाग। पहले छः गुणों का ऊपर ज़िक्र हो चुका है। धर्माधर्म आत्मा के गुण हैं क्योंकि वह एक ज़िम्मेदार कारक है। आत्मा के संस्कार ग्रहण के योग्य भी हैं क्योंकि केवल यही संस्कार ही स्मृति का कारण हो सकते हैं। प्रत्येक व्यक्ति का अहंकार दूसरे व्यक्तियों से भिन्न उपभोगों का परिचय रखता है, और दूसरे व्यक्ति के अनुभवों और अवस्थाओं को अपनी चेतना के सामने उपस्थित करने में असमर्थ है, इस लिए यह स्पष्ट है कि प्रत्येक आत्मा की एक पृथक सत्ता है और इस में संख्या का गुण है शरीर में स्वतंत्रता पूर्वक विचारने से उस में परिमाण का होना सिद्ध है। सुख और दुःख सब सूक्ष्मशरीर (मन) में उत्पन्न होते हैं। आत्मा को उनका ज्ञान केवल मनके साथ उस के सम्पर्क के कारण होता है और इसी मन के द्वारा वह अनुभव

के विषय को जानता है। इस से इस में संयोग और विभा के गुणों का होना पाया गया"

उपर्युक्त बचन की व्याख्या सुनिये :—

पहले इस में आत्मा को एक सूक्ष्म सत्ता दिखलाया गया है जोकि इन्द्रिय ग्राह्य नहीं। इस मत के विरुद्ध एक पक्षपात पाया जाता है। आगे चलने के पूर्व उसे साफ कर देना आवश्यक है। पक्षपात यह है कि जो कुछ **अदृश्य, अतीन्द्रिय,** या सूक्ष्म हो उसे न मानना। यह पक्षपात या तो बहुत ज़ियादा उथले अनुभव के कारण से, या सर्वथा भौतिक या प्राकृतिक व्यापारों और केवल परीक्षा मूलक या निरुपाख्तिक विद्याओं के साथ एकमात्र गाढ़ नुराग रखने के कारण पैदा होता है, क्योंकि इन में अवलोकन की शक्तियों का ही निरन्तर प्रयोजन रहता है, चिन्ता, कल्पना या प्रत्याहार का पहले तो काम ही नहीं पड़ता, और फिर यदि कभी पड़ता भी है तो बहुत कम। इन्ही विद्याओं के दृश्य—चमत्कारों के साथ गहरा परिचय प्राप्त हो जाने पर यह बात प्रमाणित हो जायगी कि इन दृश्य—चमत्कारों के प्रकृत कारण फलतः वास्तविक सत्ताएँ, सदा गुप्त, अदृश्य, और अगोचर रहती हैं। उदाहरणार्थ **गुरुत्वाकर्षण** को ही लीजिए। ब्राह्मण्ड में प्रकृति का प्रत्येक कण प्रकृति के दूसरे कण को आकृष्ट करता है। उनके आकर्षण की शक्ति उनके पिण्डों के घात के प्रमाण से और उनकी दूरियों के वर्ग के विपर्यस्त प्रमाण से होती है शक्ति का नाम वैज्ञानिक लोग गुरुत्वाकर्षण रखते हैं। इस अकेले नियम के कार्य या इस अकेली शक्ति की क्रिया से पैदा होने वाले **प्रत्यक्ष कार्यों** की अनन्तता को देखिए। छोटे से छोटे अणु से लेकर बड़े से बड़े सूर्य तक प्रत्येक चीज़ इस विषय के अधीन है। गुरुत्वाकर्षण जगत्सम्बंधी गतियों के सभी दृश्य-चमत्कारों का—ग्रहों के अपने पथों पर घूमने, उपग्रहों के ग्रहों के गिर्द चक्कर काटने, ऋतुओं के परिवर्तन, धूम केतुओं के उड़ने, उल्काओं के गिरने, ज्वार भाटे, और ग्रहणों का जन्मदाता है? इसके नानारूप कार्यों के प्रत्यक्ष होते हुए भी क्या खुद गुरुत्वाकर्षण प्रत्यक्ष हैं, या क्या वह एक **सूक्ष्म, अदृश्य,** परन्तु वास्तविक शक्ति है जोकि प्रकृति में **विद्यमान है** और अपने **दृश्य प्रत्यक्ष** अद्भुत कार्यों से अपने आप को प्रकट करती है। या एक और **बिजली** उदाहरण लीजिए। सर्व-व्यापक वस्तु क्या है? प्रकृति का कोई भी कण, ऐसा नहीं जिस में यह न हो। रगड़ द्वारा उत्तेजनीय, या प्रवर्तनीय होते हुए यह

प्रत्येक भौतिक शरीर के भीतर गुप्त और अदृश्य रूप से रहती है। तार-समाचार भेजते समय जब विद्युद्धारा तारों में से गुज़रती है, तो यह अकस्मात ही सारा मार्ग तय कर लेती है, तारों पर इस का कोई स्थूल और दृश्य कार्य शेष नहीं रह जाता; परन्तु वही अदृश्य, गुप्त तत्व पहुंचने-के-स्थान में घण्टी के बजने, चुम्बक की तेज़ खटखटाहट, डायल के हिलने, या स्याही या पंसिल के हचकोले से अपने आप को प्रकट करता है। चुम्बक-शक्ति का व्यापार इस से भी अधिक दुर्बोध है। घोड़े की नाल की शकल का लोहे का एक भारी पिण्ड, जिस पर लाख (Shellac) से मढ़ी हुई तांबे की तार की एक लम्बी कुण्डली चढ़ी हुई है, पड़ा है: उस के समीप ही लोहे की कीलों, सूइयों और हथौड़े आदि का एक बड़ा ढेर लगा है। अभी चुम्बकीय शक्ति का जादू काम नहीं करने लगा। झट एक प्रबल बैटरी से बिजली की एक धारा कुण्डली में भेजी जाती है और निश्चेष्ट, निर्जीव, नाल एक अद्भुत शक्ति पाकर जी उठती है। यह बड़े बल से कीलों, हथौड़ों, सूइयों, और अपने आस पास की प्रत्येक लोहे की वस्तु को आकृष्ट करने लगती है। यद्यपि यह दिखाई नहीं देता, परन्तु अब यह चुम्बकीय शक्ति का क्रीडा-स्थल है। यह शक्ति अपने कार्यों और अभिव्यक्तियों में इतनी प्रबल होने पर भी, स्वयं सूक्ष्म और अदृश्य है।

इसलिए यह स्पष्ट है कि वस्तुओं के प्रकृत कारण गुप्त, अदृश्य, और अतीन्द्रिय हैं। उन के कार्य अर्थात् उन के उत्पन्न किए हुए दृश्य-चमत्कार ही दृश्य और इन्द्रियगोचर हैं। ऐसी अवस्थाओं में तर्क का प्रधान हेत्वाभास यह है कि क्रिया के दृश्य और आसन्न साधनों को कारण समझ लिया जाता है; जब कि प्रकृत कारण गुप्त; परन्तु वास्तविक और सनातन हैं। यदि जीवन युक्त ऐन्द्रियिक जीव-जन्तुओं द्वारा, और सब से बढ़कर मनुष्य द्वारा प्रकाशित प्राणभूत दृश्य-चमत्कारों की नींव में कोई कारण है, तो उस कारण का गुप्त, अदृश्य, और अतीन्द्रिय, और फलतः सनातन होना परमावश्यक है। इसलिए आत्मा का सूक्ष्म, अदृश्य स्वरूप उसके अस्तित्व के विरुद्ध आपत्ति होने के स्थान, वास्तव में, उस के अस्तित्व का समर्थक प्रमाण और आवश्यक अनुमान है।

इसलिए विषयाश्रित रीति से देखने पर आत्मा केवल **अनुमान** का ही विषय हो सकता है। अब प्रत्येक अनुमान में पहले दो बातें मान ली जाती हैं, एक तो वह जिस के अस्तित्व का अनुमान करना है, और दूसरे **निश्चित** स्वीकृत तत्व जिन से उस अस्तित्व का अनुमान होता है। अनुमान का आधार कुछ सादृश्य या अनुरूपता होती है। अनुमान की बड़ी समस्या वस्तुतः इस बात का निश्चय करने में है कि ऐसे अनुमान के लिए कौनसा सादृश्य पर्याप्त और

कौनसा अपर्याप्त समझा जाए। ज्ञात स्वीकृत तत्व जिन से अज्ञात वस्तु का अनुमान होता है संस्कृत तर्क में लिंग, और जिस वस्तु का अनुमान किया जाता है वह **अनुमेय** कहलाती है। अनुमान के इस प्रश्न के विषय में तार्किक काश्यप कहता है:—

अनुमेयेन सम्बद्धं प्रसिद्धं च तदन्विते।
तदभावे च नास्त्येव तल्लिङ्गमनुमापकम्॥

अर्थात् "अनुमान के लिए वही लिङ्ग समर्थनीय है जिस का किसी समय या किसी स्थान में अनुमेय का सहवर्ती होना मालूम हो, दूसरे यह भी ज्ञात हो कि वह वहां विद्यमान है जहां कि अनुमेय वस्तु के सदृश वस्तु वर्तमान है, और तीसरे वह वहां नहीं जहां कि अनुमेय के असदृश वस्तु है।" अच्छा अब हम साकार उदाहरण लेते हैं। बैरामीटर की नली में पारे के गिरने से हम वायु के दवाव के कम हो जाने का अनुमान करते हैं। अब देखना चाहिए कि ऐसा अनुमान समर्थनीय हो सकता है या नहीं। पारे का नीचे उतर आना ज्ञात है, पर दवाव की कमी ज्ञात नहीं। परन्तु हमें एक विशेष प्रयोग (अर्थात् एक विशेष स्थान और समय पर किए हुए प्रयोग) से मालूम है कि दवाव के घटने से बैरामीटर का पारा नीचे गिर जाता है। यह पहली शर्त पूरी हुई। दूसरे, दवाव के घटने की वैसी ही अवस्थाओं में, चाहे उन का कारण कुछ ही क्यों न हो, बैरामीटर सदा नीचे उतर आता है, परन्तु तीसरी शर्त पूरी नहीं हुई। यह बात सत्य नहीं कि जहां बैरामीटर का पारा नहीं गिरता वहां दवाव में कोई कमी नहीं होती, क्योंकि दवाव के घट जाने पर भी हो सकता है कि बैरामीटर न गिरे। ताप के बढ़ जाने से पारा फैल कर हलका हो गया। यदि वही दवाव बना रहता तो पारा बहुत ऊपर चढ़ जाता, परन्तु दवाव के घट जाने ने पारे के चढ़ने को रोक दिया और देखने में पारा वहीं ही रहा जहां कि वह पहले था। इस लिए काश्यप की तीन शर्तें सनिश्चय सिद्ध करती हैं कि बैरामीटर का उतरना दवाव के घटने का लिङ्ग नहीं। इसी प्रकार की वितर्क से यह प्रमाणित हो जायगा कि पारे के उपरिस्थित स्तम्भ के भार का घट जाना दवाव के घट जाने का लिंग (अनुमान) है।

सामान्यतः यह दिखला देने के पश्चात् कि अनुमान के आधार के लिए कौन कौन से लिङ्ग योग्य हैं अब यह देखना बाकी है कि आत्मा के अस्तित्व के अनुमान के लिए कौन से दृश्य-चमत्कार आधार का काम दे सकते हैं। इन

दृश्य-चमत्कारों का आत्मा के साथ कोई नियत सम्बंध होना आवश्यक है; साथ ही यह भी आवश्यक है कि कुछ अवस्थाओं में जहां आत्मा के आवश्यक गुण पाये जाते हों वहां इन का उपस्थित होना भी ज्ञात हो; और जहां ये न मिलें वहां कोई आत्मा भी न हो। ये दृश्य-चमत्कार दो प्रकार के हैं; एक तो शारीरिक इन्द्रियों का व्यापार और चेष्टा, और दूसरे, वे संवेदनाएं जिन का मनुष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान है। इस लिए इन दो प्रकार के दृश्य-चमत्कारों से ही आत्मा के अस्तित्व का अनुमान विषयाश्रित रीति से हो सकता है। चेतन आत्मा का एक विशेष गुण है, इस लिए केवल यही मालूम नहीं कि शारीरिक इन्द्रियों की कुछ चेष्टाएं चेतन आत्मा के प्रयत्न से उत्पन्न होती हैं; प्रत्युत कई ऐसे भी व्यापार ज्ञात हैं जो प्रयत्न से उत्पन्न नहीं होते परन्तु जहां कहीं भी चेतन है वहां वे अवश्य देखे जाते हैं; और सभी जीवन युक्त शरीर मृत्यु के पश्चात्, या जीवन शून्य वस्तुओं की रचनाएं उन व्यापारों से शून्य होती हैं। यही अवस्था संवेदनाओं की है।

इन दृश्य-चमत्कारों का सविस्तर वर्णन करने के पहले उस वाद की पड़ताल कर लेना उपयोगी होगा जो कि आत्मा के स्वतंत्र अस्तित्व के विरुद्ध उपस्थित किया जाता है, और जो प्रतिभाहीन जिज्ञासुओं के लिए इस विषय को ठीक तौर पर समझने में एक बड़ा बाधक हो रहा है। वह वाद स्वाभाविक-सृष्टि वाद (mechanical) है। हम दिखलायेंगे कि यह वाद चेतना का कहां तक समाधान कर सकता है।

आत्मा को छोड़ कर, मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, और मन इन तीन पदार्थों का बना है। शरीर जिस का लक्षण महामुनी गौतम अपने न्याय दर्शन में "चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् (१।१।११)" करते हैं, उस में स्थापित स्थूल इन्द्रियों-सहित देह का ठोस ढांचा है। यह सारी चेष्टाओं की भित्ति, सारी इन्द्रियों और उन की संवेदनाओं का स्थान है। इन्द्रियां पांच सूक्ष्म सत्ताएं हैं। ये पांच स्थूल ज्ञानेन्द्रियों में यथाक्रम स्थापित, पर उन से विभिन्न हैं। इन में से प्रत्येक के द्वारा आत्मा पांच सम्वेदनाओं—गंध, रस, रूप, स्पर्श, और शब्द—में से प्रत्येक की नियत और विभिन्न चेतना लाभ करता है। आत्मा की उपलब्धि के लिए इन्द्रियां संवेदना के अदृश्य, आन्तिरिक माध्यम हैं। उन के बाहर की स्थूल इन्द्रियों से स्वतंत्र होने पर हंस नहीं देना चाहिए। क्योंकि अनेक बार देखा गया है कि कान का सुनने का परदा (fympanic membrane), मोगरी (hammer), और अहिरन (anvil) नष्ट हो गये हैं, पर सुनने की शक्ति वैसी की वैसी बनी हुई है। और यही अवस्था दूसरी इन्द्रियों की है। वास्तव में इन्द्रियों का स्थूल

दृश्य इन्द्रियों से स्वतंत्र होना किसी प्रकार हमारे अनुभव का निषेधक नहीं, प्रत्युत मानव-अनुभव इस का ऐसी अच्छी तरह से समर्थन करता है कि सच्चे तर्क को इस में कभी भी सन्देह नहीं होता। क्योंकि "शारीरिक विश्राम के समय में जब कि शरीर के अंग प्रत्यंग नवीन शक्ति और नया बल प्रत्युत्पन्न और संग्रह कर रहे होते हैं, और जब कि बाह्य संस्कारों के लिए इन्द्रियां बन्द होती हैं, मन, सब बाधक और क्षोभजनक प्रभावों से रहित होकर, भिन्न २ स्थानों में कल्पनात्मक पर्यटन करता है और चिन्ता से भिन्न २ वस्तुओं को उत्पन्न कर लेता है। वह कल्पना करता है, वह देखता है, और वह सुनता है। कभी कभी अपनी यात्रा में वह किसी मधुर गान से, या नाना प्रकार के मनोहर दृश्यों पर, जिनका कि वह आनन्द लूटता हुआ प्रतीत होता है, मुग्ध होकर ठहर जाता है। कई बार यह कल्पना करता है कि मैं चल रहा हूं, अनुभव करता हूं, चखता हूं, या असह्य पीड़ा से व्यथित हो रहा हूं। यह भी प्रतीत होता है कि वह अनेक ऐसी बातों पर आग्रह कर रहा है जिन पर आग्रह करने की उस की पहले कोई इच्छा या कामना न थी। इन सारे देशाटनों में शब्द के तरंग, प्रकाश के परावर्तन, स्पर्श की ग्रहण शीलता और चखने के आनन्द का उपभोग करने की कल्पना कर ली जाती है। यह सिद्ध करता है कि **संवेदना का एक आन्तरिक माध्यम है** जिस के द्वारा मन अपनी वृत्ति का उपभोग करता है, मानो बाह्य जगत् के साथ इस का सम्बन्ध हो। इस से यह भी सिद्ध होता है कि संवेदना की इन नाड़ियों के ऊपर एक माध्यम है जो कि **आन्तरिक और बाह्य दोनों विद्यमान कारणों से स्वतंत्र है।**"* संवेदना का यह माध्यम इन्द्रिय हैं। और अन्ततः मन आत्मा से भिन्न एक तीसरी सत्ता है। गौतम अपने न्यायदर्शन में कहते हैं "युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम्" १।१६॥ अर्थात् मन का अस्तित्व इस से सिद्ध है कि मनुष्य एक समय में एक ही बात पर ध्यान दे सकता है। कहते हैं कि एक बार एक यूनानी तत्त्ववेत्ता गणित का कोई प्रश्न हल करने में लगा हुआ था; उस के पास से एक सेना गुज़र गई पर उसे इस की खबर भी न हुई। अन्त को जब एक सिपाही ने उस दार्शनिक के पृथ्वी पर बनाए हुए चक्र को मिटा दिया तब कहीं उस का ध्यान भंग हुआ। तत्पश्चात् क्या हुआ यह इतिहास से पूछिए। क्या उस सेना की गति सर्वथा निःशब्द थी? क्या जिस समय वह तत्त्वज्ञानी प्रश्न हल कर रहा

* Principles of Nature, by Andrew Jackson Davis.

था उस समय कोई शब्द तरंग नहीं पैदा होते थे ? क्या तरंग उस के कान के गढ़े में नहीं घुसे, और क्या उन्होंने सुनने के परदे को, कान के भीतरी टेढ़े मेढ़े स्थान में बड़ी सूक्ष्म रीति से रक्खी हुई हड्डी (stapes) और कण-पूर्ण रस को, वस्तुतः नाड़ियों पर संवेदना के अदृश्य माध्यम, अर्थात् इन्द्रिय को कम्पायमान नहीं किया ? यह सब कुछ हुआ अवश्य, पर तत्त्वज्ञानी का इस ओर ध्यान न था। तत्त्वज्ञानी में कुछ वस्तु ऐसी थी जिसका सोचते समय–प्रश्न को हल करते समय–भीतरी कान के साथ संसर्ग न था; कुछ वस्तु जिसका जब एक इन्द्रिय के साथ संसर्ग होता है तो उसी समय दूसरी इन्द्रिय से संसर्ग टूट जाता है। इन्द्रिय के साथ, अतः स्थूल इन्द्रिय-गोलक के साथ इसके संसर्ग को ही हम ध्यान या मनोयोग कहते हैं। इस से इसका वियोग सम्बन्ध के सूत्रों को काट देता है, और इसका जो परिणाम होता है उसे हम अन्यमनस्कता कहते हैं। न ही यह मनस् चेतन सत्ता है; क्योंकि, कौन नहीं जानता कि वे सारे प्रत्यय (Ideas) जो हमारे अनुभव ने हमारे लिए प्राप्त किए हैं अधिक काल तक गुप्त लिपिबद्ध अवस्था में मस्तिष्क में, या अधिक शुद्ध रीति से कहें तो, मनस् में पड़े रहते हैं, परन्तु उन में से कोई एक केवल उसी समय स्मरण आता है जब कि उसे पुनः बुलाया जाता है।

हमने देख लिया कि शरीर, इन्द्रिय, और मनस् क्या पदार्थ हैं। अब हम परीक्षा करेंगे कि क्या इनमें से कोई एक चेतन है। क्योंकि, यदि, आत्मा को छोड़ कर, मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, और मनस् इन तीन पदार्थों का बना है, और यदि इन में से प्रत्येक चेतना शून्य या चेतना का विकास करने के अयोग्य प्रमाणित होजाय, तो फिर चौथी वस्तु–आत्मा–के चेतन सत्ता होने में कोई सन्देह न रह जायगा। पहले, शरीर चेतन सत्ता नहीं क्योंकि यह प्रकृति के जीवनशून्य, निश्चेष्ट और सर्वथा अचेतन तत्त्वों और अणुओं के मिश्रण का फल है, और वे सारे पिण्ड जो ऐसे कणों के मिश्रण से बने हैं स्वयं भी जीवनशून्य और अचेतन हैं। जड़ रासायनिक मिश्रणों का सारा जगत्, जिस में घड़ियां, स्टीम एञ्जिन इत्यादि सभी आजाते हैं, इस नियम का दृष्टांत है। ऐन्द्रियिक मिश्रण भी इस नियम से बाहर नहीं। जब तक ऐन्द्रियिक पदार्थों का एक जीवन युक्त बीज के साथ मेल है, तब तक उनकी अभिव्यक्तियां बहुत कुछ परिवर्तित और विकृत रहती हैं, पर जीवन दाता सूत्र के चले जाने पर, ऐंद्रियिक रचना भी जीवन-शक्ति और चेतना के चिन्ह दिखलाने में असमर्थ हो जाती है। इस को कुछ और स्पष्ट करते हैं।

मान लीजिये कि शरीर चेतन है। अब हमें पता लगाना चाहिए कि यह चेतना उस में स्वाभाविक है या नैमित्तिक। यदि स्वाभाविक है तो शरीर को मृत्यु के उपरान्त भी चेतन होना चाहिए, पर यह बात नहीं। यदि यह नैमित्तिक है, तो इसका अर्थ यह है कि चेतना के लिए हमें शरीर के अतिरिक्त किसी और वस्तु की तलाश करनी चाहिए। न ही इन्द्रियां चेतन सत्ताएं हैं, क्योंकि, वे तो केवल साधन हैं जिन से काम लेने के लिए एक कारक की आवश्यकता है। इसके अतिरिक्त, यह बात नहीं कि जहां इन्द्रियां विद्यमान हों वहां चेतना भी अवश्य होती है, जैसा कि अन्यमनस्कता की अवस्था में होता है. न ही उनके नष्ट होजाने से चेतना नष्ट हो जाती है, क्योंकि, आंख के खराब होजाने, बलिक गोलक से सर्वथा निकाल दिये जाने पर भी चेतना में रंगीन वस्तुओं की स्मृति हो जाती है। वही मनस् चेतन सत्ता है, क्योंकि यदि वह चेतन होता तो इसे प्रत्यक्ष रूप से प्रत्येक संस्कार का ज्ञान होता, और हमें एक ही समय में दो संस्कारों को पहचानने की असमता आदि रुकावटें न देखनी पड़तीं।

मनुष्य की अपनी चेतना पर थोड़ी देर के लिए गम्भीरता पूर्वक विचार करने से प्रत्येक व्यक्ति को आत्मा के शरीर, इसकी इन्द्रियों, व्यापारों, विकारों, प्रत्युत संवेदनाओं से भी पृथक्त्व का विश्वास हो जायगा। उपर्युक्त सारे तर्क का मूलाधार दो महान् व्यापक नियम हैं। पहला नियम जो बड़ा प्रसिद्ध है। वह यहहै कि अभाव से भाव उत्पन्न नहीं हो सकता। इसका स्वरूप इस प्रकार कहा गया है:-

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्वदर्शिभिः॥ *

अर्थात् "अभाव से भाव, और भाव से अभाव कभी नहीं हो सकता।" बुद्धिमानों ने इन दोनों प्रतिज्ञाओं की सचाई की पूरी २ जांच की है। स्वार्थी, अल्पविद्यायुक्त, इन्द्रियाराम, पापासक्त पुरुष इसको सुगमता से नहीं जान सकते।† सारे निर्दोष तत्वज्ञान का यही प्रधान नियम है। सृष्टि सर्वथा असम्भव है। प्रकृति के नियम केवल रचना को प्रकट करते हैं। आओ, एक घड़ी के लिये यह मानलें कि सृष्टि का होना सम्भव है, और अभाव से भाव की उत्पत्ति हो सकती है। यह कल्पना ही इस बात को मान लेती है कि कोई अभाव है जो भाव को उत्पन्न कर सकता है। इस लिए दो प्रकार के अभाव सिद्ध हुए, एक तो साधारण अभाव जिस से कोई वस्तु पैदा नहीं होती, और दूसरा यह विशेष अभाव जिस

* भगवद्गीता, २, १६।

† स्वामी दयानन्द कृत सत्यार्थप्रकाश पृष्ठ २२२, तीसरा संस्करण।

से भाव की उत्पत्ति होती है। अब जिस के अनेक प्रकार हैं वह अभाव नहीं, भाव है। इस लिए वह अभाव जो दो प्रकार का है भाव के सिवा और कोई पदार्थ नहीं। अथवा, भाव से ही भाव उत्पन्न हो सकता है। इस के उलट की कल्पना सर्वथा असम्भव है। दूसरा नियम वैशेषिक दर्शन में इस प्रकार बताया गया है:—

कारणगुणपूर्वकः कार्य्यगुणो दृष्टः। *

अर्थात् कार्य में केवल वही गुण पाये जाते हैं जो उस के कारण में पहले से विद्यमान थे। कोई नया गुण पैदा नहीं हो सकता। यदि इन दोनों नियमों को भली भांति समझ कर सदा स्मरण रखा जाय तो मनुष्य तर्काभास से आक्रमणों से सर्वथा सुरक्षित रहेगा। परन्तु हमारे आधुनिक काल के जड़वादी, जो ब्रह्माण्ड के दृश्य-चमत्कारों की कैफियत के लिए स्वाभाविक सृष्टिवाद को ही पर्याप्त समझते हैं, इन दोनों नियमों को भुला देने तक ही सन्तुष्ट नहीं, प्रत्युत वे मानव-मन की इन सहज कल्पनाओं का खुल्लम खुल्ला और सविस्तर निषेध करते हैं। चार्लस ब्रेडला कहता है कि—"धर्म्मों वाले यह समझते हैं कि वे पहेलियां घड़ कर इस कठिनता को टाल रहे हैं या हमारी ओर भेज रहे हैं। वे शरीर को तोड़ फोड़ कर, और जिन को वे मूल पदार्थ कहते हैं उन की एक सूची बना कर पूछते हैं—'क्या आक्सीजन में विचार करने की शक्ति है? क्या कार्बन सोच सकता है? क्या नाइट्रोजन सोच सकता है? और जब इस प्रकार उन की सारी सूची समाप्त हो जाती है तो फिर वे कहते हैं कि क्योंकि इन में से कोई एक भी अपने आप नहीं सोच सकता, इस लिए विचार प्रकृति का परिणाम नहीं प्रत्युत आत्मा का गुण है। इस सारे वितर्क का अधिक से अधिक केवल यही सारांश है कि 'हम जानते हैं कि शरीर क्या वस्तु है, परन्तु हमें आत्मा के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं, क्योंकि हम यह नहीं समझ सकते कि शरीर, जिसे कि हम जानते हैं, किस प्रकार सोच सकता है, इस लिए हम कहते हैं कि आत्मा ही, जिस को कि हम नहीं जानते, सोचने का काम करता है।' आत्मा के पक्ष में धर्म्म वालों के इस वितर्क में एक और बड़ा दोष है, क्योंकि यह, अनुभव के विपरीत, इस बात को मान लेता है कि किसी समवाय में कोई ऐसा गुण या परिणाम नहीं पाया जा सकता, जो कि उस समवाय को बनाने वाले किसी एक या सभी परमाणुओं, अङ्गों, रीतियों, या तत्त्वों में भी नहीं मिलता। पर यह बड़ी ही वाहियात बात है। चीनी का स्वाद मीठा होता है, परन्तु न ही कार्बन, न ही

* वैशेषिक सूत्र २,१,२४।

आकसीजन, और न ही हाइड्रोजन अलग अलग चखने पर मीठे प्रतीत होते हैं; फिर भी आप कार्बन, आकसीजन, और हाइड्रोजन के एक नियत समवाय का नाम चीनी ही रखते हैं। मेरा पक्ष यह है कि मानवीय, प्राणभूत, और मानसिक दृश्य—चमत्कारों के सम्बंध में 'आत्मा' शब्द की वही स्थिति है जो कि भौतिक दृश्य-चमत्कारों के सम्बंध में 'भूत', 'प्रेत', 'चुड़ैल', 'जिन्न', 'परी', 'देवता' आदि शब्दों की हुआ करती थी।"*

क्या यह निर्दोष तर्क है? क्या चार्लस ब्रेडला यह समझता है कि यदि आत्मा सम्बंधी यह प्रतिज्ञा चेतना के दृश्य-चमत्कारों की कैफियत नहीं दे सकती तो क्या उस के भौतिक परमाणु दे सकते हैं? उस का वह यह उत्तर देता है:—

विचार—क्षमता प्राणि-रचना की क्षमता के रूप में ही मिलती है, इस के सिवा वह कभी नहीं दिखाई देती, और यह क्षमता उच्च कोटि के प्राणी में उच्च और नीच कोटि के प्राणी में नीच होती है।......आत्मा के कट्टर पक्षपाती दावा करते हैं कि जिसे वह आत्मा कहते हैं वह मनुष्य का नाश हो जाने पर भी जीती रहेगी, परन्तु वे इस बात की कैफियत नहीं देते कि क्या वह आत्मा मनुष्य के आविर्भाव के पूर्व भी विद्यमान् थी।"† यहां चार्लस ब्रेडला ईसाई धर्म्म के विषय में कह रहा है, क्योंकि वैदिक तत्त्वज्ञान तो अनादित्व का प्रतिपादन करता है, जिस से जीवात्माओं का पहले से होना माना जाता है। आगे चलकर वह कहता है कि "आस्तिक लोग दावा करते हैं कि जिनको वे मूल पदार्थ कहते हैं उन में से पृथक् २ तौर पर कोई भी पदार्थ विचार नहीं कर सकता, इसलिए मनुष्य आत्मा के बिना सोच नहीं सकता, क्योंके मनुष्य सोचता है इसलिए उस में आत्मा है। यह युक्ति, यदि कुछ दृढ़ हो भी तो, बहुत दूर तक पहुंचती है; मछली सोचती है, झींगा सोचता है, चुहिया सोचती है, कुत्ता सोचता है, और घोड़ा सोचता है इससे इन सब में अविनाशी आत्माएं होनी चाहिएं।' ‡ निःसन्देह इनमें आत्माएं हैं; परन्तु डरपोक ईसाई इसे स्वीकार करने से डरते हैं, इसीलिए चार्लस ब्रेडला का धार्मिक आक्षेप कट्टर ईसाईयों के लिए हैं। उसकी युक्तियां वैदिक सिद्धान्तों का खण्डन करने के स्थान में उन का मण्डन करती हैं। परन्तु अब हम ब्रेडला के पहले वचन को लेते हैं। यह बात प्रत्यक्ष है कि हम इस बात की कोई कैफियत नहीं दे सकते कि शरीर कैसे सोचता है, और जब तक **अभाव से भाव**

* Charles Bradlaugh "Has Man a Soul!" p 4—5.
† Charles Bradlaugh "Has Man a Soul?" p. 5.
‡ Ibid p. 5.

की उत्पत्ति नहीं हो सकती का सिद्धान्त सत्य और इस का विपर्यय सर्वथा कल्पनातीत है तब तक कोई भी मनुष्य इस बात को न समझ सकेगा कि शरीर कैसे सोचता है। तो फिर इसका अनिवार्य परिणाम क्या निकला? स्पष्टतया परिणाम यही है कि यदि बुद्धि को चेतना के अस्तित्व की कैफ़ियत देनी हो तो इसका सम्बन्ध शरीर या शरीर को बनाने वाले तत्त्वों के साथ न दिखाकर, इसका कारण किसी और पदार्थ में ढूंढना चाहिए। इस पदार्थ का नाम, जिस के विषय में इससे बढ़कर और कुछ नहीं कहा गया कि वह 'शरीर नहीं, और वह सोचने का कारण है,' सुगमता से जीवात्मा या अंग्रेज़ी भाषा में 'सोल' (soul) रक्खा जा सकता है। तब इतना कह देने में क्या हानि है कि "सोचने वाला जीवात्मा (जिसके विषय में हम जो कुछ पहले कह आए हैं उससे अधिक और कुछ नहीं कहते) ही है।" परन्तु फिर भी ब्रेडला इस में दोष देखता है। आगे चलकर वह पूर्वोल्लिखित दोनों नियमों का ही निषेध करता है, और कहता है कि यह प्रतिज्ञा कि किसी समवाय में कोई ऐसा गुण या कार्य नहीं हो सकता जो कि उसको बनाने वाले तत्त्वों में विद्यमान न हो, "बड़ी ही वाहियात" है। वह चीनी का दृष्टान्त देकर कहता है कि चीनी के मूल पदार्थों के न मीठा होने पर भी वह मीठी होती है। क्या यह उथला तर्क नहीं? क्या किसी ने कभी स्वप्न में चीनी का स्वाद नहीं चखा? पर वहां न कोई चीनी है, और न कार्बन, हाइड्रोजन, और आक्सीजन का कोई नियत समवाय। मीठा स्वाद चीनी में नहीं, क्योंकि यदि यह होता तो कोई भी व्यक्ति मिठास को चखने का स्वप्न न देख सकता, इसलिए इसके चीनी को बनाने वाले कार्बन, हाइड्रोजन, और आक्सीजन नामक मूल पदार्थों में होने का प्रयोजन नहीं। मिठास का कारण एक विशेष नाड़ी का एक नियत आन्दोलन है, और कार्बन आक्सीजन, और हाइड्रोजन का निर्दिष्ट समवाय, जिसे चीनी कहा जाता है, जीभ की थूक में द्रवीकरण (dissolution) की रसायन-सम्बन्धी-वैद्युत शक्ति (chemico-electrical energy) के द्वारा उस शक्ति की एक नियत राशि को केवल प्रकट करने का काम देता है जोकि विशेष नाड़ी को आन्दोलित करती है, इसी कारण से मिठास का स्वाद आता है। स्वप्न में यह आन्दोलन बाह्य साधनों द्वारा नहीं प्रत्युत भीतरी साधनों द्वारा होता है। इसलिए चीनी का दृष्टान्त हमारा खण्डन नहीं, प्रत्युत हमारा मण्डन ही करता है।

परन्तु ऐसे भी जड़वादी हैं जो चार्लस ब्रेडला से अधिक चतुर हैं। वे दर्शन शास्त्र के उपर्युक्त दो महान् नियमों से इनकार करने के स्थान उनको अपना आधार बनाते हैं, और स्वाभाविक-सृष्टिवाद को उसकी सहज अक्षमता से बचाने के लिए चेतना रूपी सत्य घटना की कैफ़ियत देते हुए 'गुप्त' शब्द ला घुसेड़ते हैं। पर

इससे उनका पक्ष कुछ अधिक प्रबल नहीं हो जाता, क्योंकि हम दिखलायेंगे कि वे भारी हेत्वाभास का शिकार होरहे हैं। वे इस प्रकार युक्ति देते हैं:— यह ठीक है कि समवाय की क्रिया में कोई नवीन गुण या परिणाम उत्पन्न नहीं होते, परन्तु बहुधा ऐसा होता है कि समवाय या रचना की क्रिया उस वस्तु को बाहर निकाल कर प्रकट कर देती है जो कि पहले गुप्त थी। उदाहरणार्थ, बारूद, गरम होजाने पर, भक से उड़जाने की शक्ति रखता है। भक से उड़जाने की शक्ति बारूद में पहले से ही गुप्त है, आग लगाने की क्रिया केवल उस गुप्त को प्रकट कर देती है। इसको कुछ और स्पष्ट किये देते हैं। सभी लोग यह जानते हैं कि जब लकड़ी या कोयले को आक्सीजन की विद्यमानता में गरम किया जाय तो वह जलने लगता है। यह भी बड़ी प्रसिद्ध बात है कि रगड़ और टक्कर से गरमी उत्पन्न होती है। यह भी सभी को ज्ञात है कि यदि किसी स्थान में उतनी हवा (गैस) भर दी जाय जितनी कि साधारण दबाव के नीचे उसमें समा नहीं सकती, तो यह फैलेगी, और जो भी चीज़ इसके फैलने में बाधा देगी उसे यह धकेल देगी। सोडा वाटर की बोतलों में से डाट (कार्क) का धकेले जाना इसी का एक सुपरिचित दृष्टान्त है। और अन्ततः यह भी प्रत्येक मनुष्य जानता है कि ताप से हवाएं फैलतीं हैं, और कि कोई वस्तु ठोस अवस्था में जितना स्थान घेरती है उस से सैकड़ों गुना अधिक वह वाष्पावस्था में घेरती है। ये सब सुपरिचित और परम प्रसिद्ध सचाइयां हैं; फिर भी बारूद को बनाना कोई आसान बात नहीं। क्यों नहीं? क्योंकि क्रमशः और स्वाभाविक रीति से अभिमत परिणाम पैदा करने के लिए हमें वस्तुओं और शक्तियों की एक व्यवस्था का प्रयोजन है। हमें भक से उड़ाने की आवश्यकता है। अब भक से उड़ने का मतलब है गोली का धकेलना। इसलिए गोली की ओर हवा (गैस) को फैलाना है। परन्तु फैलाने के लिए दबाई हुई हवा हम कहां से लें? यह स्पष्ट है कि यह हवा हमें ठोस वस्तु से ही मिल सकेगी। इसके पृथक्करण या तोड़ फोड़ से हवा और ताप की एक बड़ी राशि निकलेगी। यह हवा कार्बोनिक ऐसिड अर्थात् सोडा वाटर वाली गैस होगी, और ताप रासायनिक क्रिया से पैदा होगा। परन्तु कार्बोनिक ऐसिड कार्बन और आक्सीजन से बनता है। इसलिए आवश्यक है कि ठोस मिश्रण में लकड़ी का कोयला, और शोरा हो, क्योंकि कोयले से कार्बन और शोरे से आक्सीजन निकलती है। कोयले को लगाने वाली अग्नि का जन्म सनातन टक्कर से होगा। इसलिए बारूद कोयले, गन्धक, और शोरे का अन्तिम मिश्रण है। एक रसायन शास्त्री इसकी क्रिया की इस प्रकार कैफ़ियत देता है। "बारूद को जलाने पर जो तोड़ फोड़ की क्रिया होती है उसे इस प्रकार प्रकट किया जा सकता है कि शोरे का आक्सीजन लकड़ी के कोयले के साथ मिलकर कार्बोनिक एसिड और कार्बो-

निक आक्साइड बनाता है, नाइट्रोजन पृथक् होजाता है, और गन्धक (शोरे की) पोटाशियम के साथ मिल जाती है। इसलिए बारूद पानी के नीचे या किसी बन्द स्थान में भी जल सकता है, क्योंकि इसके जलने [illegible] लिए स्वयं इसमें ही आक्सीजन मौजूद है; और बारूद की महान् विस्फोटक शक्ति का कारण यह है कि एकदम बहुत सी गैस (हवा) निकलती है, और ताप के शीघ्रता से बढ़ने के कारण हवा के परिमाण में इतनी आकस्मिक और पर्याप्त वृद्धि होती है कि उससे धमक (भक से उड़जाने की क्रिया) उत्पन्न हो जाती है।"* इस प्रकार यह स्पष्ट है कि संयोग की क्रिया में केवल वही विशेष गुण प्रकट होजाते हैं जो कि पहले गुप्त पड़े थे। इसी प्रकार यह युक्ति दी जाती है कि प्रकृति का विशेष समवाय, जि[illegible] कहते हैं, प्रकृति की गुप्त चेतना को विकसित या [illegible] आत्मा कोई पदार्थ नहीं। सारी चेतना की कैफ़ियत [illegible] के [illegible] प्रकृति ही पर्याप्त है। आओ इस "गुप्त चेतना" के [illegible] जांच करें। जब एक सेर बर्फ में तापमापक यंत्र (थर[illegible] बर्फ को गरम किया जाता है तो उस सारी के पिघल [illegible] की एक बड़ी राशि उसमें सोख होजाती है। इस ताप का तापमापक पर कुछ [illegible] नहीं होता। या, यदि ताप से पिघलती हुई बरफ में हाथ रक्खे जायं [illegible] तक वह सारी पानी न हो जायगी हाथों को उष्णता का अनुभव न होगा। [illegible] अवस्था में कहते हैं कि ताप पानी में गुप्त होगया है। [illegible] दृष्टान्त यह [illegible] के लिए पर्याप्त है कि वह गुण जिसका वर्तमान काल में कोई पता नहीं [illegible] परन्तु जिसका विशेष अवस्थाओं में अनुभव होने लगता है; गुप्त कहला[illegible] अच्छा, जब यह कहा जाता है कि प्रकृति की गुप्त चेतना व्यक्त हो जाती हो [illegible] से क्या अभिप्राय होता है? क्या कोई गुप्त चेतना हो सकती है? क्या कोई [illegible] गड़बड़ और ऐसी घिचपिच की कल्पना कर सकता है? वस्तुओं के उन [illegible] गुणों की जो हमारे लिए बाह्य हैं, या जो आन्तरिक नहीं, आ[illegible] भाव या अभाव की कल्पना की जा सकती है। पर क्या कोई [illegible] चेतना की कल्पना कर सकता है जो कि चेतना नहीं? क्योंकि गुप्त चेतना उस चेतना के सिवा और क्या हो सकती है जिसका कि अभिज्ञान नहीं, अर्थात् जो अचेत चेतना है? गुप्त चेतना ऐसी ही वस्तु है जैसा कि गोल [illegible], या न-सफेद सफेद। यह नाम ही निषेधात्मक है। चेतना के अर्थ को न समझना ही इस सारे तर्क का आधार है। यह केवल 'गुप्त' शब्द के, चेतना पर उपयोग करते समय, उपमात्मक, दुर्व्यवहार से उत्पन्न होने वाला हेत्वाभास है।

हम यहां शरीर-विद्या-सम्बंधी सिद्धान्त (Physiological theory) का भी उल्लेख करेंगे। इस सिद्धान्त का केवल अनुभव को मानने वाले आज कल

* Henry E. Roscoe; Lessons in Elementary Chemistry.

के वैज्ञानिक और दार्शनिक लोगों में प्रचार है। यह सिद्धान्त चेतना को प्रकृति और गति की उपज प्रमाणित करने का दूसरा यत्न है। इस की प्रतिज्ञा है कि मस्तिष्क ही मन का प्रधान साधन नहीं, प्रत्युत मस्तिष्क में उत्पन्न होने वाली नाड़ीगत धाराएं (Nerve currents) हमारे जाने हुए मन का सारा स्रोत हैं। एक लेखक कहता है: "मन में उस पर पड़ने वाले संस्कारों को धारण करने की बहुत बड़ी शक्ति है; वे उस की रचना में मिल जाते हैं, और उस के विकास का एक भाग बन जाते हैं। तत्पश्चात् वे अनेक अवसरों पर पुनः उत्पन्न किए जा सकते हैं, उस समय हम धाराओं और प्रतिधाराओं की ठीक वैसी ही एक माला पाते है जैसी कि उस समय थी जब कि संस्कार पहले पहल बनाया गया था। जब मन अपने व्यापारों को कर रहा होता है तो उस समय उस के साथ नाड़ीगत प्रभाव की असंख्य लहरों के बारम्बार गुज़रने की भौतिक क्रिया भी होती रहती है। चाहे किसी वास्तविक चीज़ की संवेदना से हो, चाहे किसी आवेग से, या प्रत्यय (Idea) से हो, या प्रत्ययानुक्रम से हो, साधारण क्रिया वही रहती है। ऐसा प्रतीत होने लगता है, मानों हम कहें कि, "न कोई धारायें हैं, और न कोई मन।" * इस के साथ ही हर्बर्ट स्पेंसर साहब ने संयोगात्मक दर्शन शास्त्र (Synthetic philosophy) पर अपनी एक पुस्तक में जो कुछ लिखा है वह भी मिला दीजिए। इस बात से आरम्भ करके कि पानी, नाइट्रोजन, और कार्बन किस प्रकार आसानी-से-बदल-जाने-वाले मस्तिष्क की सृष्टि करते हैं, वह कहता है कि लहर की उत्पत्ति शक्ति के सरकने से होती है, और मस्तिष्क-सम्बंधी सारी क्रिया केवल शक्ति के हटने या सरकने का ही परिणाम है। मस्तिष्क के केन्द्रों को लपेटी हुई कमानियों से उपमा दे सकते हैं। नाड़ियां अपने आन्दोलन से कमानी की प्रथम गति आरम्भ कर देती हैं, फिर मस्तिष्क-केन्द्र अपने आप को खोलने लगता है। इस प्रतिज्ञा के गुण और अवगुण, या अर्थ प्रकाशक सीमा को दिखलाने के लिए आओ हम इस बात पर विचार करें कि अंश और गुण के प्रभेदों की चेतना कैसे उत्पन्न होती है, और शुद्ध चेतना में इन दो प्रकार के भेदों को कैसे अलग अलग पहचाना जाता है। प्रत्येक मनुष्य जानता है कि गुणसंक्रान्त और परिमाणसंक्रान्त (गुण तथा परिमाण सम्बंधी) प्रभेद क्या होते हैं। दो मन साबन का पांच मन साबन से परिमाण में भेद है। परन्तु ग्लिसरीन के साबन का कार्बालिक के साबन से गुण में भेद है। इसी प्रकार हमारी संवेदनाओं,—हमारे आन्तरिक अनुभवों में भी परिमाण और गुण के प्रभेद हैं। दो गिलास पानी में घोली हुई एक छटांक चीनी का स्वाद पांच गिलास पानी में घोली हुई उतनी ही चीनी से भिन्न होगा। परन्तु स्वाद की

* Alexander Bain: Senses and the Intellect.

संवेदना रंग की संवेदना से गुण में भिन्न है। प्रश्न यह है कि मनुष्य को इस बात का कैसे ज्ञान हुआ कि परिमाण-भेद और गुण-भेद भी कोई वस्तु है ? और वह इन दोनों में पहचान कैसे करता है ? सरकाओ के सिद्धान्त (Dislodgement theory) पर दोनों की कैफ़ियत नीचे दी जाती है। इस से इस की निःसारता बिलकुल स्पष्ट हो जायगीः—

मस्तिष्क के चेतन केन्द्रों से आणविक शक्ति के सरकने का परिणाम चेतना होता है। अब इस प्रतिज्ञा के आधार पर, परिमाण के प्रभेदों की चेतना मस्तिष्क के उन्हीं केन्द्रों से आणविक शक्ति के कम या अधिक परिमाण में छूटने से उत्पन्न होती है। गुण के प्रभेद, जो बाह्य रीति से अलग अलग सीमाओं, या इन्द्रियों, से संवेदना (Sensation) के भिन्न भिन्न प्रणालियों द्वारा स्थानान्तरित होने से पैदा होते हैं, आन्तरिक रीति से उन का बोध; इस प्रतिज्ञा के अनुसार, मस्तिष्क के भिन्न भिन्न केन्द्रों से आणविक शक्ति के छूटने से होगा। यहां तक तो यह कैफ़ियत बिना अशुद्धि के जा सकती है। परन्तु यह प्रश्न अभी तक बना ही रहता है कि मस्तिष्क के एक केन्द्र पर आणविक शक्ति के छूटने से, दूसरे केन्द्र पर उसी आणविक शक्ति के छूटने से पैदा होने वाली चेतना से भिन्न, गुण की चेतना क्यों उत्पन्न होती है।

कदाचित् कई यह कहेंगे कि भिन्न भिन्न केन्द्रों पर छुड़ाई हुई रासायनिक शक्ति भिन्न भिन्न मूल पदार्थों के परमाणुओं या भिन्न भिन्न मिश्रणों के परमाणुओं के वियोग से छूटती है, और इसी कारण भिन्न भिन्न संवेदनाओं का अनुभव होता है। यदि यह बात ठीक भी हो तो भी प्रश्न वही बना रहता है। क्योंकि यह शक्ति चाहे इस मिश्रण की चाहे उस मिश्रण की रचना से, या चाहे इस मूल पदार्थ के चाहे उस मूल पदार्थ के परमाणुओं को स्वतंत्र कर देने से छुड़ाई हुई हो, फिर भी यह शक्ति ही है। क्योंकि मस्तिष्क के दो भिन्न भिन्न केन्द्रों पर छुड़ाई हुई शक्तियों के बीच जिस एक मात्र प्रभेद की कल्पना हम कर सकते हैं वह परिमाण या अंश का प्रभेद है गुण का प्रभेद नहीं, क्योंकि छुड़ाई हुई शक्तियां फिर भी शक्तियां ही हैं। इस लिए यह प्रतिज्ञा कि चाहे आणविक शक्ति मस्तिष्क के भिन्न भिन्न केन्द्रों पर ही क्यों न छुड़ाई जाय तो भी हमें केवल परिमाण के प्रभेद की ही अभिज्ञता प्राप्त होती है, अनुभव के विरुद्ध नहीं है। हम ने दिखला दिया है कि गुण के प्रभेद आणविक शक्ति के छूटने के सिद्धान्त के द्वारा स्पष्ट नहीं किये जा सकते। इस अवस्था में पहुंच कर ही शरीर-विद्या-सम्बंधी प्रतिज्ञा (Physiological hypothesis) चेतना को शक्ति का परिणाम सिद्ध करने में अशक्त हो जाती है।

इस प्रकार हम ने जड़वादियों की सभी कैफ़ियतों की हक़ीक़त प्रकट कर दी है। अब आत्मा के विषय में सच्चे विषयाश्रित अनुमानों का वर्णन करना

बाकी रह गया है। पहला अनुमान मनुष्य के नाड़ी मण्डल (नर्वस सिस्टम) की बनावट और पट्ठों की गति के साथ उस के सम्बंध से उत्पन्न होता है। मस्तिष्क भूरे द्रव्य के समूहों का, जिन्हें मस्तिष्क-केन्द्र कहते हैं, बना हुआ है। इन केन्द्रों से सूक्ष्म और सफेद रंग के कोमल तंतु निकलते हैं। इन तंतुओं को नाड़ियां कहते हैं। कई नाड़ियां, जिन्हें गति की नाड़ियां कहते हैं, पट्ठों में जाकर समाप्त होती हैं। ये पट्ठे नियत गतियों के लिए पृथक् रक्खे हुए हैं। नाड़ियों का काम तार-समाचार की तारों की तरह केवल लेजाने वाले माध्यम का है। मस्तिष्क-केन्द्र प्रभाव पैदा करते हैं, नाड़ियां उस प्रभाव को पट्ठों के पास पहुंचा देती हैं, और पट्ठे उस के अनुसार कार्य करते हैं। इस प्रभाव का नाम नाड़ीगत धारा (नर्वस कर्रन्ट) है। मनुष्य-देह में गति का यंत्र इसी प्रकार बना है। मान लीजिए कि मैं अपने हाथ को हिलाना चाहता हूं। संकल्प की आज्ञा पाकर विशेष मस्तिष्क-केन्द्र नाड़ीगत धारा उत्पन्न करता है। यह धारा विशेष नाड़ी में से गुज़र कर इष्ट स्नायु को ऐंठाती है और इस के साथ ही हाथ हिलने लगता है। स्नायुओं और नाड़ियों का यह व्यापार एक **संकल्प करने वाले शासक कर्त्ता** के अस्तित्व को प्रमाणित करता है। इस का एक बहुत ही अनुरूप दृष्टान्त रथी का है जो कि अपने पट्ठों के बल से घोड़ों की वागों को मोड़ता है, और वे घोड़े रथ को खींचते हैं। रथी **संकल्प करने वाला शासक कर्त्ता** है। रथी का हाथ जो वागों को प्रेरणा करता है नाड़ियों को नाड़ीगत धारा देने वाला **विशेष मस्तिष्क-केन्द्र** है। **वागें नाड़ियां** हैं और घोड़ा वह स्नायु है जिसे हिलाना कि अभीष्ट है। इस लिए आत्मा को शरीर रूपी रथ का चलाने वाला रथी समझा जाता है। यह पहला अनुमान है।

दूसरा अनुमान फेफड़ों की क्रिया से है। सांस लेने की क्रिया में सांस को भीतर लेजाकर रोकना, और फिर बाहर निकाल देना होता है। सांस को भीतर लेजाने की क्रिया में, विशेष झिल्लियों की गति से, वायुमण्डल की पवन फेफड़ों में जाकर रक्त को जलाती (Oxidize), कार्बन को कार्बोनिक एसिड बनाती, और दूसरे मलों को भस्म कर देती है। मनु कहते हैं:—

दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मलाः।
तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषाः प्राणस्य निग्रहात्॥

सुनार अशुद्ध स्वर्ण को आग में रख, धौंकनी से जल्दी जल्दी फूंक कर उस के सारे मलों को जला कर दूर कर देता है। इस प्रकार फेफड़ों को यथोचित रीति से फूंकने से शरीर और शारीरिक इन्द्रियों के मल भस्म होकर दूर हो जाते हैं।

इस प्रकार दूषित और रासायनिक रीति से परिवर्तित हवा, अब कार्बोनिक एसिड और अन्य मलों से लदी हुई फेफड़ों से बाहर निकल जाती है। यह

क्रिया निरन्तर जारी रहती है, और इस प्रकार सांस लेने और बाहर निकालने की क्रिया से शरीर अपने मलों को दूर करता, अपने लहू को ताज़ा करता, वायु के अदृश्य तत्वों से शक्ति और आहार प्राप्त करता, और अपनी क्षतियों और चोटों की मुरम्मत करता है। इस क्रिया से किसी फूंकने वाले के अस्तित्व का पता चलता है। अनुमान को अधिक स्पष्ट करने के लिए, हम लोहार या सुनार का दृष्टान्त लेते हैं जो कि भट्टी में पड़े हुए लोहे या सोने के टुकड़े में अपनी धौंकनी से जल्दी जल्दी हवा फूंक रहा है; जब धौंकनी में से भट्टी में हवा भेजी जाती है तो पट्ठों की एक विशेष शक्ति लगानी पड़ती है। परन्तु धौंकनी को पुनः हवा से भरने के लिए सुनार को कुछ भी परिश्रम नहीं करना पड़ता। यही हाल फेफड़ों का है। सांस को बाहर निकालने का व्यापार संकल्प के अधीन है। परन्तु सांस को भीतर लेजाना सर्वथा अनैच्छिक काम है। अतः यह स्पष्ट है कि फेफड़ों की बनावट एक कारक की चेष्टा को प्रकट करती है जो कि लगातार हवा को बाहर भेज रहा है।

एक ऐसा ही अनुमान आंखों के झपकने से निकाला जासकता है। यह व्यापार भी, फेफड़ों की तरह, संकल्प के अधीन है, परन्तु अपनी साधारण क्रियाओं में भी यह इतना नियमित और इतना यथार्थ है कि इसे एक चतुर पुतली वाले के हाथ पर नाचने वाली पुतलियों की चेष्टा से उपमा दी गई है। किसी ठोस वस्तु से ऊपर की पलक के भीतरी भाग को स्पर्श करने से कृत्रिम रीति से भी आंख झपकाई जासकती है। इसमें जो ऐंठाने वाली फड़फड़ाहट उत्पन्न होती है वह एक भीतर निवास करने वाले गुप्त स्वामी की भावना को बड़ी ही स्पष्ट रीति से प्रकट करती है। जब आंख में कोई चीज़ पड़जाती है तो उसे निकाल फेंकने के लिए इसी स्वामी की आज्ञा से, पुतलियों के नाच की तरह, आंख फड़कने लगती है।

आरोग्य और वृद्धि के शरीर-विद्या-सम्बंधी दृश्य-चमत्कार, बहुत ही प्रबोधक हैं। आत्मा, शरीर-वृद्धि की क्रिया में सम प्रमाण रूप से अपनी भीतरी शरीर व्यवच्छेद विद्या (Anatomy) के द्वारा शरीर के सभी अंगों को बनाता, क्षतिग्रस्त अवयवों की मुरम्मत करता, घावों को चंगा करता, और, सब से बड़े महत्व की बात यह है कि यह, सब रोगों और संक्षोभों को दूर करने का सच्चा यत्न करता है। शिल्पकार के रूप में, आत्मा की यह शक्ति बड़ी प्रसिद्ध है। इसी से "स्थितिपालक" शक्तियां, या मनुष्य-शरीर की "युक्ति" आदि परिभाषाओं की उत्पत्ति हुई है। इस सत्य घटना के गुणों को यथार्थ रीति से ग्रहण कर लेने से ही एक ऐसे श्रेष्ठ चिकित्सक समाज का जन्म हुआ है जो मनुष्य-शरीर को एक स्वयम्-उपशमकारिणी संस्था समझता है। उन की चिकित्सा में औषध

कभी कभी प्रकृति की सहायता के लिए ही दी जाती है, रोग को दूर करने के लिए नहीं। इस शरीर-विद्या-सम्बंधी शक्ति और आत्मा के ऐसे ही अन्य व्यापारों के विषय में एक प्रसिद्ध चिकित्सक कहता है, "जड़वादी कहते हैं कि परिपचन पेपसिन नामक एक विशेष ऐन्द्रियिक पदार्थ और लेकटिक एसिड, असीटिक एसिड और हाइड्रोक्लोरिक एसिड आदि अनेक अम्लों की क्रिया से होता है। पर सचाई यह है कि अन्ननालिका (वह बड़ी नाली—मुंह, कण्ठ, आमाशय, और अन्तड़ियां—जिस के द्वारा परिपचन क्रिया में भोजन शरीर में से गुज़रता है।) में, क्लेदमय झिल्ली में असंख्य झिलटियों की गति की तरह, वर्तुल संकोच उत्पन्न करने वाली स्नायु-तंतुओं की अकाम चेष्टा (Peristaltic movement), और इस लिए स्वयं परिपचन भी मस्तिष्क और रीढ़ की हड्डी के साझे केन्द्रों की सहायता के बिना ही, सहानुभावी मण्डल (Sympathetic System) के तंतुओं के द्वारा आत्म रूपी सूत्र की क्रिया से होता है। यह सहानुभावी मण्डल (सिम्पेथेटिक सिस्टम) स्वाधीनगतिक सहजावबोधों और विशेषतः उन प्राणभूत स्वतः विज्ञ सूत्रों का निवास स्थान और खम्भा है जो कि प्रकृति की घटना में सार और तेज से निकल कर मनुष्य की आध्यात्मिक रचना में उसी तरह की वस्तुओं में प्रवेश करते हैं। इस लिए क्षुधा आत्मा का अपने लिए और अपने आश्रित शरीर के लिए सार्वत्रिक शब्द है; और आत्मा को अपने और शरीर के बनाने के लिए जो कुछ दिया जाता है उसे अपनाने का नाम परिपचन है"।

अन्ततः वे जटिल सम्बंध जो ज्ञानेन्द्रियां कर्मेन्द्रियों के साथ स्थापित करती हैं, आत्मा के अस्तित्व के अनुमान के लिए बड़ी दृढ़ भित्ति का काम देते हैं। किसी वस्तु के रंग या गंध को देख कर उस का स्वाद स्मरण आ जाता है, और उस के स्वाद की भावना जिह्वा को उत्तेजित करके बहुत सा थूक पैदा कराती है मानो वह उस वस्तु को अभी खाने ही लगी हो। वास्तव में, परीक्षा के लिये कुत्तों की जीभों से बहुत सा थूक इसी विधि से उन को मांस के स्वादिष्ट खाने दिखलाकर प्राप्त किया जाता है। कुत्तों को वे भोजन कम से कम उस समय, खाने को नहीं दिए जाते; दूर से देखकर ही उन की जीभ पानी छोड़ने लगती है। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के व्यापारों का वास्तव में ऐसा घनिष्ट सम्बंध है कि एक ही उपलब्धि के द्वारा उत्पन्न हुए सुयोगों से कई भयानक रोग पैदा हो सकते हैं। ये सब बातें एक मध्यवर्ती चेतन सत्ता का, जिसे यहां आत्मा कहा गया है, अनुमान कराती हैं।

ओ३म्

वाजसनेय संहितोपनिषत्

वा

ईशोपनिषत् ।

सन् १८८८

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम् ॥ १ ॥

१. इस जगत् में, प्रत्युत सृष्टि के सारे मण्डल के प्रत्येक लोक में भी, एक अधिष्ठाता व्यापक है। हे मनुष्य! इस नश्वर संसार के सभी विचारों को छोड़कर निर्मल सुख का उपभोग कर, और किसी जीवित प्राणी के धन का लोभ मत कर।

कुर्वन्नेवेह कर्म्माणि जिजीविषेच्छतं समाः ।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म्म लिप्यते नरे ॥ २ ॥

२. तब हे मनुष्य! उत्तम कर्म्म करता हुआ, सौ वर्ष तक, अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक जीने की अभिलाषा कर। केवल इसी प्रकार, और अन्य किसी तरह से नहीं, तेरे कर्म्म तुझे प्रभावित करेंगे।

असुर्य्या नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः ।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ॥ ३ ॥

३. वे सब मनुष्य जो अपने आत्मा की पवित्रता को नष्ट करते हैं, निश्चय ही, मृत्यु के पश्चात्, उन लोकों में जाते हैं जहां कि बुरी आत्मायें निवास करती हैं और जहां पूर्ण अन्धकार छाया हुआ है।

अनेजदेकम्मनसो जवीयो नैनद्देवा आप्नुवन् पूर्व्वमर्षत् ।
तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्तस्मिन्नपो मातरिश्वा दधाति ॥ ४ ॥

४. एक नित्य, सनातन, विश्व आत्मा है। वह मन से भी बढ़कर शक्तिशाली है। भौतिक इन्द्रियां उसका अनुभव कर नहीं सकतीं। इसलिए ज्ञानी पुरुष अपनी इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक मार्ग से हटा लेता है और परमात्मा की सब कहीं विद्यमानता का अनुभव करता है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।

तदन्तरस्य सर्व्वस्य तदु सर्व्वस्यास्य बाह्यतः ॥ ५ ॥

५. वह सब को हिलाता है परन्तु आप नहीं हिलता। अज्ञानियों के लिए वह दूर है, पर ज्ञानियों के लिए वह निकट है। वह सब के भीतर और बाहर व्यापक है।

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्येवानुपश्यति।

सर्व्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥ ६ ॥

६. जो मनुष्य सब भूतों को परमात्मा के अन्दर स्थित और परमात्मा को सब भूतों में व्यापक समझता है वह किसी भी जीव को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देख सकता।

यस्मिन् सर्व्वाणि भूतान्यात्मैवाभूद्विजानतः।

तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः ॥ ७ ॥

७. जो मनुष्य बुद्धि द्वारा सब भूतों में एक आत्मा को निवास करते देखता है उसको मोह और शोक कैसे पकड़ सकते हैं?

स पर्य्यगाच्छुक्रमकायमव्रणमस्नाविरꣳ शुद्धमपापविद्धम्।

कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूर्याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्यः समाभ्यः ॥ ८ ॥

८. वह सब भूतों पर छाया हुआ है। वह सर्वथा आत्मा ही आत्मा है। उसका कोई आकार नहीं। उसका अनुभव या इन्द्रियविन्यास के योग्य कोई सूक्ष्म या स्थूल शरीर नहीं। वह बुद्धि का राजा स्वयँभू, शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ, और सर्वव्यापक है। वह सनातन काल से सब भूतों के लिए उनके अपने अपने कार्य नियत करता आया है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।

ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायां रताः ॥९॥

९. वे लोग अति दुःखी हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं; परन्तु उनसे भी कहीं बढ़कर दुःखी वे हैं जो विद्या पर गर्व करते हैं।

अन्यदेवाहुर्विद्ययाऽन्यदाहुरविद्यया।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१०॥

१०. धीर और बुद्धिमान ऋषि हमें निश्चय कराते हैं कि अविद्या, जो कि इन्द्रियों का जीवन है, एक परिणाम उत्पन्न करती है; और विद्या का, जो कि आत्मा का जीवन है, ठीक उसके विपरीत परिणाम होता है।

विद्याञ्चाविद्याञ्च यस्तद्वेदोभयꣳ सह ।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते ॥११॥

११. जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है वह इन्द्रियों के जीवन के कारण शारीरिक मृत्यु का उल्लङ्घन करके आत्मा के जीवन के द्वारा अमरत्व को प्राप्त हो जाता है।

अंधन्तमः प्रविशन्ति येऽसंभूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्याꣳरताः ॥१२॥

१२. वे लोग महा दुःखी हैं जो परमाणुओं को जगत् का निमित्त कारण समझ कर पूजते हैं; परन्तु उनसे भी बढ़कर दुःखी वे हैं जो परमाणुओं से बने हुए दृश्य पदार्थों की उपासना करते हैं।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥१३॥

१३. धीर और बुद्धिमान ऋषि हमें निश्चय कराते हैं कि परमाणुओं की पूजा का एक परिणाम होता है और दृश्य पदार्थों की पूजा का उसके विपरीत फल होता है।

सम्भूतिञ्च विनाशञ्च यस्तद्वेदोभय सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा सम्भूत्यामृतमश्नुते ॥१४॥

१४. जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है, वह, मृत्यु के पश्चात्, जो कि दृश्य पदार्थों की उपासना का फल है, अमरत्व का, जो कि परमाणुओं में प्रकट होने वाली दिव्य शक्ति के अनुभव का फल है, उपभोग करता है।

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत्त्वम्पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

१५. हे जगत् के प्रतिपालक ! स्वच्छ सूर्य के उस मुख पर से आवरण को हटादे जोकि अब सुवर्णीय प्रकाश के पड़दे के भीतर छिपा हुआ है, जिस से हम सत्य को देखें और अपने धर्म्म को पहचानें।

पूषन्नेकर्षे यम सूर्य्य प्राजापत्य व्यूह रश्मीन् समूह । तेजो यत्ते
रूपंकल्याणतमन्तत्ते पश्यामि योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि ॥१६॥

१६. हे ऋषियों के भी महर्षि, रक्षक, शासक, सनातन प्रकाश, और सृष्टि के प्राण ! अपनी किरणों को इकट्ठा कर, जिस से मैं तेरे परमानन्द से पूर्ण तेजोमय रूप का अनुभव करने में समर्थ होऊँ । यही मेरी सच्ची प्रार्थना है।

वायुरनिलममृतमथेदं भस्मान्तꣳ शरीरम् ।
ओ३म् क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर क्रतो स्मर कृतꣳ स्मर ॥१७॥

१७. अमर सूक्ष्म शरीर का प्रतिपालन वायु करेगा, स्थूल शरीर केवल दाहकर्म्म तक ही बना रहेगा । तू, जिसने कि कर्म्मों का बीज बोया है, स्मरण रख कि तू वही काटेगा ।

अग्ने नय सुपथा राये अस्मान् विश्वानि देव वयुनानि विद्वान् ।
युयोध्यस्मज्जुहुराणमेनो भूयिष्ठान्ते नम उक्तिं विधेम ॥ १८ ॥

१८. हे ज्ञानस्वरूप ! आप ज्ञान के स्रोत हैं । हमारे अन्दर अपना ज्ञान प्रदीप्त करें; हमें न्यायपरता की ओर ले जाइए, और हमारे सारे दुर्गुणों को दूर कर दीजिए । इस प्रयोजन से हम वारम्वार आप की स्तुति और उपासना करते हैं ॥

नोट—उपर्युक्त उपनिषद् पाठ शुक्ल यजुर्वेदीय काण्व संहिता=शाखा का है । शाखा ग्रन्थ वेद व्याख्यान हैं अतः काण्व पाठ में मूल और व्याख्या सम्मिलित है । वह मूल पाठ यजुर्वेद का ४०वां अध्याय है । इसी यजुर्वेद को कुछ काल से लोग माध्यन्दिन शाखा कहते हैं । यह प्रवृत्ति क्यों हुई, इसे अन्यत्र स्पष्ट करेंगे । यहां यही कहना अभिप्रेत है कि काण्व पाठ में मन्त्र-क्रम परिवर्तन और न्यूनाधिक मन्त्र-संख्या आदि का कारण व्याख्यान शैली आदि हैं ।

भगवद्दत्त ।

व्याख्या।

धर्म्म का जो अर्थ इस समय समाज की वर्त्तमान स्थिति की दृष्टि से समझा जा रहा है वह बड़ा ही भ्रान्तिजनक है। जिन लोगों ने अपने जीवनों और आचरणों में नृशंस पाप, क्रूरता, दुर्दमनीय मनोविकार, प्रबल विद्वेष, और अक्षन्तव्य त्रुटियां दिखलाई हैं उनके करुणाहीन हृदयों से प्रायः अबुद्धिपूर्वक या अधिक से अधिक अर्धचेतन अवस्था में निकली हुई कुछ निर्दिष्ट वाक्यों की कृत्रिम प्रार्थनाएं; अनुकरण, स्वभाव, लोकाचार, रीति, या समाज के भय से ग्रहण किए हुए मजबूरी व्यवहार;बहुमूल्य,निष्फल,तथा शक्ति और समय को नष्ट करने वाले अनुष्ठान; वे घोर अन्याय जो धर्म्मयाजकों और साम्प्रदायिक नेताओं ने परमेश्वर की दृष्टि में मनुष्यों की असमानतायें प्रतिष्ठित करते हुए किए हैं; इन और ऐसी ही और असंगतियों ने धर्म्म का नाम छीन रखा है और संसार को दुःख, पाप, अपराध, युद्ध, और रक्तपात के दुर्दमनीय प्रवाह के साथ जलमय कर दिया है। धर्म्म का मुख पारस्परिक घृणा और पैशाचिक द्वेष की दृष्टियों से, प्रतिहिंसा और उच्चाकांक्षा की चपलता से, स्वार्थपर नेत्रों के चिन्तारञ्जित तेज से, असहिष्णुता की क्रोध-से-टूटी-हुई ललाट से, और असत्य का विष खाई हुई कार्यशक्तियों की भयानक म्लानता से सर्वथा कुरूप होगया है।

तर्क और भक्ति को बुद्धि के सारे प्रदेश से निर्वासित कर दिया गया है। धर्म्म मतों और सम्प्रदायों के केवल व्यवसाय का पर्यायवाची होगया है। जीवनों को उत्तम बनाने और अनुग्रह के काम करने का स्थान केवल श्रद्धा ने लेलिया है। वचन ने कर्म्म का सिंहासन छीन लिया है। मूढ़विश्वास और पुराणशास्त्र ब्रह्माण्ड के रहस्यों का समाधान कर रहे हैं। ये समाधान अलफ़ लैला की कहानियों से कम मनोरञ्जक और उन से अधिक सच्चे नहीं। वेदान्त को इन समाधानों की किस्सागो और झूठ घड़ने वाली मेशीनरी के औचित्य की साक्षी के लिए बाध्य किया गया है। यथार्थता और निश्चय की जगह अनुमान और अटकल पच्चू ने घेर ली है। सत्य घटनाओं के रूप में समाज पर स्वप्न ठूँसे गये हैं। अलौकिक ब्रह्मविद्या, अद्भुत करामातें, और अस्वाभाविक सिद्धान्त निकालने के लिए कल्पना-शक्ति पर बल डाला गया है। मानवी प्रकृति को सर्वथा भ्रष्ट बताकर उसे कलङ्कित, अपमानित, और निन्दित ठहराया गया है। भविष्यत् से आशा और प्रत्याशा को निकाल कर उनके स्थान में चिरंतन नारकीय ज्वाला और यातना के प्रबल यंत्र झूठे घड़ कर जनता के सिर पर रक्खे गये हैं।

अनेक उपयोगी और श्रेष्ठ कार्यशक्तियों को उनके सत्त्वों से वञ्चित रक्खा गया है; कइयों को सर्वथा दवाया गया है; और अनेकों को कष्टकर परीक्षा और पीड़ा सहन करनी पड़ी है। सारा बल धर्म्मांधता और स्वमताभिमान पर व्यय किया गया है। वास्तव में धर्म्म का काम ऐसा ही होगया है।

कई प्रतिभाशाली विद्वानों ने, जिन्हें परमात्मा की ओर से निर्मल मस्तिष्क मिले हैं,धर्म्म के इस विनाशजनक रूप को देखा है और इसके विरुद्ध आवाज़ उठाई है। अभी तक भी धर्म्म का ऐसा खिन्न दृश्य उपस्थित किया जा रहा है जिस से अनेक मनुष्य इस समय भी धर्म्म के विरुद्ध विद्रोह करते हैं और ऐसे धर्म्म से घृणा करते हैं जोकि सचाई और उन्नति का भारी घातक है। जो श्रेष्ठ भावनायें और आनन्द सत्य धर्म्म से उत्पन्न होते हैं जिन से जीवन रूपी भूमि उर्वरा होती है, वे वर्त्तमान काल के आवश्यक तौर पर संशयात्मक परन्तु निष्कपट, सत्य के अन्वेष्टाओं को सर्वथा अज्ञात हैं।

क्या यह सब शोचनीय नहीं? क्या इस से कोई बेहतर वस्तु सम्भव नहीं? क्या हम अनिश्चित पर निष्कपट संशय के सागर पर डांवाडोल बहते फिरेंगे? क्या जीवन-रहस्य वस्तुतः ऐसा है कि उसका खुलना सम्भव नहीं? कदाचित् वस्तुओं के स्वरूप को समझना मनुष्य के भाग्य में नहीं बदा! यदि ऐसा ही है तो यह जीवन वस्तुतः एक शोकमय दृश्य बन जायगा; इस संसार के दुःख और पीड़ायें सर्वथा असह्य होजायँगी।

परन्तु, सौभाग्य से, उपर्युक्त बातों का कारण सत्य धर्म्म से मनुष्य की अनभिज्ञता है। सत्य धर्म्म सब प्रकार की कृत्रिमताओं और कपट रचनाओं से रहित है। सत्य धर्म्म केवल एक मौखिक प्रतिज्ञा नहीं। यह कोई देवमाला नहीं। यह एक सजीव सार है। यह अत्यंत व्यावहारिक है। यह शुद्ध सत्य पर प्रतिष्ठित है। इसका आधार सर्व शक्तियों का तुल्य विकास और अपनी सत्ता को जानने की हमारी सर्व क्षमताओं का धार्मिक विस्तार है।

ईश्वरानुकूल जीवन व्यतीत करना ही धर्म्म-सत्य धर्म्म-है; "हमारे परिणामों को घड़ने वाला एक परमेश्वर है, हम उन्हें कैसे घड़ सकेंगे।"

इस परमेश्वर के अस्तित्व की सिद्धि और अपने साथ हर समय और सब कहीं उसकी उपस्थिति का अनुभव करना धर्म्म का प्रथम पाठ है। प्रकृति के स्थिर नियम और अक्षय्य शक्तियां, उसके अनन्त रूप और दृश्य-चमत्कार "सुयोग" से नहीं बन गये, प्रत्युत इनका आधार प्रकृति में व्याप्त एक सदैव-कर्म्मोद्युक्त और जंगम मूलतत्त्व है—यह भावना धर्म्म का आरम्भ है। जब मनुष्य इसका अनुभव कर लेता है, और पूर्ण चेतन अवस्था में आनंद से यह

विघोषित कर सकता है कि "इस ब्रह्माण्ड में प्रत्युत सृष्टि के सारे मण्डल के प्रत्येक लोक में भी, एक अधिष्ठाता व्यापक है", तब वह आगे पग बढ़ाने, और व्यक्तिगत सुधार का पाठ सीखने के योग्य होता है। परन्तु जब तक मनुष्य प्रकृति के क्षणिक रूपों और दृश्य-चमत्कारों को चीर कर प्रकृति के परमेश्वर तक पहुंचना नहीं सीखता वह व्यक्तिगत सुधार की शिक्षा प्राप्त कर नहीं सकता।

प्रकृति अपने नश्वर प्रलोभन और क्षणिक सौन्दर्य्य सब कहीं प्रचुरता के साथ बखेर रही है। मनुष्य उसके मोहिनी आकर्षणों और उच्छृङ्खल प्रलोभनों में आसानी से फँस कर नित्य, सनातन परमेश्वर को, जो कि उसकी बनाई हुई प्रत्येक नश्वर वस्तु में निवास करता और व्यापक है, भूल जाता है। मानव-मन, अपनी अविकसित और असंस्कृत अवस्था में, शीघ्र ही इस संसार के इन्द्रियभोग्य दृश्य-चमत्कारों के बंधनों में जकड़ा जाता है। धन और सम्पत्ति का समुज्ज्वल प्रपंच, कुलीनता और पदवी का आडंबर, लक्ष्मी का अति प्रचुर बाहुल्य, सुख और स्तुति की उच्छृङ्खल इन्द्रियाधीनता, ये सब नवयुवक और सरल मनुष्य को प्रायः डांवाडोल कर देते हैं, उसे सांसारिक उच्चाकांक्षा के समुद्र में निमग्न कर देते हैं, और उसे पाप, घृणा, स्पर्धा, क्रोध, और ईर्ष्या रूपी ऐहिक चिन्ताओं का शिकार बना देते हैं। मनुष्य इस प्रकार अपने नित्य जीवन के स्वार्थों के प्रति बहुत करके अंधा हो जाता है; जिससे उसे उस सच्चे आनन्द की प्राप्ति नहीं होती जो इस अद्भुत जगत् की ममता से पृथक् होकर, ब्रह्माण्ड के सर्वव्यापक परमेश्वर का, सारी सृष्टि में उसकी उदार कृपा के द्वारा, चिन्तन करने वाले भक्त के हृदय में प्रवेश करता है। अतएव इस बात की आवश्यकता है कि मनुष्य को स्मरण दिलाया जाए कि यह संसार एक क्षणिक दृश्य है, कि इन्द्रिय-सुख कभी स्थायी नहीं होते, कि ऐहिक जीवन एक ऐसा उद्यान है जिसमें कभी फल नहीं लगते, और कि इस संसार में प्राप्त की हुई खाली उपाधियां, नाम, और प्रतिष्ठा चिरकाल तक न बने रहेंगे। नश्वर पदार्थों से प्रीति करना भारी भूल है। सनातन और नित्य पदार्थ पर ही हमारा ध्यान लगना चाहिए, उस से ही हमारा प्रेम होना चाहिए, उस में ही हमारी रुचि होनी चाहिए, और वही हमारी आकांक्षाओं का विषय होना चाहिए, क्योंकि तब ही सच्चा आनन्द सम्भव है।

हे मनुष्य! क्या तू इस संसार के पापों से, ऐहिक आडंबर और माया के इन्द्रजाल से दूर भागना चाहता है? क्या तू ईर्ष्या, क्रोध, मत्सरता, और

विद्वेष से छुटकारा पाना चाहता है ? क्या तू सांसारिक बंधनों के उद्वेग, चिन्ता, पीड़ा और प्रतिरोध से छूटना चाहता है ? क्या तू सुख और शान्ति के निर्मल और नित्य उपभोग को ढूँढ़ता है ? तब **"हे मनुष्य ! इस नश्वर संसार के सभी विचारों को छोड़कर निर्मल सुख का उपभोग कर"** ।

ऐसी भावना हो जाने पर धर्म्म—सच्चा धर्म्म—कैसा परमानन्द है ! इस के पाठ उपयोगी और पाण्डित्यपूर्ण शिक्षाओं से भरे पूरे हैं । प्रकृति से प्रकृति के परमेश्वर के निकट जाने से हम इस संसार की नश्वरता पर विचार करना, और इससे अपनी ममता को हटा लेना सीखते हैं । इतना हो जाने पर हम एक पग और बढ़ाने के योग्य होते हैं । यह पग हमें प्रत्यक्ष रूप से व्यक्तिगत पाप-निवृत्ति तक ले जाता है । इस पापनिवृत्ति का निर्भर आवश्यक तौर पर न्याय के अनुभव पर है और न्याय का नियम मानवी प्रकृति में बहुत गहरा गड़ा हुआ है ।

एक **दिव्य तत्त्व** सब को एक व्यापक विज्ञ दूरदृष्टि से सब के अत्यंत मंगल के उद्देश से, शासित और मर्यादित कर रहा है । यह सार्वत्रिक दूरदृष्टि छोटे से छोटे परमाणु से लेकर बड़े से बड़े सूर्य्य तक सब को जीवन प्रदान करती है, और उनके अपने अपने काम के लिए एक को दूसरे के अनुरूप बनाती है, और यही सब का आत्यंतिक मंगल है । इस दूरदृष्टि को सब के आत्यंतिक मंगल के लिए काम करते हुए अनुभव करना, और इस दूरदृष्टि के स्पंदनों के साथ सहानुभावी कंपन का होना ही इस नियम का सच्चा अनुभव है ।

सब का आत्यंतिक मङ्गल उद्देश है । और प्रकृति की अद्भुत व्यवस्था एक ऐसी ईश्वरीय संस्था है जो इस उद्देश को वस्तुतः अद्भुत और श्रेष्ठ रीति से पूरा करती है । प्रकृति के सनातन, अविकार्य, और स्थिर नियम पूर्ण व्यवस्था की दिव्य संहिता हैं; वे ईश्वरीय तत्त्व के श्वास हैं और ब्रह्म के सनातन काल से सब को नियम और शासन में रखने, और रहने की विधियां हैं । परमेश्वर के पास प्रत्येक के कर्म्मों का लेखा रखने और उसकी चेष्टाओं की निगरानी करने के लिए कोई सावधान, जागरूक, प्रतारक, कपट प्रबंधक, और बहुधा कपटी, घूँस खाने वाली पोलीस नहीं ताकि वह कहीं उसकी प्रजाओं की व्यापक शान्ति को भंग न कर दे । ईश्वरीय संस्था में ऐसी निर्बलताएं नहीं आ सकतीं । प्रत्येक की स्मृति ही उसकी अभ्रांत लेखा—लिखने वाली है,

और विचक्षण इन्द्रियविन्यास जो प्रत्येक को दुःख और सुख का बोध कराता है सर्वव्यापक पोलीस है। इस पोलीस का काम दण्ड देना नहीं प्रत्युत शिक्षा देना और सुधारना है। उसकी कोई कचहरियां नहीं जहां अभियोगों का निर्णय होता हो; परन्तु सामाजिक संवेदन, हार्दिक भाव और अन्य चित्तक्षोभ मन के आभ्यन्तरिक कमरे हैं जहां कि तर्क नित्य विचार के सिंहासन पर बैठता है। यही सार्वत्रिक कला प्रकृति की संस्था में प्रयुक्त होती है। इसका उद्देश सब का आत्यंतिक मङ्गल होने के कारण इसकी व्यवस्था इस प्रकार की गई है कि प्रत्येक का व्यक्तिगत मङ्गल, एवं च, सब के मङ्गल में ही है। अतएव प्रकृति के सनातन और स्थिर नियम किसी विशेष अनुग्रह और व्यक्तिगत पृथक् अधिकारों को नहीं मानते, न ही वे व्यक्तियों की पूजा करते हैं। प्रकृति की सारी तरङ्ग एक मार्ग पर बहती है, और वह मार्ग है **जनता का कल्याण**। इस सामान्य क्रम को तोड़ने वाला कोई भी व्यक्ति इस अपराध का फल भोगे विना रह नहीं सकता। इस फल के कारण वह सामान्य क्रम से बाहर फेंक दिया जाता है, जिससे सामान्य तरङ्ग एक घड़ी के लिए प्रशान्त रहे, और, यदि वह सार्वत्रिक समष्टि के स्वार्थों के अधीन होना नहीं चाहता तो अपने आप को शुद्ध और पवित्र बना ले।

वह न्याय-नियम जो प्रत्येक प्राणी का उसके पड़ोसी के साथ शान्तिमय सम्बंध रखता है, और जो उसे उसकी अपनी आत्मा की पवित्रता का आदर्श बताता है वह उसके लिए अपने पड़ोसियों के साथ शान्तिपूर्वक और बाह्य जगत् के साथ एकस्वर होकर रहने का स्वयं-निर्वाचित और सुखकर धर्म्म भी आवश्यक ठहराता है। इस साम्य के बिगड़ जाने से ही विरोध, रोग, दुःख, युद्ध, और विध्वंस उत्पन्न होते हैं। इसलिए, यदि कोई व्यक्ति सामान्य शान्ति को भङ्ग करने का यत्न करेगा तो इस अतिक्रम का अटल फल अवश्य उसे भोगना पड़ेगा। परन्तु उस व्यक्ति की अवस्था सर्वथा भिन्न है जो बुद्धिपूर्वक और जान बूझकर उस मार्ग को ग्रहण करता है जिसका परमेश्वर ने सब के लिए नियम और व्यवस्था की है। उसका मार्ग, आरम्भ में कठिन होने पर भी, उसे सीधा व्यक्तिगत आनन्द और सामाजिक अभ्युदय तक ले जाता है। उसका मार्ग सुख और शान्ति का मार्ग है। कोई ईर्ष्या-जन्म अन्तर्दाह, कोई क्रान्तिकर स्पर्धा, घृणा या तिरस्कार का कोई भाव, कोई निराशा या निष्फलता, और अपनी परिस्थिति के साथ कोई असन्तोष उसे धर्म्म मार्ग से विचलित होने के लिए प्रेरित नहीं करता और न ही उसके व्यक्तिगत स्वास्थ्य और व्यक्तिगत अस्तित्व के मंदिर को लूटता है। इसके विप-

रीत, उसके सामाजिक और भ्रातृक भाव पूरे तौर पर भर कर परितृप्त हो जाते हैं। उसकी निःस्वार्थ प्रकृति उसे एक ओर साधारण दुःख से और दूसरी ओर स्वार्थपरता से ऊपर उठा देती है; उसका तर्क निर्मल, और उस का संकल्प शुद्ध और पवित्र हो जाता है। क्योंकि, एक वार मनुष्य को यह समझ लेने दो कि एक विज्ञ परमेश्वर हमारे चारों ओर के अनन्त ब्रह्माण्ड के कामों की व्यापक नियमों द्वारा व्यवस्था करता है, एक वार उसे इन व्यापक नियमों को भली प्रकार समझने, जानने, पहचानने, और अपने हृदय के भीतर इस परमेश्वर के अस्तित्व का ऐसा पूर्णतया अनुभव कर लेने दो कि वह फिर उसके जीवन में कभी एक क्षण के लिए भी न भूले, उसे एक वार इस अवस्था में प्रवेश कर लेने दो, फिर वह दूसरों की आत्मा के साथ अपनी आत्मा की एकता का अनुभव करने लगेगा। वह बाक़ी सब के साथ अपने आपको सुस्वर पायगा। तब मनुष्यमात्र के साथ सच्चे भ्रातृभाव का अनुभव होगा क्योंकि यह ज्ञात हो जायगा कि हमारा आनन्द दूसरों को आनंदित करने में, और हमारा सुख दूसरों को सुखी बनाने में है।

सार्वत्रिक न्याय (जो मनुष्यमात्र को भाई समझता है, और मनुष्य को वाध्य करता है कि वह अपने स्वार्थ और कर्तव्य में सुस्वरता उत्पन्न करे, ताकि ऐसा न करने से वह कहीं सार्वत्रिक मङ्गल तक लेजाने वाली प्राकृतिक धाराओं की गति का व्यतिक्रम न करदे) का यह अनुभव ही मनुष्य को दूसरों के अधिकारों और स्वाधीनताओं को छीनने से सहर्ष और जान बूझकर रोके रख सकता है। केवल इसी प्रकार ही, सार्वत्रिक न्याय के सूत्रों के अनुसार, वह यथार्थ रीति से यह विघोषित कर सकता है कि **"किसी जीवित प्राणी के धन का लोभ मत कर"**। केवल तभी, इस से पहले नहीं, सच्चा व्यक्तिगत सुधार सम्भव है।

परन्तु धार्मिक उन्नति यहां ही समाप्त नहीं हो जाती। केवल अपने आप को इस ऐहिक जीवन के संतापों से पृथक् रखना, मानों एक प्रकार से, इस संसार के नश्वर चमत्कार और वृथाडंबर से अप्रभावित रहना, या अधिक से अधिक दूसरों के अधिकारों और स्वाधीनताओं को न छीनना, धर्म्म का नकारात्मक या निषेधात्मक पक्ष है। इस में और पापात्मक अनुद्यम, घोर उदासीनता, उपेक्षाकारी स्तब्धता, और प्रोत्साहक के मौन में कुछ प्रभेद नहीं। धर्म्म इतना सुनिश्चित है कि वह केवल इन निषेधात्मक कर्तव्यों तक ही परिमित नहीं रहता। मनुष्य की प्रबल ओज और मोरस इ क्षमताओं से सम्पन्न अद्भुत रचना की कुछ अधिक अलँघनीय याचनाएं हैं; वह किसी उच्चतर

प्रयोजनों के अस्तित्व की ओर निर्देश करती है, और केवल निषेधात्मक नीति की आज्ञाओं से ही चुप नहीं होसकती। क्योंकि, केवल शान्त उपभोग के लिए, (दूसरों के उपभोगों का कभी विरोध न करके), एक निष्क्रय रचना सर्वथा पर्य्याप्त थी। परन्तु मनुष्य में कर्मोद्युक्त शक्तियां, स्वभावसिद्ध क्षमताएं, और उत्तेजक तत्व हैं, और ये सब व्यर्थ नहीं। वे उसे अपने और अपने पड़ोसियों के निमित्त सुख और शान्ति प्राप्त करने के यशस्कर प्रयोजन के लिए अपनी सारी शारीरिक और मानसिक शक्तियों के अनवरत उपयोग और प्रबन्ध नियोग का संकेत करते हैं। प्रकृति का नियम उद्योगिता है आलस्य नहीं। जड़ और चेतन प्रकृति उत्साहशील बल और अशान्त उल्लास से परिपूर्ण है। कोई भी पदार्थ निरुद्यम नहीं। चिउँटी सदा काम में लगी रहती है; यह पृथ्वी जिस पर हम रहते हैं सदा गिर्दागिर्द घूमती है, बेल बूटे सदा अपनी वृद्धि में लगे रहते हैं, पवन सदा चक्कर लगाता है, और जल सदा निकलता और बहता है! अपने चारों ओर दृष्टि डालो और फिर बताओ कि प्रकृति किस धर्म्म का उपदेश देती, और कौनसी शिक्षाओं का प्रचार करती है? प्रकृति के क्षेत्र में अन्तर्निरूढ़ शक्तियां अपनी उपस्थिति को प्रकट करने में सदा लगी हुई हैं।

प्रकृति केवल एक धर्म्म का उपदेश देती है। और वह धर्म्म है प्रत्येक के और सब के सुख, स्वास्थ्य, मङ्गल, और सद्गति के लिए कर्म्म, लगातार, अनथक, और प्रबल कर्म्म—का करना। **"तब हे मनुष्य! उत्तम कर्म्म करता हुआ, सौ वर्ष तक, अपने पड़ोसियों के साथ शान्ति-पूर्वक जीने की अभिलाषा कर, केवल इसी प्रकार, और किसी तरह नहीं, तेरे कर्म्म तुझे दूषित न करेंगे।"**

जो मनुष्य निरन्तर उपयोगी उद्योगिता का जीवन व्यतीत करता है उसके लिए यह संसार कैसा सुन्दर है! यह प्रचुर आनन्द की एक खान है। इसे केवल खोदने और अपने अधिकार में करने की ही आवश्यकता है। उस के लिए मानवीय कार्यशक्तियां क्या हैं? सुखी और कृतार्थ करने की शक्ति रखने वाली वाणी, प्रशान्त और तरोताज़ा करने वाला सङ्गीत, उच्च बनाने और आश्रय देने वाले मनोधर्म, ऊञ्चा चढ़ने और उड़ने वाले विचार—ये और ऐसी ही और शक्तियां गुप्त सौन्दर्य्यों से भरी पड़ी हैं। प्रत्येक इन्द्रिय पवित्र और निर्मल है क्योंकि इसका काम श्रेष्ठ और उच्च है। क्या यह सम्भव है कि कोई व्यक्ति मानुषी रचना की इस सुन्दरता की प्रशंसा करे, इसके महत्व को पहचाने, इसकी पवित्रता को समझे, इसकी शुद्धि की कामना करे और फिर

भी स्वयं अप्रिय, असंगत, और कुरूप रहे ? नहीं, वह अब आन्तरिक शुद्धि की सुन्दरता और अन्तर्वर्ती पुण्यशीलता की दीप्ति से इतना अभिज्ञ है कि वह गन्दी विषयासक्ति के अँधकार और नैतिक बुढ़ापे के नरक में कभी पड़ा नहीं रह सकता। वह प्रयोजन की पवित्रता, कर्म्म की साधुता, और जीवन की चारुता रूपी आन्तरिक सौन्दर्य्यों को ही सब से उत्तम समझता है। वह इस आन्तरिक सौन्दर्य को नष्ट करके अपने आपको गिरा नहीं सकता, क्योंकि वह इस सचाई को जानता है कि "वे सब मनुष्य जो अपने आत्मा की पवित्रता को नष्ट करते हैं, निश्चय ही, मरने के पश्चात् उन लोकों में जाते हैं जहां कि बुरी आत्मायें निवास करती हैं, और जहां पूर्ण अँधकार छाया हुआ है।" प्रत्युत वह अपने अस्तित्व की प्रशस्त क्षमताओं पर और जीवन के बहुमूल्य दान पर हर्ष से भर जाता है, और ईश्वर की दी हुई तर्क शक्ति पर कृतज्ञता का प्रकाश है, और अपनी नैतिक प्रकृति के लिए ईश्वर का धन्यवाद करता है। उसकी आत्मा कृतज्ञता के साथ उस ईश्वर की ओर झुक जाती है जो कि अनन्त देश में व्यापक है, जो आकाश के मण्डलों और पृथ्वी के कीड़ों को जिलाता है और उनके आगामी युग युगान्तर तक निरन्तर कर्म्म करते रहने की व्यवस्था करता है। क्या इस विस्तृत ब्रह्माण्ड में कोई ऐसा पदार्थ है जो कृतज्ञ मनुष्य को उस चक्रवती राजा रूपी परमेश्वर का गुणानुवाद करने का प्रत्यादेश नहीं करता जो कि चारों ओर सौन्दर्य्य और सुख की वर्षा कर रहा है ? उसके प्रति अपनी कृतज्ञता और परतन्त्रता को स्वीकार करते हुए हमारी आत्माएँ पूजा भाव से उसकी ओर जाती हैं जो कि "नित्य, सनातन, विज्ञ आत्मा, मन से भी बढ़कर शक्तिशाली है।" यह सत्य है कि "भौतिक इन्द्रियां उसका अनुभव नहीं कर सकतीं" परन्तु हृदय दूरदृष्टि रूपी सुन्दर दान के लिए कृतज्ञ होकर पूजा भाव से झुक जाता है। गँध, सौरभ, वर्ण, शब्द और अन्य बाह्य संस्कार बाहरी जगत् की ओर झुके हुए मनुष्य को प्रभावित करके चाहे उसे इन सब का स्रोत भुलादें, परन्तु वह मनुष्य जिसकी आत्मा में सौन्दर्य्य खिला हुआ है और विनीत पूजा के सुगंधित धूप के साथ कृतज्ञता का भाव उठता है वह इन वस्तुओं को चीर कर आगे देखने से नहीं रुक सकता। वह "अपनी इन्द्रियों को उनके स्वाभाविक मार्ग से हटा लेता

है और परमात्मा की सब कहीं विद्यमानता अनुभव करता है।" संसार के भ्रामक दृश्य-चमत्कार अब उसे धोखा नहीं देते। इन्द्रियभोग्य प्रलोभन और बाह्य आडम्बर उसकी विस्तृत और विकसित दृष्टि में धूलि नहीं डाल सकते। बाह्य कलह से बहुत दूर, और अपने शान्त मन के अन्दर, वह उस परमात्मा का अनुभव करता है जो "सब को हिलाता है परन्तु आप नहीं हिलता।" हां, संसार में लिप्त, विकारों के वशीभूत, और अविद्या के जाल में फँसे हुए मनुष्यों के लिए वह चाहे दूर हो, "परन्तु ज्ञानियों के लिए वह निकट है," क्योंकि "वह सब के अन्दर और बाहर व्यापक है।" जिस मन ने इस प्रकार कृतज्ञता का भाव ग्रहण कर लिया है उसके लिए विरोध, असंतोष, और संक्षोभ कोई नहीं रहता। क्योंकि मत्सरता, घृणा, ईर्ष्या, तिरस्कार और अन्य विरोध द्वंद्वभाव के भिन्न भिन्न रूप ही तो हैं। जब मनुष्य इस बात को समझ ले कि सब मनुष्यों का एक ही अदृष्ट है, जब वह इस बात का अनुभव कर ले कि प्रत्येक आत्मा एक ही परमेश्वर के सजातीय प्रभावों से चेष्टा करता है, इस विस्तृत ब्रह्माण्ड का प्रत्येक परमाणु एक ही श्वास से जीवन पाता, और प्रत्येक व्यक्तिगत हृदय अभिन्न आकाश-ज्वाला से प्रदीप्त होता है तो फिर द्वंद्वभाव कैसे रह सकता है? समस्त प्रभेद मिट जाते हैं। मनुष्य जाति एक परिवार होजाती है। सब भाई होजाते हैं। फिर कोई वैर, कोई स्पर्धा, कोई मत्सरता, और कोई विरोध रह नहीं जाता। ऐसी मानसिक उन्नति प्राप्त कर लेने पर मनुष्य सहर्ष "सब भूतों को परमेश्वर के अन्दर स्थित और परमेश्वर को सब भूतों में व्यापक" समझने लगता है, और वह "किसी भी जीव को तिरस्कार की दृष्टि से नहीं देख सकता"। नही "मोह और शोक उसे पकड़ सकते हैं" क्योंकि वह अपनी बुद्धि द्वारा "सब भूतों में एक आत्मा को निवास करते देखता है।"

जिस मनुष्य का अनुभव इस ब्रह्माण्ड की अन्तरात्मा तक पहुँचता है उसके प्रेरक पूजा, प्रशंसा और प्रेम के भाव ही होते हैं। जब मनुष्य इस बात पर विचार करता है कि अपने से श्रेष्ठ व्यक्तियों के सामने, (जो यद्यपि श्रेष्ठ हैं पर भ्रान्त और परिमित हैं, और दुःख, अविद्या, निष्फलता, निर्बलता और इनके परिणामों के अधीन हैं) उसके अन्दर कैसा पूजा का भाव उत्पन्न हो जाता है तो उसे अपने अन्दर उसके लिए जो "सब भूतों पर छाया

हुआ है, जो सर्वथा 'आत्मा ही आत्मा है, जिसका कोई आकार नहीं; जिसका कोई अनुभव या इन्द्रियविन्यास के योग्य सूक्ष्म या स्थूल शरीर नहीं; जो बुद्धि का राजा, स्वयंभू, शुद्ध, पूर्ण, सर्वज्ञ, और सर्वव्यापक है,"—दयालु पिता "जो सनातन काल से सब भूतों के लिए उनके अपने अपने काम नियत करता आया है," अधिक सम्मान, प्रशंसा, और पूजा का भाव उत्पन्न हुआ देखकर आश्चर्य नहीं होता।

धन्य हैं वे लोग जिन्हें इस परम देव, इस सर्वव्यापक परमेश्वर का ज्ञान प्राप्त है। उन लोगों के हृदय-मंदिर आनंद से परिपूर्ण हैं जो इस सत्य स्वरूप की विद्यमानता का अनुभव करते हैं। उनके लिए जीवन एक भारी विलासिता, स्थिर सुख, और सनातन उपभोग और वृद्धि है। उन्होंने मृत्यु को जीतकर कुचल डाला है। परन्तु वे लोग अति दुःखी हैं जो कि चारों ओर से अविद्या के जाल में फँसे हुए हैं। इस ब्रह्माण्ड के विधाता को न जानने वाला अज्ञानी क्या उन्नति कर सकता है? देखो यह कैसा विध्वंस उत्पन्न करता है। अज्ञान से बढ़कर और कोई भी वस्तु भयानक नहीं। किसी ने सत्य कहा है कि जब मनुष्य को एक बार अपने अज्ञान का पता लग जाता है तो फिर वह उसे सहन नहीं कर सकता। अतएव अज्ञान का बोध होते ही ज्ञान का आरम्भ हो जाता है। बुद्धिमान सुकरात ने सर्वथा ठीक कहा था कि "मैं केवल इतना ही जानता हूं कि मैं कुछ नहीं जानता।" सारा विरोध अविद्या से ही उत्पन्न होता है। देखिए इसका कैसा भीषण रूप है। अमर पतञ्जलि मुनि कहते हैं—"अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्य शुचिसुखात्मख्याति रविद्या" अज्ञान की भयानक शक्ति चौगुनी है। एक तो इससे दीन अज्ञानी मनुष्य यह समझने लगता है कि यह दृश्य, श्राव्य, ब्रह्माण्ड, जिसका प्रत्येक तत्त्व विनाशशील है, सदा बना रहेगा, और कि यह स्थूल भौतिक शरीर, यह नश्वर काया, ही एक ऐसी वस्तु है जो मृत्यु के अनन्तर रहती है। दूसरे इससे उसके मन में यह भयानक और मिथ्या प्रत्यय बैठ जाता है कि नारी-सौन्दर्य्य, जिसे कि कई तत्त्वदर्शी मूक वंचक के नाम से पुकारते हैं, असत्य का व्यापार, चोरी, और ऐसी ही और बातें जिनका कि सार ही मलिनता और गन्दगी है, शुद्ध और वाञ्छनीय उपभोग हैं। तीसरे यह उसे दुःख और पीड़ा के उस सागर

में विकार और विषयासक्ति के उस समुद्र में डुबा देता है जिनकी तृप्ति को ही अँधा अज्ञानी मनुष्य सुख और आनन्द की प्राप्ति समझता है। चौथे, अविद्या में फँसे हुए मनुष्य को आत्मा के स्वरूप का कुछ भी पता नहीं होता। वह इस भौतिक गुरु, और दृश्य वस्तु को ही आत्मा समझता है। यह है अविद्या का स्वरूप: इसलिए यदि इसे इन्द्रियों का जीवन कहा जाय तो झूट न होगा, क्योंकि यह इन्द्रिय-सुख के बढ़कर और कोई सुख, इन्द्रिय-जीवन से बढ़कर और कोई जीवन, और इन्द्रियगोचर संसार से परे और कोई संसार नहीं मानता। निस्सन्देह "वे लोग अतिदुःखी हैं जो अविद्या की उपासना करते हैं, परन्तु उन से भी बढ़कर दुःखी वे हैं जो विद्या पर गर्व करते हैं।" क्योंकि वह बुद्धिमान नहीं जो अधिक जानने का गर्व करता है, जो अपने मस्तिष्क में पुस्तकों का एक ढेर; या अपनी स्मृति में शब्दों और वाक्यों का एक समूह; या अपनी रसना में विद्रूपात्मक शब्द-संग्रह की बौछाड़, या अपने प्रकीर्ण भण्डार में, जिसे मन कहते हैं, उस द्रव्य का एक याचित शास्त्रागार (जो मानसिक युद्ध में, जिसे सामान्यतः विवाद कहते हैं, विजय प्राप्ति के लिए अत्युपयोगी है) उठाने का दावा करता है। प्रत्युत वही मनुष्य बुद्धिमान है जिस के भाव, विचार, जीवन, और कर्म अच्छे हैं। ज्ञान और अविद्या का भेद विपर्ययों का भेद है। ज्ञान नित्य जीवन, सनातन सुख, और सदैव की शान्ति है। अविद्या इस संसार का सारा दुःख, सारा पाप, सारी व्याधि, और सारा अनिष्ट है। ज्ञान और अविद्या में जितना भेद है उस से बढ़कर और भेद संसार में सम्भव नहीं। जिन लोगों ने यह घोषणा की थी "कि अविद्या जो कि इन्द्रियों का जीवन है, एक परिणाम उत्पन्न करती है, और विद्या का, जो कि आत्मा का जीवन है, ठीक उसके विपरीत परिणाम होता है," वे भ्रान्त न थे।

परन्तु वह बुद्धिमान् मनुष्य धन्य है जो बुराई से भलाई और विष से अमृत निकालता है। ज्ञानी पुरुष स्वयम् इन्द्रियों से भी पवित्र काम लेता है। यह काम कर्मोपासना, अर्थात् वह सुव्यवस्थित, और पुण्यशीलता के अनुसार मर्यादित धार्मिक जीवन है जो बंधन, पाप, दुःख, और मृत्यु से मुक्ति दिलाता है। हां, ज्ञानी पुरुष इन्द्रियों से आज्ञाकारिता, विकारों से पुण्यशीलता, मनो-

भावों से उन्नति, अविद्या से मुक्ति प्राप्त-कर लेता है। इसका फल चिरस्थायी परमानन्द और अमरत्व की प्राप्ति होता है। ऐसे ही पुरुष के विषय में कहा गया है कि "जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है, वह इन्द्रियों के जीवन के कारण शारीरिक मृत्यु का उल्लङ्घन कर के आत्मा के जीवन के द्वारा अमरत्व को प्राप्त होजाता है।"

अविद्या के शिकार अनेक हैं और इसके धारण किए हुए रूप बड़े भयानक हैं। उन में से एक वह है, जिसे, कोई और अच्छा नाम न मिलने के कारण, वैज्ञानिक नास्तिकता कह सकते हैं। यह परमाणुओं की सर्वशक्तिमत्ता में विश्वास रखती है। बाहरी पदार्थों की ओर झुका हुआ वैज्ञानिक मनुष्य, जिस का मन प्रकृति और गति की भावनाओं के साथ, और गतिशास्त्र तथा यंत्रविद्याविषयक विचरणों के साथ भरा हुआ है, जो अपनी इन्द्रियों के प्रमाण के बिना कभी भी किसी बात पर विश्वास नहीं करता, कच्चे विश्लेषण का काम आरम्भ करता है। वह जीव जन्तुओं, नाड़ियों, पट्ठों, और कोषसमूहों को अनेक बार चीरता फाड़ता और उनकी सूक्ष्म परीक्षा करता है, परन्तु मस्तिष्क के सारे उलझन में, रक्त-वाहिनी नाड़ियों के सारे जटिल जाल में, उसे विज्ञ परमात्मा का कोई चिन्ह नहीं मिलता, सब गति या गतिवान् प्रकृति ही देख पड़ती है। वह अपनी शरीरशास्त्र-विषयक खोजें आरम्भ करता है और सब कहीं रसायनिक और नाड़ीगत क्रिया पर आकर समाप्त कर देता है। अब वह फिर प्रकृति के सेन्द्रिय विभाग (organic department) को छोड़कर प्रत्येक कठिन, तरल, और वाष्पमय पदार्थ को कभी घुठाली में, कभी भवके में, कभी ताप से, कभी बिजली से, कहीं रसायनिक पदार्थों द्वारा और कहीं प्रति क्रियाओं द्वारा बारम्बार तोड़ता फोड़ता और पृथक् पृथक् करता है, परन्तु उसे सब कहीं परमाणु, उनकी रसायन-प्रीतियां, और विशेष भार ही देख पड़ते हैं, परमात्मा का कहीं भी पता नहीं चलता। प्रत्यक्ष अवलोकन की सुनिश्चित साक्षी पर, और व्यक्तिगत अनुभव की अभ्रान्त वेदी से, ज्ञान की गर्वित विभूति के साथ सिर को उठाये हुए, और प्राकृतिक शक्तियों के स्नायुजन्य बल के साथ मेरुदण्ड को सीधा अकड़ाए हुए, वह एक विज्ञ, सर्वव्यापक, और सब को चेष्टा कराने वाले सूत्र के अस्तित्व में विश्वासरूपी अशिष्ट सिद्धान्त को अन्तिम तिलाञ्जलि दे देता है। परमाणुओं के बल में उसका अपार विश्वास हो जाता है। वह उन्हें ऐसे सरल और अत्यंत सूक्ष्म पदार्थ समझता है जिनका कि व्यवच्छेद और पृथक्करण नहीं हो सकता, जो सनातन, और

अस्पष्ट हैं, और जो ऐसी गतियां रखते हैं कि उनकी कल्पना भी नहीं हो सकती। ये गतियां उनको किसी ने दी नहीं प्रत्युत उनमें अस्तित्व की आवश्यकता के कारण स्वाभाविक हैं। इन परमाणु-शक्तियों के विस्तृत गड़बड़ काम में विशेष परमाणु निर्वाचन और देवगति के द्वारा मिले, उनका पारस्परिक संयोग हुआ, और उन्होंने अस्थायी रचना ग्रहण करके चेतन जीवन के लक्षण प्रकट किए। जीवन को इस बीज ने, सर्वथा अचिन्तित और अज्ञेय अवस्थाओं के कारण, अनुकूल दशाओं में, (सुयोग या निर्वाचन के कारण अनुकूल), अपना विस्तार और वृद्धि की। उस समय जीवन के लिए भारी संग्राम हो रहा था। इस संग्राम में कई सौभाग्य से सेन्द्रिय-प्राणी उसी परमाणु-प्रलय में दुबारा वापस धकेल दिए गये जिससे कि वे उत्पन्न हुए थे। यह निर्वाण कहलाता है। परन्तु कुछ सौभाग्यशील सेंद्रिय जीव (योग्यता, पात्रता, या सङ्कल्प के कारण सौभाग्यशील नहीं, प्रत्युत किसी न किसी तरह से भाग्यशील) इस भयानक विपत्ति से बच रहे और बढ़े फूले। उनके इन्द्रियविन्यास में परिवर्तन और विकास द्वारा नवीन इन्द्रियां उत्पन्न हो गईं। फिर उनमें और परिवर्तन और परिवर्धन होता गया, यहां तक कि मनुष्य नामक जीव का आविर्भाव हुआ। अब मनुष्य, परमाणुओं के आकस्मिक संयोग से बना हुआ, यह मनुष्य, अपने तप्त मस्तिष्क के साथ, परमेश्वर और अमरत्व के निर्बल सिद्धान्तों को सर्वथा छोड़ रहा है। क्या कोई समझदार मनुष्य ऐसे सिद्धान्तों में विश्वास रख सकता है? हे ब्रह्मज्ञानी! रेत की नींव पर धर्म्म का भवन खड़ा करने के तेरे यत्न निष्फल हैं! मनुष्य जाति, जाति रूप से, चाहे दीर्घ काल तक बची रही, परन्तु व्यक्ति रूप से मनुष्य उसी अधम धूलि में वापस लौट जायगा जिस से कि वह उत्पन्न हुआ था।

ऐसी है वैज्ञानिक नास्तिकता। सब कुछ अनिश्चित और अविश्वास्य है। जीवन उन प्रबल पहियों की रगड़ से उत्पन्न हुई एक आकस्मिक चिङ्गारी मात्र है जिन की अँधी घूमने वाली गति से ब्रह्माण्ड के दृश्य—चमत्कार उत्पन्न होत हैं। भविष्यत्काल की कोई आशा नहीं, पीडित पुण्यात्माओं या हताश न्यायाभिलाषियों के लिए परकाल में कोई सान्त्वना नहीं। इसका स्वाभाविक परिणाम यह है कि सर्वशक्तिमान् परमाणुओं का उपासक अधार्मिकता और दुराचार के समुद्र में सिर के बल कूद कर सारे न्याय को बिना किसी वेदना के पाँव तले रोंदता है, बिना किसी निःश्वास के सारे सद्गुणों को दबाता है, और मनुष्य—प्रकृति में जो कुछ श्रेष्ठ और उत्कर्षकारी है उस के खण्डहर पर अपने साहसिकता का तम्बूशान खड़ा करता है। वह अपने कर्म्मों में, और

अपने भावों में साहसिक हो जाता है। या कदाचित् उसका तत्वज्ञान समर्पण का तत्वज्ञान है। साहसिक हो या समर्पित, इसमें मानवीय माहात्म्य के साथ नृशंस अत्याचार होने के चिन्ह हैं, और मनुष्य-प्रकृति के साथ अत्याचार होने की शेष सब अवस्थाओं के समान यहाँ भी मनुष्य क्षुब्ध, अशान्त, उदासीन, उद्विग्न, जड़ या अपने आप से सर्वथा अचेत हो जाता है। यद्यपि वैज्ञानिक नास्तिकता का यह अन्तिम रूप विपद् युक्त है, तथापि इस का एक कोमल रूप भी है जोकि एक निश्चित और एक अत्युच्च दर्जे की मृत्यु के अनुरूप है। क्योंकि वैज्ञानिक नास्तिक का कम से कम नियमों के या प्रकृति के क्रम के अपरिवर्तनीय और स्थिर स्वरूप में बड़ा दृढ़ विश्वास होता है। वह मूढ़विश्वासी नहीं। कार्य्य जगत् में वह कम से कम पारंगत है। उसका आन्तरिक जीवन चाहे अशान्त और दुःखमय ही हो पर उसका बाह्य जीवन, निस्सन्देह, पूर्ण सफलता का जीवन है। परन्तु उस मनुष्य की अवस्था बहुत भिन्न है जिसे, अविद्या के कारण, न तो इस ब्रह्माण्ड के विज्ञ शासक की भावना है और न इस ब्रह्माण्ड में किसी नियम या किसी क्रम की नियत कल्पना है, परन्तु जो एकेश्वरवादी के उत्कर्षकारी विश्वास या एक नास्तिक की स्वाभाविक पराधीनता का स्थान पृथ्वी जैसे तत्वों या पत्थर, वृक्ष, प्रत्युत नर-देह जैसे पदार्थों की नीच, क्षुद्र और अपकृष्ट पूजा को देता है। ऐसी ही नीच और अपकृष्ट नास्तिकता से संसार भरा पड़ा है। ईसाइयों की मनुष्य-पूजा, मुसल्मानों की स्थान पूजा, पौत्तलिकों की मूर्ति पूजा, वेदान्तियों का मायावाद, और हिन्दुओं का अनेकेश्वरवाद; और वह सारी धर्मांधता, स्वमताभिमान, सांप्रदायिक पक्षपात, असहिष्णुता, और धर्मोन्माद जिन के साथ कि संसार का इतिहास इस प्रकार भरा पड़ा है, मनुष्य समाज की दुःखमय पतित अवस्था का फल और स्थायी प्रमाण हैं। दृश्य पदार्थों की पूजा से उत्पन्न होने वाले अनिष्टों की गणना नहीं हो सकती। इस लिए यह कथन सर्वथा सत्य है कि **"वे लोग महादुःखी हैं जो परमाणुओं को जगत् का निमित्त कारण समझकर पूजते हैं; परन्तु उन से भी बढ़कर दुःखी वे हैं जो परमाणुओं से बने हुए दृश्य पदार्थों की उपासना करते हैं।"**

वैज्ञानिक नास्तिकता और दृश्य पदार्थों की पूजा के नाना रूप सर्वथा भिन्न भिन्न परिणाम उत्पन्न करते हैं। पर ज्ञान के द्वारा इनसे भी काम लिया

आ सकता है, और उस समय ये पहले की सी घृणोत्पादक वस्तुएं नहीं रहते। ज्ञान का प्रबल हाथ दृश्य-पदार्थों से वह इन्द्रिय-शिक्षा और हितकर उपयोग निकालता है जो कि सारे आन्तरिक विकास का प्राथमिक मूल और दृढ़ आधार-शिला हैं। इस प्रकार मनुष्य का जीवन-काल एक रम्य, शिक्षाप्रद, और बलवर्धक, यात्रा में परिवर्तित हो जाता है। यह यात्रा मृत्यु के अदृश्य प्रवेश द्वारों में से सनातन शान्ति तक ले जाती है। न केवल ब्रह्माण्ड की दृश्य सामग्री ही इस प्रकार भविष्य के लिए प्रचुर और उपयोगी भण्डार बन जाती है, प्रत्युत अदृश्य और तोड़ फोड़ के अयोग्य परमाणु भी, ज्ञान के हाथ के स्पर्श से, सर्वशक्तिमान् विधाता की शक्ति का आसन दीखने लगते हैं। परमाणु वे वाहन मात्र हैं जिनके द्वारा परमेश्वर दृश्य पदार्थों में स्थायी शक्ति और जीवन का संचार करता है। इस प्रकार **"जो मनुष्य दोनों का अनुभव कर लेता है, वह, मृत्यु के उपरान्त, जो कि दृश्य पदार्थों की उपासना का फल है, अमरत्व का, जो कि परमाणुओं में प्रकट होने वाली दिव्य शक्ति के अनुभव का फल है, उपभोग करता है।"**

आओ यहां कुछ ठहर कर उस उच्चपर्व की निरीक्षा करें जिस पर कि हम चढ़ चुके हैं। एक तो ब्रह्माण्ड का चक्रवर्ती राजा, परमेश्वर है, जो कि सब में व्यापक, सब का न्यायकारी, प्रत्येक के लिए उसका अपना अपना काम नियत करने वाला है। इधर एक मनुष्य प्रबल, कर्मोत्सुक कार्यशक्ति, ओजस्वी क्षमता, और सर्व-साधक उद्यम से सम्पन्न है। ये उसे मिले हुए कार्य को पूरा करने के लिए पर्याप्त हैं। उधर ऐसा प्रशस्त, ऐसा सुन्दर, ऐसा चित्ताकर्षक, ऐसा उपयोगी, ऐसा हितकर, और ऐसा सुखद ब्रह्माण्ड है कि सब दानों के परमदाता की ओर अत्यंत कृतज्ञता के साथ हृदय उठता है

"हे जगत् के प्रतिपालक! सच्चे सूर्य के उस मुख पर से आवरण को हटा दे जो कि अब सुवर्णीय प्रकाश के पड़दे के भीतर छिपा हुआ है, जिससे हम सत्य को देखें और अपने धर्म्म को पहचानें। हे ऋषियों के भी महर्षि, रक्षक, शासक, सनातन प्रकाश, और सृष्टि के प्राण! अपनी

किरणों को इकट्ठा कर, जिससे मैं तेरे परमानन्द से पूर्ण तेजोमय रूप का अनुभव करने में समर्थ होऊँ। यही मेरी सच्ची प्रार्थना है।" अद्भुत है वह अमर जीवन जो तू दान देता है, आश्चर्य है वह न्याय जो तू करता है। स्थूल शरीर से अमर सूक्ष्म शरीर के उत्पन्न करने की रीति कैसी श्रेष्ठ है। क्योंकि, मृत्यु के उपरान्त भी, तू हमें ऐसे लोक में बसाता है जिसके उपभोग कि उन्हीं बीजों के फल हैं जो कि इस लोक में हमने अपने कर्म्मों के रूप में बोये हैं।

"हे ज्ञानस्वरूप ! आप ज्ञान के स्रोत हैं। हमारे अन्दर अपना ज्ञान फूंकिये, हमें न्यायपरता की ओर ले जाइये, और हमारे सारे दुर्गुणों को दूर कर दीजिये। इस प्रयोजन से हम वारम्वार आपकी स्तुति और उपासना करते हैं।

ओम् शम्।

ओ३म्

माण्डूक्योपनिषद् ।

जुलाई १८८९

ओमित्येतदक्षरमिद ँ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

"ओम्" सनातन और सर्वव्यापक आत्मा का नाम है। वेद और शास्त्र, प्रत्युत विश्व ब्रह्माण्ड भी, जब यथार्थ ज्ञान के नेत्रों से देखा जाय तो, उसी

पाद टीका—१. अक्षर का अर्थ 'सनातन और सर्वव्यापक' किया गया है। देखिए पतञ्जलि मुनि अपने महाभाष्य के द्वितीय आह्निक में सातवें शिव सूत्र पर लिखते हैं—

अक्षरं नक्षरं विद्यात् ।

न क्षीयते न क्षरतीति वाक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम् ।

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन् प्रत्ययः । अश्नुत इत्यक्षरम् ॥

अर्थात् अक्षर वह है जो कभी क्षय, विनाश, वा विकार को प्राप्त नहीं होता। जो हिलता और बदलता नहीं। अक्षर का अर्थ (अश, धातु और उणादि सरन् प्रत्यय से) सर्वत्र व्यापक भी है। इसलिए 'सनातन और सर्व व्यापक' अर्थ हुआ।

स्वामी दयानन्द अपनी ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका में ४४ पृष्ठ पर २१ से लेकर २५ पंक्ति तक इस वाक्य का अनुवाद इस प्रकार करते हैं—

ओमित्येतद्यस्य नामास्ति तदक्षरम्। यन्न क्षीयते कदाचिद्यच्चराचरं जगदश्नुते व्याप्नोति तद् ब्रह्मैवास्तीति विज्ञेयम् । अस्यैव सर्वैर्वेदादिभिः शास्त्रैः सकलेन जगताप्युपगतं व्याख्यानं मुख्यतया क्रियते ॥

जो अर्थ हमने किए हैं यह अक्षरशः वही है।

सत्ता के स्वभाव और गुणों का व्याख्यान रूप हैं। वही ओम् भूत, भुवत् (वर्त्तमान) और भविष्यत् का परिवेष्टन करता है, और वह पूर्ण है। प्रत्युत जो भूत, वर्त्तमान. और भविष्यत् के भी अन्दर नहीं, वह भी उसके अन्दर है।

'सर्वं ँ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सो ऽ यमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

वह परब्रह्म सब में परिपूर्ण है। वह जो मेरे आत्मा में व्यापक है वही सर्व सृष्टि का महान् आत्मा है। उसकी सत्ता की अवस्थाओं की संख्या चार है।

हम ने भूतम्, भवत्, और भविष्यत् को विशेष्य मानकर अनुवाद किया है। इस से यह अर्थ निकलता है कि 'परमेश्वर भूत का परिवेष्टन करता है, परमेश्वर वर्त्तमान का परिवेष्टन करता है, और परमेश्वर भविष्यत् का परिवेष्टन करता है'। पर यह अर्थ उस साधारण अर्थ के विपरीत है जो भूतम्, भवत्, और भविष्यत् को सर्वम् का केवल विशेषण मानकर किया जाता है। स्पष्ट ही हम ने सर्वम् का अर्थ पूर्ण किया है। इसकी युक्तियों के लिए निरुक्त, परिशिष्ट, १४वें अध्याय के १३वें और १४वें खण्डों* को देखो। वहां भूत, भवत, भविष्यत्, और सर्वम् परमेश्वर वा आत्मा के नाम बताये गये हैं।

२.—आत्मा—"सर्वव्यापक परमेश्वर।"

सातिभ्यां मनिन् मनिणौ। उणादि सूत्र ४।१५१॥

अर्थात् आत्मा अत् धातु से मनिन् उणादि प्रत्यय लाकर बना है।

अतति व्याप्नोतीतिवात्मा—अर्थात् आत्मा वह है जो सब में व्यापक है। और निरुक्त ३।१५ देखो—

आत्माऽततेर्वाप्तिर्वापि इव स्याद् यावद् व्याप्तिभूत इति ॥

स्वामी दयानन्द "अयमात्माब्रह्म" (जो कि नवीन वेदान्तियों का एक प्रसिद्ध महावाक्य है) का अर्थ सत्यार्थ-प्रकाश, संस्करण तीसरे के १९५वें पृष्ठ की २६वीं पंक्ति में इस प्रकार करते हैं—

"अयमात्मा ब्रह्म" अर्थात् समाधि दशा में जब योगी को परमेश्वर प्रत्यक्ष होता है तब वह कहता है कि यह जो मेरे में व्यापक है वही ब्रह्म

---

*खण्ड १३, १४ के स्थान में ग्यारहवां देखो।

जागरितस्थानो बहिः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

प्रथम जागरित अवस्था है। इस अवस्था में ईश्वर बाह्य जगत् में व्यापक; ब्रह्माण्ड रूपी शरीर के सप्त अङ्गों में अविरत क्रिया और प्रतिक्रया कराता; विचार और परस्परान्वय के उन्नीस करणों को, जिनसे प्राणधारी

सर्वत्र व्यापक है।" (सं० १९६८ में स० प्र० का जो दशवां संस्करण छपा है. उसमें यह अवतरण पृष्ठ २०५ पर मिलेगा—अनुवादक।)

पाद्—सत्ता की अवस्था। यह पद् धातु से बना है जिसका अर्थ गति है।

३—सप्ताङ्ग—शरीर के सात अङ्ग ये हैं। (१) शिर, (२) आंख, (३) कान, (४) मुख, (५) प्राण, (६) हृदय, (७) पांव। इनकी कभी कभी कुछ भिन्न प्रकार से भी गणना होती है। स्पष्टीकरण इसके उपरान्त आयगा।

एकोनविंशतिमुखः—

विचार और परस्परान्वय के उन्नीस अन्तरीय करण। वे ये हैं—५ ज्ञान इन्द्रियां, अर्थात् कान, त्वचा, जिह्वा, नाक, और आंख; ५ कर्म्म इन्द्रियां, अर्थात् हाथ, पांव, उपस्थेन्द्रिय, गुदा, और वाणी; ५ प्राण या जीवनभूत वायुजन्य शक्तियां, अर्थात् "प्राण" जो श्वास लेने की क्रिया में वायु को बाहर से फेफड़ों में भेजना है; "अपान" जो भीतर से बाहर की ओर गति उत्पन्न करता है; "समान" जो हृदय में से रक्त को सारे शरीर में घुमाता है; "उदान" जिससे कण्ठस्थ अन्न पान खींचा जाता, और बल पराक्रम होता है; और "व्यान" जो शरीर के सारे अङ्गों में चेष्टा पैदा करता है। देखो सत्यार्थप्रकाश, पृष्ठ २४२, पंक्ति १५ से १८ तक। (जो सत्यार्थप्रकाश दशम वार सम्वत् १९६८ वि० में छपा है उसमें प्राणों का वर्णन पृष्ठ २५५ पर, पंक्ति ९ से १२ तक में है—अनुवादक); मनस् अर्थात् संकल्प और विकल्प की इन्द्रिय; "बुद्धि" अर्थात् विचार की इन्द्रिय; चित्त अर्थात् स्मृति की इन्द्रिय; अहङ्कार अर्थात् अभिमान और व्यक्तित्व की इन्द्रिय।

वैश्वानर का अनुवाद यहां वह ईश्वर "जोकि व्यापक है, अविरत क्रिया और प्रतिक्रिया कराता है, इन्द्रियों का यथोचित विधान स्थिर

स्थूल जगत् में उपभोगों की तलाश कर सकते हैं, यथोचित विधान स्थिर करता; और सृष्टि की भौतिक गतियों का ठीक ठीक क्रम और नियम के अनु-सार प्रबंध करता है ।

स्वप्नस्थानो ऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशति मुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

दूसरी चिन्तन अवस्था है । इस अवस्था में ईश्वर का ध्यान इस प्रकार किया जाता है कि वह अभ्यन्तर रचना में निवास करके रचना के सप्त अङ्गों का परस्पर सम्बंध नियत करता है, अथवा परस्परान्वय के उन्नीस करणों को अदृष्ट कार्य्यों के योग्य बनाता है, और इस प्रकार उन विभिन्न भागों को सुश्रृङ्खलित करता है जिनसे कि रचना बनी है, और जगत् का एक अदृश्य परन्तु अन्तरीय सावयवी शरीर रचता है ।

करता है, और सृष्टि की भौतिक गतियों का ठीक ठीक क्रम और नियम के अनुसार प्रबन्ध करता है" किया गया है ।

यास्क वैश्वानर के विषय में इस प्रकार कहते हैं—

वैश्वानरः कस्माद्विश्वान् नरान् नयति विश्व एवं नरा नयन्तीति वापि वा विश्वानर एव स्यात्प्रत्यृतः सर्वाणि भूतानि ॥ निरुक्त, ७, २१ ।

अर्थात् वैश्वानर वह है जो सर्व जीवों का नियन्ता और अधिष्ठाता है, जिस की ओर सब जीव जारहे हैं, या जो स्वयम् विश्वानर है अर्थात् जो कि सब में व्यापक होकर उनको चला रहा है ।

४—स्वप्न स्थानः—का अनुवाद हमने "चिन्तन अवस्था" किया है, क्योंकि स्वप्न में केवल मन की ही क्रिया होती है, वह वस्तु और उसकी चिन्ता में भेद नहीं करता । इसलिए मन के सामने केवल उसकी चिन्ताएँ ही वस्तुओं के रूप में विद्यमान होती हैं । इसी कारण स्वप्नावस्था का अनुवाद चिन्तनावस्था किया गया है ।

अगले वाक्य में जो तैजस और प्राज्ञ शब्द आये हैं उनके विषय में यास्क मुनि कहते हैं—

प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्चेत्यात्मगतिमाचष्टे । निरुक्त १२ । ३७ ॥

प्राज्ञ और तैजस शब्द आत्मा के अस्तित्व की दो अवस्थाओं को प्रकट करते हैं ।

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जब मनुष्य का मन सर्व स्वेच्छाधीन क्रियाओं को छोड़कर गाढ़ निद्रा को प्राप्त होता है और इच्छा, वासना, और स्वप्नों से रहित होता है तब वह सुषुप्ति में होता है । तीसरी अवस्था सुषुप्ति की अवस्था है । इस में, मनुष्य की आत्मा के सदृश जो कि सुषुप्ति अवस्था में अपने आप में निमग्न होती है, ईश्वर का ध्यान इस प्रकार किया जाता है कि वह स्वयम, सर्व भावों और नियमों की मूर्ति, पूर्ण आनन्दमय, केवल आनन्द ही का भोक्ता, परम विज्ञानमय, और केवल अपनी चेतनता में ही प्रत्यक्ष है ।

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्य्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

वह सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी, अन्तरीय जीवन का नियन्ता है । उसी से सब कुछ निकला है, और वही सब भूतों का मूल तथा आश्रय है ।

नान्तःप्रज्ञं न बहिःप्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्य्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यम-व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥७॥

न तो उसे आभ्यन्तरिक चित्र का चित्रकार, न सर्व बाह्य जगत् में व्यापक, न इन दो के बीच की अस्थिर अवस्था में; न ज्ञानस्वरूप, न इच्छामय

७—प्रपञ्च अर्थात् दृश्यमान् जगत् । यह पचि धातु पचि व्यक्तिकरणे या पचि विस्तारवचने से बना है । पचि का अर्थ है इन्द्रियगोचर बनाना या सर्वांश में विकसित करना ।

उभयतः प्रज्ञं उस अवस्था को कहते हैं जोकि जागृत और स्वप्न के बीच होती है । नोभयतः प्रज्ञं शब्द या जैसा कि शङ्कर कहते हैं "अन्तरालावस्था प्रतिषेधः" यह दिखलाने के लिये रक्खा गया है कि यहां हम दोनों के मध्य की अवस्था को भी निकाल देते हैं ।

चेतनता से परिपूर्ण, न चेतनता से रहित मान कर उसका चिन्तन करो । किन्तु उसे अदृश्य, अकाय, अगम्य, लक्षण रहित, अचिन्तनीय, अज्ञेय, अपने में केवल अपने को ही जानने वाला अर्थात् एक आत्मा, अद्वितीय, सर्व प्रपञ्चों से रहित, पूर्ण शान्त, आनन्दमय, एक और केवल एक समझकर उसका ध्यान करो । यही चौथी या शुद्ध अवस्था है । यही सर्वान्तरात्मा है । इसको अवश्य साक्षात् करना चाहिए ।

सो ऽयमात्मा ऽध्यक्षरमोङ्कारो ऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

ओम् उस सनातन, सर्वव्यापक, सर्वान्तरात्मा का सब से पवित्र नाम है । इस आत्मा के अस्तित्व की अवस्थायें ठीक तौर पर अ, उ, और म् मात्राओं से प्रकट की गई हैं । इन्हीं मात्राओं से एकाक्षर ओम् बना है ।

जागरितस्थानो वैश्वानरो ऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान् कामानादिश्च भवति य एवं वेद॥९॥

पहली मात्रा, अकार, का अर्थ जागरित अवस्था या बाह्य जगत् में ईश्वर की व्याप्ति है; क्योंकि 'अ' का अर्थ है वह जो सर्वत्र व्यापक और प्रथमारम्भ में जाना जाता है । जो मनुष्य ईश्वर की इस अवस्था को साक्षात् कर लेता है उसकी वासना पूर्ण रूप से तृप्त हो जाती है, और मानों उसने पहला पग रख दिया है ।

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्या-

---

८—मात्रा शब्द का अर्थ यहां वह वस्तु दिया गया है जो दूसरी वस्तु के मूल्य को निरूपित या प्रकट करती है । देखो उणादिकोष ४ । १६८—ग्रामाभिमिभ्यष्ट्रन् या मातीति मात्रा मानं वा ।अर्थात् मात्रा वह है जो मापती; या मूल्य का निरुपण करती है । इसलिए "प्रकट करती है" अर्थ हुआ ।

९—यहाँ मात्रा अ अप् धातु (आप्लृ व्याप्तौ) से जिस का अर्थ व्यापक होना है बनी हुई या आदि का संक्षिप्त रूप (जिस का शब्दार्थ पहला पग है) दिखलाई गई है । इसलिए इस का अर्थ वह पुरुष जिस ने पहला ही पग रखा है या उत्साही आरम्भक हुआ ।

ब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥१०॥

दूसरी मात्रा 'उ' के अर्थ चिन्तनीय अवस्था अथवा अन्तरीय रचना चित्र में ईश्वर का निमग्न होना है । क्योंकि उ के अर्थ आलेखक और कार्य्य को पूरा करने वाला दोनों हैं । ईश्वरीय सत्ता की इस अवस्था का अनुभव करने वाला ज्ञान लाभ करता और सब प्रकार से उन्नत होजाता है । उस के कुल में कभी कोई ऐसी सन्तान उत्पन्न नहीं होती जो ब्रह्म ज्ञान की अपेक्षा करे ।

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदꣳसर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥११॥

११—तीसरी मात्रा "म" का अर्थ सुषुप्ति अवस्था या ईश्वर को उस के अपने स्वरूप में देखना है । क्योंकि म का अर्थ सब को मापने वाला या सब का आश्रय है । जो ईश्वर की इस अवस्था का अनुभव करलेता है वह जगत् के सारे ज्ञान को माप लेता (प्राप्त होना) और परमेश्वर में विश्राम करता है ।

अमात्रश्चतुर्थो ऽव्यवहार्य्यः प्रपंचोपशमः शिवो ऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद य एवं वेद ॥ १२ ॥

१२—चौथी कोई मात्रा नहीं क्योंकि यह अगम्य, अद्वितीय, सर्व प्रपंच रहित को प्रकट करती है । जो इस सत्य आत्मा, ओंकार को साक्षात् कर लेता है वह अपने आत्मा का उल्लङ्घन करके अपने आत्मा के नियन्ता, ईश्वर, को पालेता अर्थात् मोक्ष को प्राप्त होजाता है ।

१०—यहाँ "उ" "उत्कर्ष" या "उभय" से उत्पन्न हुआ है उत्कर्ष कृष से बना है जिस का अर्थ बाहरेखा खैंचना या चिन्ह लगाना है अतएव इस का अर्थ चित्र बनाना हुआ । उभय का अर्थ "दोनों" है ।

११—"सब को मापने वाला" अर्थात् जिसकी अनन्त शक्ति के सामने विश्व ब्रह्माण्ड की रचना केवल परिमित और परिमेय है ।

व्याख्यानम् ।

उपासना सत्य धर्म्म का प्रथमाङ्ग है। यह आन्तरिक भावों की स्वाभाविक घोषणा है। इस में और देवमंदिरों की झूटी उपासना में भेद है। देवमँदिरों में प्रत्येक कार्य्य स्वाभाविक होने के स्थान में पहले ही से स्थिर किया होता है। वहाँ हार्दिक भावों की सरल घोषणा के स्थान में शब्द-पाण्डित्य और अलङ्कारों का प्रवाह बहाया जाता है। वहाँ आन्तरिक मनोभावों के स्वतंत्र प्रकाश के स्थान में कृत्रिम गम्भीरता का झूठा दिखलावा किया जाता है। यह सच्ची उपासना नहीं। इस के विपरीत सच्ची उपासना वह है जो अकृत्रिम भाव, अगाध आकर्षण, और आत्मा को निमग्न करने वाले ध्यान से पूर्णतया भरी हो। सच्ची उपासना, जोकि सत्य धर्म्म का फल है, मनुष्य-प्रकृति के रोम रोम में रम रही है।

मानव-आत्मा की तहों के अन्दर सर्व धर्म्म का बीज लपेटा हुआ रखा है। प्रत्येक मनुष्य को आध्यात्मिक स्वभाव मिला है। यह स्वभाव उसे प्रत्येक शुद्ध, पवित्र, श्रेष्ठ, और मनोहर पदार्थ की ओर उठाता है। जीवन की पवित्रता, हार्दिक भावों की शुद्धि, विचार की उच्चता, और सच्चरित्रता हमारे अन्दर न केवल आदर, सम्मान, स्तुति वा पूजा के यथायोग्य भाव भर देते हैं प्रत्युत हमारी आकाँक्षायें न्यायकारी, सत्य, अनन्त, और दिव्य की ओर जाने के लिए अत्यंत उच्च अवस्था को प्राप्त हो जाती हैं। हमारे आध्यात्मिक स्वभाव का यही अङ्ग सर्व धर्म्म का मूल है। यही हमारे अन्दर उन सब बातों के लिए जो कि हमारे मनोभावों को उच्च और उत्कृष्ट बनाती हैं आदर का भाव, और उन सब बातों के लिए जिन से हमारी उन्नति और ज्ञानवृद्धि हुई है नम्र कृतज्ञता का भाव उत्पन्न करता है।

मानव मन के अन्यभावों के समान धर्म्म-भावों का भी दुरुपयोग हो सकता है। वे भी अपने उपयोग में बिगाड़े जा सकते हैं। धर्म्म-भाव अत्यन्त उत्तेजना पाकर एक सादा सी सचाई के विषय में अत्युक्ति कर सकता है, या उसका बहुत रङ्गीन शब्दों में वर्णन कर सकता है। या किसी कर्म की पवित्रता को मर्यादा से अधिक बढ़ाकर दिखा सकता है। या जहां तर्क की राजेश्वरी शक्ति अभी विकास को प्राप्त नहीं हुई, या बहुत निर्बल है, वहां यह अत्यन्त पूजा बढ़कर मूर्तिपूजन या मूढ़विश्वास मूलक सम्मान का रूप धारण

कर सकती है। या इसके विपरीत जहां शुद्ध अनुभव या आन्तरिक सूक्ष्मबुद्धि के अभाव में तर्क शक्तियां बहुत उग्र परन्तु विवेचन शक्तियां अपेक्षाकृत मँद हैं, वहां इसके कारण प्रकृति में संशय, नास्तिकता, या अवज्ञा जड़ पकड़ लेती है। परन्तु उन्नति का अनुभव या विशुद्ध स्वतंत्रता का आनन्द ठीक उतना ही प्राप्त होगा जितना कि इस शक्ति से स्वाभाविक तौर पर काम लिया जाएगा। मनुष्य प्रायः अपनी अविद्या के कारण झूठे देव की उपासना करता है। सृष्टि के नियन्ता के स्थान में वह अपने कल्पित देव, लोकाचार के देव, लोक अनुमोदित देव, या अपने भावों और अतृप्त वासनाओं के देव का पूजन करने लगता है। और इसका परिणाम क्या है ? मूढ़विश्वास, अधार्मिकता, अन्याय, और क्रूरता का जीवन। इसलिए उपासना की सच्ची विधि की, हां ऐसी विधि की भारी आवश्यकता है जो कि मिथ्या धर्म्म-शिक्षा या प्रचलित लौकिक रीति द्वारा प्रतिपादित न हो प्रत्युत आध्यात्मिक स्वभाव और तर्क की अतीव गम्भीर सूक्ष्मबुद्धि के अनुकूल हो। उपासना की ऐसी ही विधि का माण्डूक्योपनिषद् में वर्णन है।

यह केवल परब्रह्म की, जो कि सनातन, सर्वव्यापक, और सृष्टि का परम आत्मा है, उपासना सिखलाती है। क्योंकि परमात्मा के ज्ञान, अनुभव और सच्ची भावना के बिना मन की उमड़ी हुई, प्रमुदित, और आनन्दमयी अवस्था के, जिस का दूसरा नाम उपासना है, अनुकूल और क्या वस्तु हो सकती है ? केवल सनातन परमात्मा की उपासना का ही उपनिषदों में उपदेश है, इस सनातन परमेश्वर का नाम सब कहीं ओंकार है।

कठोपनिषद् की वल्ली २, मंत्र १५ में यों लिखा है—

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपांसि सर्वाणि च यद्वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्य्यंचरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण ब्रवीम्योमित्येतत्॥

जिस परब्रह्म के परमपद को प्राप्त करने की शिक्षा सब वेद करते हैं, और जिस को पाने के लिए तप और जिस को मिलने की इच्छा से ब्रह्मचर्य्य किया जाता है उस (पद) को मैं तुझे संक्षेप से बताता हूँ। वह ओम् है। या छान्दोग्योपनिषद् के शब्दों में "ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।" ओम् सनातन, सर्वव्यापक सत्ता है। केवल उसी की उपासना करनी चाहिए। मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक, खण्ड २, मंत्र ५, ६ में इस से भी स्पष्ट लिखा है—

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः॥५॥

अरा इव रथनाभौ संहिता यत्र नाड्यः स एषो ऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ॥६॥

अर्थात् वह जोकि अन्तरीय और अदृश्य रीति से सूर्य्य, पृथिवी और अन्तरिक्ष को उनके अपने अपने स्थानों में धारण करता है, और जो प्राण, मस्तिष्क, फेफड़ों, और सर्व विविध इन्द्रियों का पोषण करता है वही अद्वितीय सर्वान्तरात्मा है। हे मनुष्यों! सब बखेड़ों को छोड़ कर केवल उसी एक को जानने का यत्न करो, क्योंकि मोक्ष को प्राप्त कराने वाला वही एक सूत्र है। ५। जिस प्रकार चक्र (पय्ये) के आरे नाभि अर्थात् केन्द्र में आकर मिलते हैं, ठीक उसी प्रकार हृदय में सर्व रक्तवाहिनी नाड़ियाँ आकर मिलती हैं। इसी हृदय में अन्तरीय रीति से शासन करने वाली दिव्य अन्तरात्मा निवास करती है और अपनी महिमा अनेक प्रकार से प्रकट कर रही है। उस आन्तरिक रीति से शासन करने वाली अन्तरात्मा ओम् का ध्यान धरो, क्योंकि केवल इस प्रकार ही तुम इस जीवन रूपी क्षुब्ध सागर के अविद्याजन्य दुःखों को बहुत पीछे छोड़कर निर्विघ्नतापूर्वक आनन्द धाम में पहुँच सकोगे। ६।

तब ओम् का चिन्तन क्या है? उस की उपासना की रीति क्या है? इस प्रश्न का उत्तर योगदर्शन १। १। २७—२८ में इस प्रकार दिया गया है—

तस्य वाचकः प्रणवः। तज्जपस्तदर्थभावनम् ॥

सृष्टि के नियन्ता, परब्रह्म, का सर्वश्रेष्ठ नाम ओम् है। उसके नाम का जप करना, और उसके गूढ़ अभिप्राय का नित्य मन में चिन्तन करना, ध्यान की इस दो प्रकार की विधि को उपासना कहते हैं। व्यास जी इन दो सूत्रों की व्याख्या करते हुए लिखते हैं—

"ओं शब्द सृष्टि के नियन्ता को प्रकट करता है। क्या यह केवल स्वच्छन्द मनुष्यकृत रीति से प्रकट करता है, या किसी स्वाभाविक रीति से, जैसाकि दीपक का प्रकाश दीपक को या सूर्य्य का प्रकाश अपने स्रोत सूर्य्य को प्रकट करता है? निस्सन्देह चिह्न 'ओम' और जिस का यह चिह्न है इन दोनों का सम्बन्ध कृत्रिम नहीं प्रत्युत वास्तविक है और यह चिह्न केवल वास्तविक सम्बन्ध को प्रकट करता है। उसी प्रकार का एक उदाहरण लीजिए। पिता और पुत्र का सम्बन्ध वास्तविक है। यह प्रकट करने के पहले भी कि यह पिता है और वह पुत्र है, उनका परस्पर सम्बन्ध वस्तुतः विद्यमान् होता है। क्योंकि शब्द, अर्थ और उनका परस्पर सम्बन्ध स्वाभाविक है न कि कृत्रिम या कल्पित, इसलिए भविष्यत् युगों में भी यही चिह्न 'ओं' वही अर्थ देगा। कारण यह कि ईश्वरीय ज्ञान के जानने वाले अर्थात् वे योगी जिन्हों

ने साक्षात् कर लिया है कि वाचक शब्द और वाच्य अर्थ में परस्पर सम्बन्ध क्या है वे इसे एक निश्चित सत्य मानते हैं कि शब्द, उनके अर्थ, और उनका पारस्परिक सम्बन्ध मनुष्य की घड़न्त नहीं प्रत्युत नित्य है, अर्थात् प्रकृति में विद्यमान् है* ।

"ओम् का जप करना और मन में उसके अर्थों का नित्य ध्यान करना यह उसकी उपासना की दो विधियां हैं । वह योगी जो सदा इन दोनों विधियों को करता है उसको मानसिक एकाग्रता प्राप्त होजाती है, और, जैसा कि अन्यत्र कह चुके हैं, पूर्वोक्त जप और ध्यान से मन एकाग्र होजाता है, और मन की एकाग्रता से साक्षात्कार सुगम होजाता है यहां तक कि दोनों की निरन्तर क्रिया और प्रतिक्रिया से महेश्वर का तेज पूर्ण रूप से योगी के हृदय में चमकने लगता है ।"—व्यासभाष्य, सूत्र २७ और २८ ।

ओं का जप और मन में उसके अर्थ का नित्य ध्यान धरना ये दो ईश्वरीय उपासना के मूलतत्व मानकर यह जानना अत्यन्त आवश्यक होजाता है कि एकाक्षर ओं का अर्थ क्या है, क्योंकि जप ध्यान करने का केवल एक आरम्भिक साधन है । हम ने केवल यही कहा है कि ओं सनातन, सर्वव्यापक आत्मा है । यह साधारण लक्षण मात्र है । परन्तु हमें अभी इस अक्षर के सविस्तर आशय का कोई निश्चित ज्ञान नहीं । परन्तु यह परम प्रसिद्ध बात है कि सारे वैदिक साहित्य में ओं के बराबर पवित्र और कोई भी शब्द नहीं । यह वेदों का सार. और परब्रह्म का सब से महान्, उत्कृष्ट, और प्रिय नाम माना जाता है, और उपासना के विशेष रूप से योग्य है । ओम् शब्द का पहले उच्चारण किये विना कोई भी वेदमन्त्र कभी पढ़ा नहीं जाता । यह केवल इसलिए नहीं कि ओं शब्द अतीव कोमल, सुरीला, और सुगमता से बोला जा सकता है, न केवल इसलिए कि वे मात्रायें जिन से यह ओं शब्द बना है उस दूध पीते बालक के मुख से, विना किसी प्रकार की शिक्षा के. अपने आप निकल जाती हैं, जो कि अभी ऊँ ओं ही करने लगा है, प्रत्युत इसलिए कि उसके अर्थों में कोई वस्तु अधिक गूढ, प्रिय, और दिव्य है । यह सत्य है कि

* उन्नीसवीं शताब्दि के संशयात्मक-प्रकृति वाले पाठकों की समझ में यह बात अधिक सुगमता से आजायगी यदि यह मेक्समूलर साहब के शब्दों में (जोकि अधिक अनिश्चित होने से हमारे लिए कम ग्राह्य हैं) बयान की जाय । मेक्समूलर कहते हैं "वे (धातु) शब्द-चिन्ह हैं और मानव-प्रकृति की सहज शक्ति से उत्पन्न हुए हैं। अफलातूं के कथनानुसार वे स्वाभाविक हैं, यद्यपि अफलातूं के कथन के साथ हमें यह और जोड़ देना चाहिए कि स्वाभाविक होने से हमारा अभिप्राय "ईश्वर के हाथ से बने" है । देखो, Lectures on the Science of Language 4th Edition, London Page 402.

जहां परमेश्वर के दूसरे नाम साँसारिक पदार्थों के भी नाम हैं (यथा संस्कृत में ईश्वर नियन्ता का भी नाम है, यहां तक कि ब्रह्म सर्वव्यापक आकाश और वेदों का भी नाम है, अग्नि भौतिक आग का भी नाम है और ईश्वर का भी, इत्यादि) वहां ओम् केवल सनातन, सर्वव्यापक, विश्वात्मा का ही नाम है। यह युक्ति तो उसके निश्चित और परिमित अर्थों के लिए होसकती है परन्तु उस अतीव उच्च महत्व के लिए जो कि उसके साथ लगाया जाता है यह कोई युक्ति नहीं। यह भी सत्य है कि संस्कृत के किसी अन्य ईश्वर-वाचक शब्द की अपेक्षा ओं के अर्थ अधिक व्यापक हैं, या दूसरे शब्दों में परमेश्वर के जितने गुणों का इस एक अक्षर से बोध होता है उतना किसी और अकेले शब्द या अक्षर से नहीं होता। परन्तु यह भी गौण बात है। सब से गूढ़ और वास्तव में सब से भारी युक्ति यह है कि ओम् का अर्थ परमेश्वर के साक्षात् करने का मूल साधन है। ओं अक्षर के वर्ण ध्यान के उस अनुक्रमिक पादों को अनुपम शुद्धता के साथ प्रकट करते हैं जिन से कि मनुष्य ईश्वर के यथार्थ स्वरूप के साक्षात् करने के लिए प्रस्तुत होता है।

ईश्वर के इस साक्षात् करण की विधि उस विधि से सर्वथा विपरीत है जिस से कि मन बाह्य जगत् में कार्य्य करता है। यदि पिछली को बाह्य वृत्ति कहें अर्थात् मन की आन्तरिक शक्तियों को इतना फैलाना कि वे बाह्य जगत् में प्रकट होजायँ, तो पूर्वोक्त को अन्तर्वृत्ति कह सकते हैं अर्थात् मन का अपने आप में लय होजाना यहां तक कि वे शक्तियां जो बाह्य स्थूल जगत् पर कार्य्य कर रही थीं बाहर से हट कर अधिक अन्तरीय कार्य्य के लिए भीतर आ जावें। एक परिचित दृष्टान्त लीजिये। जब एक धनुर्धर लक्ष्य पर बाण मारता है तो वह अपने ध्यान को भीतर से बाहर की ओर लेजाता है। वह अपनी आंख को लक्ष्य की ओर बाण के साथ एक ही सीधी रेखा में लगाकर धनुष को फैलाता और तीर को छोड़ देता है। इसी प्रकार मन बाह्य वस्तुओं में क्रिया करता है। भीतर की ओर लेजाने और ईश्वर का चिन्तन करने के लिए, वह मनुष्य अपनी इन्द्रियों को उनके बाह्य विषय से हटा लेता है, और मन की बाह्य चेष्टा के बन्द होजाने पर, वह ध्यान के उत्तरोत्तर पादों में से, जो कि ओम् अक्षर की मात्राओं में संयुक्त हैं, परमात्मा की अधिक अन्तरीय, और, इस लिए, अधिक पूर्ण सिद्धि के मार्ग में जाता है।

इसके पूर्व कि हम उन अनेक वर्णों की व्याख्या आरम्भ करें जिन से कि ओम् शब्द बना है मन की चेष्टा के आविष्कार की चार अवस्थाओं का स्थूल रीति से वर्णन कर देना उपयोगी होगा। परब्रह्म एक आत्मा है और इस

आत्मा को साक्षात् करने के लिए हम को उसकी बाह्य अभिव्यक्तियों से उत्तरोत्तर अन्तरीय और अधिक अन्तरीय अभिव्यक्तियों की ओर जाना है यहां तक आदि कारण, आत्मा, मिल जाय। कदाचित् मानवीय आत्मा की क्रिया के दृष्टान्त से इस बात के समझने में आसानी हो जायगी। परन्तु यह स्मरण रहे कि दृष्टान्त चाहे कैसा ही उत्तम क्यों न हो फिर भी यह दृष्टान्त ही है, ठीक आनुरूप्य नहीं।

आओ हम घड़ी बनाने वाले का उदाहरण लें। उस ने घड़ी को बनाया है और जो नियम घड़ी में मिलाये गए हैं वे अपना ठीक ठीक कार्य कर रहे हैं। कमानी, तुला, चक्र, और कला के अन्य भाग सब अपने अपने यथार्थ व्यापार कर रहे हैं। घण्टों और मिनटों की सूइयाँ नियमपूर्वक चल रही हैं। वास्तव में घड़ी बनाने वाले की न केवल निपुणता, चतुराई, और कार्यसाधक-शक्ति ही घड़ी में संयुक्त और उस पर अंकित है प्रत्युत वे सब भौतिक शक्तियाँ और शिल्पिक नियम जो कि घड़ी बनाने वाले के अधीन थे वस्तुतः घड़ी में विद्यमान हैं और नियत भागों की ठीक ठीक और नियमित गति से प्रकट हो रहे हैं। घड़ी बनाने वाले की निपुणता की यह पहली, सब से बाहरी, और सब से प्रत्यक्ष अभिव्यक्ति है। इस प्रकार आत्मा प्रकृति पर बाहर से अपनी छाप लगाता है। इसी को अनुवाद भाग में "जागृत अवस्था" या आत्मा की सत्ता की बाह्य पदार्थों में प्रतीति कहा गया है।

दूसरे, संसार में पहले ही पहले जो मनुष्य घड़ी बनाने बैठा होगा उस ने घड़ी बनाने के पहले अपनी कल्पना में घड़ी का चित्र बना लिया होगा। उसे अवश्य ही पहले से लचक के नियम और उसकी कालसमता का ज्ञान होगा। वह जानता होगा कि घड़ी के पैय्यों और दन्दानेदार चक्रों की गतियों के संचालन का क्या नियम है। वह निःसरण (Escapement) के सिद्धान्त से परिचित होगा। साथ ही वह फ़ूलाद, लोहे, पीतल, और रत्नों आदि के रगड़, लचक, और अन्य विशेष गुणों को जानता होगा। और उसने निश्चय ही अतीव धैर्य्य के साथ शनैः शनैः इन सब नियमों के उपयोग की युक्ति तैयार की होगी जिस से इन सब के संघात से एक विशेष उद्देश सिद्ध हो सके। उसने कई विन्यासों की उत्तमता और न्यूनता पर विचार किया होगा और उन में से एक प्रबंध को दूसरे से उत्तम समझकर अङ्गीकार किया होगा। यहाँ तक कि उसने घड़ी बनाने की एक पूर्ण युक्ति अपनी कल्पना में निश्चित कर ली होगी। उसने अपनी कल्पित घड़ी मन ही मन में देखी होगी कि धीरे धीरे चलती हुई अन्त को ठहर जाती है और दुबारा चलने के लिए उसे

चाभी देने की आवश्यकता होती है । सारांश यह कि घड़ी बनने वाले ने अपनी विद्या के मिश्रित कोषागार से जानकारी की प्रयोजनीय बातें निकाल ली होंगी; उनका यथार्थ रीति से उपयोग किया होगा, और कुछ काल तक वह अपने बनाए हुए रचना-चित्र में निमग्न रहा होगा । इस के उपरान्त ही वह वस्तुतः घड़ी बनाने में प्रवृत्त हो सका होगा । इसी को "चिन्तन या स्वप्न अवस्था" अर्थात् आत्म सत्ता की चित्र रचने वाली अवस्था कहते हैं ।

तथापि इतना ही नहीं । एक समय था जबकि इस रचना-चित्र की कोई कल्पना या चिन्ह घड़ीकर्त्ता के मन में विद्यमान् न था । उसका मन एक ऐसी मिश्रित जानकारी का एक कोषागार था, जिसकी कि सुव्यवस्था या उपयोग न हुआ था । उसका ज्ञान केवल उन नियमों तक ही परिमित न था जिन को कि उसने घड़ी में इकट्ठा किया था । कदाचित् वह नक्षत्रविद्या, पदार्थविज्ञान, मनोविज्ञान, गणित, सौन्दर्यविज्ञान, रसायन शास्त्र, वैद्यक, और निदान शास्त्र भी जानता हो । उसकी विद्या का केवल एक तुच्छ भाग प्रकाशित और उपयुक्त हुआ था । उस विद्या के मुकाबले में जोकि वस्तुतः उप-योगी बनाई गयी उस की सारी विद्या एक विश्वकोश के समान थी । और फिर भी क्या उसे सर्वकाल में उस बृहत् विद्या का अभिज्ञान था जोकि नित्य उस के संग रहती थी ? निस्सन्देह बिलकुल नहीं ! उज्ज्वल स्मृति या व्यावहारिक आवश्यकता की घड़ियों में उस के संग्रहीत अनुभव के केवल कुछ भाग ही उद्भासित हुए और उसके मानसिक नेत्रों के सामने पंक्तिबद्ध होकर चेतन मंडल में आये । परन्तु उस के प्रत्यक्ष ज्ञान का एक बड़ा भाग अभी तक भी ठोस, घनीभूत, और छिलके के भीतर बन्द वस्तु के टुकड़ों के सदृश उसके मस्तिष्क या ज्ञानाशय की सुप्त, शान्त, और नीरव कोठड़ियों में गुप्त संस्कारों के रूप में सो रहा था । वह इच्छानुसार बुलाया या बाहर निकाला जा सकता था । वह उस के मन का अदृश्य अतिथि था और बहुत करके पीछे हटकर रहता था । उसको एकदम पहचानना कठिन था, क्योंकि वह स्मृति की कोठड़ियों पर लटकने वाले विस्मृति के उत्कृष्ट और तमोमय आवरण में छिपा था । इस दशा को सुषुप्ति अवस्था या आत्म सत्ता का निर्व्यापार रूप कहा गया है ।

जागरित अवस्था से परे अर्थात् मन की क्रियावान् अभिव्यक्तियों से परे जोकि भौतिक पदार्थों और दृश्य-चमत्कारों में, जादू की लालटैन से

निकल कर आदेशक परदे पर पड़ने वाले ऐंद्रजालिक आलोक के समान, प्रकाशित हो रही हैं: स्वप्न अवस्था से परे या मानसिक चेष्टाओं के प्रबल प्रपंच से परे, जिन में कि मन कभी भावों के एक समूह का और कभी दूसरे का सूक्ष्म निरीक्षण और कभी उनका निर्वाचन और कभी व्यवस्थापन करता है, यहाँ तक कि, जैसाकि स्वप्न में होता है, विचित्र रँगों से बना हुआ एक ऐसा चमकीला भड़कीला चित्र मन के सामने आ उपस्थित होता है कि वैसा पहले कभी कल्पना में भी न आया था: सुषुप्ति अवस्था से परे, या मानसिक क्षमताओं के निष्क्रिय विश्राम के परे जोकि स्पर्शादि इन्द्रियजन्य-क्रिया से पूरित, और प्रतिक्रिया के सर्वव्यापक नियम से अलंघनीय विश्राम में रहने के लिए बाधित है—इन के परे और इन के पीछे, इन दृश्यमान क्रियाओं और निष्क्रिय रूपान्तरों से बहुत बहुत दूर परे, सत्ता, तत्व, सार आत्मा, स्वयं घड़ीकर्ता निवास करता है। इसी का नाम आत्म सत्ता का "यथार्थ स्वरूप" है।

आओ हम आत्म-सत्ता की चार अवस्थाओं अर्थात् जागृत, स्वप्न, सुषुप्ति, और तुरीय को भली भाँति समझ लें। मनुष्य अपने जीवन में अपनी आत्म-सत्ता की यह अवस्थायें प्रतिदिन दुहराता है। जब दिन का प्रकाश चारों ओर फैल जाता है और मनुष्य का आत्मा पूर्ण रूप से जाग उठता है, और आँख रङ्गों को देखती, कान शब्दों को सुनता, नाक वाष्पों को सूङ्घता, जीभ रसों को चखती और शरीर ठोस पदार्थों को स्पर्श करता है, उस समय वह भौतिक पदार्थों में लिप्त हो रहा है। यह जागरित अवस्था है। जब अन्धकार छा जाता है, और दिन का प्रकाश नष्ट होजाता है, और जब दिन भर का थका मांदा किसान घर का रास्ता लेता है, या जब कदाचित् ज्ञानशून्य मज़दूर अपने श्रम की थकावट को मदिरा का प्याला पीकर दूर करने का यत्न करता है—उस समय कारोबारी संसार आराम करता है, और उसी प्रकार हमारा आदर्श-मनुष्य आराम करता है। वह अपने पलङ्ग पर पैर सीधे पसार कर लेट जाता है। उसकी आँखों के पलक बंद होजाते हैं मानों उन पर कोई भारी बोझ आ पड़ा हो, और धीरे धीरे अवशेष इन्द्रियाँ विश्राम करने लगती हैं, और हमारा आदर्श-मनुष्य सो जाता है। कदाचित् वह स्वप्न देख रहा है। मान लीजिए कि वह विद्यार्थी है। उसके विद्यालय की ठोस दीवारें वास्तव में उस की दृष्टि से लुप्त हो गई हैं क्योंकि वह जाग नहीं रहा है। उस के पास न कोई पोथी है और न कोई सहपाठी या सखा। वह अकेला ही अपनी खाट पर लेटा हुआ है। फिर भी वह स्वप्न देख रहा है। परीक्षा भवन उसके सामने चित्रित है। उस में विद्यार्थियों की एक बड़ी संख्या विद्यमान है। वह स्वयं भी उन में

बैठा है। एक परचा आज, एक कल और एक परसों बाँटा गया है [सब स्वप्न में ही] परीक्षा-फल की बड़ी व्यग्रता से प्रतीक्षा करता हुआ वह घर लौटता है। लीजिए! किसी समाचार पत्र का एक लेख या किसी मित्र का एक तार उसे सफलता का आनन्द समाचार, या, कदाचित्, उसकी विफलता की खबर लाता है। स्वप्न के रहस्य अद्भुत हैं। यह स्वप्न अवस्था के सदृश हैं। स्वप्न के शीघ्र ही पश्चात्, या स्वप्न रहित होकर, उसे गाढ़ निद्रा आ जाती है। वह जीती जागती वाणी और वह क्रियावान मस्तिष्क कहाँ हैं ? वे स्वप्नमय असार चित्र कहाँ हैं ? क्या वे अंतर्धान होगये, या शून्यत्व को प्राप्त होगए, या विनष्ट हो गए ? यद्यपि वे शरीर में अदृश्य रूप से स्थित हैं फिर भी उन के प्रकट होने की सम्भावना है। उस सम्भावना को इस समय जमी हुई और मूर्तिमान् समझना चाहिए। यह सुषुप्ति अवस्था है। जीवन की तरङ्ग कैसे प्रचंड वेग से बहती है। जागृत चेष्टा के दिन और घबराहट या गाढ़ निद्रा की रातें बराबर गुज़रती चली जाती हैं। तथापि इन परिणामी दृश्यों और परिवर्तनशील अभिव्यक्तियों के बीच मनुष्य एक प्रकार की स्वतंत्रता, या अपना कूटस्थ स्वरूप बनाये रखता है क्योंकि वह यथार्थ सत्ता है जिस को कि उपर्युक्त अवस्थायें लिप्त नहीं करतीं।

प्रिय पाठक! सन्देह न कीजिए, आत्मा इन्हीं चार अवस्थाओं में विद्यमान् है। जागृत अवस्था सब से बाह्य, स्वप्नावस्था अधिक अन्तरीय, और सुषुप्ति उस से भी अधिक अभ्यन्तर है, यहां तक कि हम सब से अन्तरीय तत्व, अर्थात् शुद्ध आत्मा, के पास जा पहुँचते हैं। इसी प्रकार ईश्वरीय आत्मा जो कि इस से कहीं बढ़कर दिव्य, पवित्र और अनन्त है, प्रज्ञानघन अर्थात् नियमों की मूर्ति है, और सारे बाह्य जगत् को जीवन, चेष्टा और आकार प्रदान करता है। ईश्वर की प्रथम झलक जो शुष्क वैज्ञानिक मन को देख पड़ती है वह अत्यन्त बाह्य प्रकार की है, वास्तव में यह भौतिक गतियों के परस्पर संयोजन, उनकी नियमपरता, सामंजस्य, एकरूपता, और वैसे ही अन्य लक्षणों से उत्पन्न होती है जो कि यह जगत् कार्य्यों-के-अध्ययन-में-निपुण मनुष्य को दिखलाता है। मन को इनका भली प्रकार ज्ञान होजाने के उपरान्त उसे सृष्टि की अन्तरीय रचना का दार्शनिक अनुभव प्राप्त होता है। इस अनुभव के द्वारा मन उच्चतर अवस्थाओं तक पहुँचता है यहां तक कि रचना ईश्वर की स्वाभाविक और प्राकृतिक प्रवृत्तियों का, जिन्हें नियम कहते हैं, फल प्रतीत होती है। इन नियमों को आधार मानकर चिन्तन करने से मन सर्व नियमों के स्रोत की ओर उड़ता है जो कि यथार्थ परमात्मा है और जिस एक में कि सब कुछ प्रतिष्ठित है।

ये वह क्रमिक पाद हैं जिन के द्वारा मनुष्य सनातन, सर्वव्यापक परमात्मा का ध्यान करने के योग्य होता है। एकाक्षर ओं जो कि अ, उ, और म् इन तीन वर्णों का बना है उस ध्यान का साधन बनाया जाता है। क्योंकि अ जागृत अवस्था को, उ स्वप्न को, और म् सुषुप्ति को केवल स्मरण रखने के लिए कल्पित चिन्हों के तौर पर ही नहीं किन्तु अपने अन्तर्निरूढ़ अर्थों के कारण प्रकट करता है। इसलिए सच्चा उपासक ओं का जप करते समय उन तीन वर्णों पर विचार करता है जिन से कि ओं बना है। वह प्रत्येक वर्ण के अर्थ और अभिप्राय को सोचता है जिस से कि उसके अनुरूप एक अवस्था प्रकट होती है। और इस प्रकार वह उत्तरोत्तर सृष्टि के क्रम और नियमपरता में, सृष्टि को गति देने वाले संकल्प में, और रचना को स्वाभाविक और प्राकृतिक रीति से पूर्ण बनाने वाले नियमों में निमग्न होता है। क्योंकि इस प्रकार चिन्तन की हुई सब से प्रथमावस्था सृष्टि-नियम की सब से बड़ी व्यापकता को प्रकट करती है, इसलिए इसका चिन्तन मुख्यतः एकाग्रता को बढ़ाने वाला माना गया है। फिर मन की एकाग्रता ध्यान को सुगम करती है, यहां तक कि अन्त को दोनों की क्रिया और प्रतिक्रिया से परमेश्वर की ज्योति योगी के हृदय में पूर्ण रूप से चमकने लगती है। अतएव महर्षि व्यास ने कहा है—

"स्वाध्यायाद्योगमासीत योगात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय योग संपत्त्या परमात्मा प्रकाशते।"

अब हम अ, उ, और म् तीन वर्णों की व्याख्या करते हैं।

अ के गूढ़ अभिप्राय का ध्यान करते समय योगी अपने मन में सृष्टि के महान् विस्तार को देखता है, जिसमें कि महाशक्तिशाली नक्षत्र अपनी अपूर्व प्रभा के साथ शून्य मार्गों में निर्विघ्न चक्कर काटते हुए अनन्तता के समुद्र में ईथर (आकाश) के अदृष्ट और अत्यन्त सुन्दर तरङ्ग उत्पन्न करते हैं। वह सृष्टि के महान् अर्थ का चिन्तन करता है, क्योंकि, उपनिषद् के शब्दों में, सृष्टि का महान् विस्तार सनातन, सर्वव्यापक सत्ता के स्वभाव और गुणों का व्याख्यान रूप है। सृष्टि उसकी दिव्य दृष्टि में नियत अङ्गों वाली एक विशाल रचना प्रतीत होती है। इस रचना का समक्षेत्र ऐसा एकरूप है कि अत्यन्त दूरस्थ नक्षत्रों की—जिनके प्रकाश को यद्यपि ईथर (आकाश) के शीघ्रगामी पङ्खों पर सवार होकर १८०,००० मील प्रति सेकण्ड के अलौकिक वेग के साथ दौड़ते हुए आज लाखों वर्ष व्यतीत हो चुके हैं पर वह अभी तक भी हमारे लोक के वायु मण्डल में घुस नहीं सका है—नहीं नहीं, प्रत्युत उनसे भी दूरस्थ तारागण की रचना भी भीतर से उसी विधि से हुई है जिससे कि सौर जगत, जिसका कि हमारी पृथ्वी एक भाग है, बना है। ब्रह्माण्ड की इस सुनियम

और ज्ञानमय रचना का—जो रचना कि पृथ्वी के सर्वोत्कृष्ट प्राणी, मनुष्य, के समान पूर्ण, और जो ब्रह्माण्ड के इस अद्भुत जीव (मनुष्य) के सदृश मस्तिष्क, आमाशय, पैर, और अन्य अवयव रखती है—ध्यान करने के लिए आओ हम अथर्ववेद के निम्नलिखित अति श्रेष्ठ मंत्रों पर विचार करें जिनमें कि इस विश्व की रचना का जिसका नमूना कि यह हमारा सौर जगत् है, वर्णन है—

यस्य भूमिः प्रमान्तरिक्षमुतोदरम् ।
दिवं यश्चक्रे मूर्द्धानं तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य सूर्य्यश्चक्षुश्चन्द्रमाश्च पुनर्णवः ।
अग्निं यश्चक्र आस्यं १ तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥
यस्य वातः प्राणापानौ चक्षुरङ्गिरसो भवन् ।
दिशो यश्चक्रे प्रज्ञानीस्तस्मै ज्येष्ठाय ब्रह्मणे नमः ॥

अथर्व॰ काण्ड १०, प्र॰ २३, अनु॰ ४, मंत्र ३२, ३३, ३४ ।

अर्थ—हम उस परम पूज्य परब्रह्म के पास (अपने ध्यान में) अत्यंत पूजा भाव के साथ जाते हैं जिसने ब्रह्माण्ड के इस ढांचे को अपने अस्तित्व का एक सजीव प्रमाण और अपने स्वभाव तथा गुणों का एक अत्यंत अनुरूप पाठ बनाया है, और जिसने इस अद्भुत रचना में (१) सूर्य्य को उसके प्रकाशमान् वायुमण्डल सहित मस्तिष्क का, (२) सूर्य्य और पृथ्वी के मध्यस्थ अन्तरिक्ष को उदर का, और (३) पृथ्वी (सब नक्षत्रों के नमूने) को नीचे के शरीर या पैरों का स्थान दिया है। हम उस परम सत्ता का पूजन करते हैं जिसकी सृष्टि में (४) सूर्य्य और चांद दो आंखें हैं, और (५) ताप मुख है। हम उस परमेश्वर की आराधना करते हैं जिसने (६) वायु मण्डल को उस रचना के फेफड़े और (७) दिशाओं को उसके कान बनाया है। आओ हम उस अनन्त, और सब विद्याओं के स्रोत परमात्मा की उपासना करें।

यहां उपासक के ध्यान के लिए सृष्टि रचना की पूर्ण व्यवस्था दिखलाई गई है। क्योंकि, क्या सूर्य्य अपने वायुमण्डल सहित इस रचना का मस्तिष्क नहीं है ? मनुष्य-शरीर में मस्तिष्क, जिसका पारिभाषिक नाम बृहत् मस्तिष्क और लघु मस्तिष्क है, संशोधित सूक्ष्म तत्त्वों से बना है, वह प्राणभूत शक्तियों का उत्पादक और नाड़ी-संबंधी बल का स्थान है, वह शरीर के सभी व्यापारों और गतियों का नियन्ता है। सूर्य्य भी, मस्तिष्क के सदृश, संशोधित सूक्ष्म तत्त्वों का संचय; चुम्बक, विद्युत, रूप, उष्णता, गति, और

किरणविकिरण-विषयक शक्तियों को उत्पन्न करने वाला अत्यन्त प्रबल यंत्र: दाह और वृद्धिशील बल और उस बल का आश्रय जिसे भूगर्भशास्त्र की परिभाषा में "सबएरियल डीन्यूडेशन" या 'भूमिस्थ पर्वत सङ्घर्ष' कहते हैं, और नक्षत्र तथा धूम्रकेतु सम्बंधी सर्व गतियों का नियन्ता है। वायु मण्डल से परिपूर्ण अन्तरिक्ष वस्तुतः आमाशय, या भोजन को पचाने वाला करण है, जो कि उन पदार्थों को सूक्ष्म और संशोधित करता है जो कि उसे दिए जाते हैं। वायुमण्डल में ही बादल बनते, भाफें सूक्ष्म होतीं; बिजली की धाराएं उत्पन्न होतीं, पार्थिव लवण और धातुओं के बाह्य कण वाष्प रूप में उड़ते हैं, और इन सर्व क्रियाओं के फल फैलते और मिश्रित होते हैं, यहां तक कि सब कुछ मिलकर एक समभाव तरल पदार्थ बन जाता है, और वायु-मण्डल के निचले स्तरों से ऊपर चढ़कर जम जाता है, और वहां से फिर निर्मल, महोपयोगी, वनस्पति-जीवनदाता वर्षा के रूप में बरसता है। ठीक इसी प्रकार आमाशय उसमें पड़ने वाले भोजन को सूक्ष्म और शुद्ध करके इसके रसाल अंशों में से अरुण प्राणभूत रस के तत्त्व निचोड़ लेता है, और वर्षा के सदृश हृदय पर बरसाता है। परन्तु आमाशय में प्रवेश करने से पूर्व पदार्थों को मुख में से गुज़रना पड़ता है। मुख अपने जबड़ों की सहायता से ठोस भोजन को वारम्वार चबाता है यहां तक कि वह बारीक होकर और थूक के साथ मिलकर एक तरल पदार्थ बन जाता है। इसी प्रकार पार्थिव पदार्थ वायुमण्डल रूपी आमाशय में प्रवेश करने के पहले, ताप रूपी मुख में से गुज़रते हैं। क्योंकि वह कौनसी नाली है जो पार्थिव पदार्थों को उच्चतर मण्डलों में ले जाती है? वह क्या है जो पृथ्वी के दृढ़ ठोस पदार्थों को पीसता, छिन्न भिन्न करता, और भाफ के समान सूक्ष्म बना देता है। या वह क्या है जो इन पदार्थों को प्रकृति के थूक अर्थात् जल में घोल देता है? यह सारा काम ताप करता है। ताप के चंचल, प्राणप्रद, और थरथराने वाले विकंपनों के वशीभूत होकर ठोस पदार्थ तरल, और तरल पदार्थ वाष्प बन जाते हैं। ताप से ही, इस प्रकार सूक्ष्म बने हुए वाष्पमय परमाणु उष्णता के पङ्खों पर सवार होकर ऊपर के अपेक्षाकृत शीतल मण्डलों में ले जाए जाते हैं। ताप ही तरल सरोवर में से वायुमण्डल के जलमय तत्त्वों को चाट जाता है। जिस प्रकार मुख भोजन और आमाशय के मध्यस्थ है ठीक उसी प्रकार ताप पार्थिव पदार्थों और वायुमण्डल के मध्यस्थ है। पैर शरीर का सब से निचला भाग है। यह मस्तिष्क रूपी सिंहासनारूढ़ राजा की आज्ञानुवर्तिता का चिह्न है यह उस गतिजनक आवेग की आज्ञा का पालन करता है जो कि नाड़ियों के द्वारा मस्तिष्क उसके पास भेजता है। इसी प्रकार पृथ्वी अन्तरिक्ष के आकाशमय मार्गों के द्वारा उस तक

पहुंचने वाले सूर्य्य के प्रभाव को मानती है। मनुष्य के शरीर में नेत्र इसलिए बने हैं जिससे वह रङ्गों को देखने और सुन्दरता को परखने में समर्थ हो।

इसी प्रकार सूर्य्य के प्रकाश की किरणें, जिन को मंत्र में अङ्गिरस कहा है, दृश्यमान् जगत् को प्रकट करती हैं, इस प्रकार सृष्टि से उन का वही सम्बंध है जो कि आँख का मानव देह से है। मनुष्य के फेफड़े न केवल धौंकनी के समान पवन को भीतर लेजाने और फिर उसे बाहर निकाल देने, या रक्त में आकसीजन नाम्नी शुद्ध वायु मिलाने के ही योग्य हैं, प्रत्युत वे मस्तिष्क को प्रत्यक्ष रूप से बलप्रदान करने वाले अदृश्य तत्त्वों को भी भीतर खींचने में समर्थ हैं। इसी प्रकार वायुमण्डल न केवल वाष्पाकार कणों को आकर्षित करने या उड़ते हुए पार्थिव कणों को दूर हटाने के ही योग्य है प्रत्युत वह पृथ्वी से, विशेषतः दोनों ध्रुवों पर, मानों दोनों रक्तकोषों (फेफड़ों) से, ऋणात्मक और धनात्मक बिजली की धाराओं को खींचने में भी समर्थ है। बिजली की ये धारायें पृथ्वी को सदा के लिए छोड़ जाती हैं।

इसलिए दृष्टान्त* प्रत्येक युक्त रूप में पूर्ण है। ध्यानावस्थित उपासक को सारा ब्रह्माण्ड सिर, प्राण, नाभि, मुख, नेत्र, श्रोत्र, और पाद प्रतीत होता है। और इस प्रकार मानव-शरीर की रचना हुई है। मुख की आमाशय से, आमाशय की फेफड़ों से, फेफड़ों की मस्तिष्क से, और मस्तिष्क की सारे शरीर से

* पाठक के चित्त पट पर इस भाग को अङ्कित करने के लिए हम वैदिक साहित्य के भिन्न भिन्न भागों से इसी प्रकार के थोड़े से भिन्न भिन्न चित्रों का केवल सादृश्य उपस्थित करेंगे जिससे वह प्रकृति की रचना की कुछ व्यापक और साधारण कल्पना कर सके, और सादृश्य को सादृश्य ही समझे, न कि कुछ और। हम यजुर्वेद अध्याय ३१, मंत्र १३ उद्धृत करते है—

नाभ्या आसीदन्तरिक्षꣳ शीर्ष्णो द्यौः समवर्त्तत।
पद्भ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात्तथा लोकाँ २॥ अकल्पयन्॥

अर्थ—"परमेश्वर ने अन्तरिक्ष को आमाशय, सूर्य्य को सिर, पृथ्वी को पैर, और अवकाश अर्थात् दिशा को कर्णपुट के सदृश बनाया है।" मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक प्रथम खण्ड के चतुर्थ मंत्र में लिखा है—

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा॥

अर्थात्—सब पदार्थों के भीतर निवास करने वाले सनातन परमात्मा ने अग्नि को सिर के स्थान में, सूर्य्य और चन्द्र को दोनों नेत्रों के स्थान में, दिशाओं को कानों के स्थान में, रचा है। वेद उस के बोलने की इन्द्रिय, वायुमण्डल उसके फेफड़े, सारा विश्व उसका हृदय, और नक्षत्र उसके पैर हैं। इस प्रकार वह सब में व्यापक है।

पूर्ण उपयुक्तता का अनुभव करने, और साथ ही उसी के अनुरूप सृष्टि के अङ्गों का परस्पर संयोजन साक्षात् कर लेने से क्या उपासक सर्वव्यापक, सनातन परमात्मा को, जो कि अपनी अभिव्यक्तियों में ऐसा तेजोमय है, एक क्षण के लिए भी भूल सकता है ! आओ हम जिज्ञासा करें कि क्या मनुष्य-शरीर में भी मस्तिष्क, फेफड़े, आमाशय, और दूसरे भाग व्यर्थ हैं, या भौतिक, जड, और शरीरशास्त्र-सम्बन्धी सब के सब व्यापारों को जड़ प्रकृति के अंशों की तरह केवल अबोधपूर्वक करने के लिए ही बने हैं ? क्या अङ्गों का यह सुन्दर संयोजन केवल दैवात् होगया है या केवल "परमाणुओं के आकस्मिक सङ्गम" का फल है ? क्या प्रकृति की अंधी शक्तियां विना सोचे समझे ही आपस में मिल गईं, और क्या आकस्मिक, अज्ञात, और अकथनीय टक्करों के उपरान्त उनके परस्पर आलिङ्गन से ही बाहर से ऐसा सुन्दर प्रतीत होने वाला मानव शरीर बन गया ? नहीं, व्यापारों का यह संयोजन व्यर्थ नहीं। मस्तिष्क, मुंह, आमाशय, फेफड़ों, पैरों, आंखों, और कानों, का बना हुआ यह मन्दिर, केवल एक नाटक भवन है। इसके कमरों का परस्पर सम्बन्ध कारीगर ने बड़ी चतुराई से रखा है। निस्सन्देह, शिल्पी ने इसे किसी के अभिनय के लिए बनाया है। तब इस मानव-रचना रूपी रँगमञ्च पर खेल करने वाले नट कौनसे हैं ? इस में सन्देह नहीं कि नट हैं पर वे यथोचित और सुनियंत्रित रँगमञ्च के बिना अपनी निपुणता और चातुर्य नहीं दिखला सकते। वह नट ये हैं—

पांच ज्ञान इन्द्रियां अर्थात् सुनने, छूने, देखने, चखने, और सूँघने की इन्द्रियां; पांच कर्म इन्द्रियां अर्थात् हाथ, पैर, कण्ठ, गुदा और उपस्थ; पांच जीवन-भूत नाडीजन्य शक्तियां या प्राण, अर्थात् प्राण, अपान, समान, उदान, और व्यान; मन अर्थात् अन्तःकरण जिस में बाह्य जगत् के साथ व्यवहार करने की इच्छा उत्पन्न होती है और जो कल्पना शक्ति प्रकट करता है; बुद्धि अर्थात् निश्चय करने की शक्ति; चित्त अर्थात् स्मरण शक्ति, और अहङ्कार अर्थात् व्यक्तित्व और अभिमान का कारण जीवन-रूपी नाटक में उन्नीस अदृश्य नट हैं। मनुष्य की आत्मा, शरीर-मन्दिर में से, अपनी इन्द्रियवृत्ति, गति, स्मृतिक अनुभव, कल्पना, प्राण, निश्चय, और अहङ्कार की शक्तियों को प्रकट करती है। क्योंकि जब तक शरीर के विविध अङ्ग परस्पर उपयुक्त न हों, अर्थात् एक अङ्ग दूसरे अंग की आवश्यकता को पूरा न करता हो, और उनकी परस्पर क्रिया और संघर्षण से उत्पन्न होने वाली यांत्रिक, रासायनिक, और वैद्युत् शक्तियां समावस्थित न हों तब तक जीवन कैसे प्रकट हो सकता है ? इसलिए यह आवश्यक है कि शरीर योग्य अवयवों से सम्पन्न हो, इनके बिना वह यांत्रिक, रासायनिक, और वैद्युत् शक्तियों को परस्पर समावस्था

में उत्पन्न कर नहीं सकता। इसके अतिरिक्त इन शक्तियों का सुव्यवस्थित होना भी आवश्यक है, तब ही जीवन अपना प्रकाश कर सकेगा। शरीर उस समय तक इन्द्रियानुभव या चलने फिरने की ओर कोई प्रवृत्ति प्रकट नहीं कर सकता जब तक कि जीवन उसे इस प्रकार प्राणयुक्त, लचकदार और संस्कार ग्रहण करने के योग्य न बना दे। जब तक इन्द्रियानुभव का नियम पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित न हो ले कल्पना और विषय ग्रहण शक्ति का उदय नहीं हो सकता। विषय ग्रहण शक्ति के प्रयोजनीय, मानसिक विचारों से युक्त होने के पश्चात् ही तुलना और विवेक की शक्तियां कार्य कर सकती और मानसिक संस्कारों को बुनकर जातिनिर्दिष्ट और सांकेतिक भावों के रूप में परिणत कर सकती हैं। इन्हीं भावों को स्मृति ग्रहण करती और बड़ी सावधानता से संचित करती है। और, अन्ततः, अहङ्कार का रहस्य स्मृति की यथार्थ धारणक्षमता पर आश्रित है, क्योंकि इसके सिवा अहङ्कार और है ही क्या कि प्रत्येक मनुष्य का आत्मा अपने सर्वथा विभिन्न अनुभवों के कारण अपने व्यक्तित्व का दूसरों से पृथक् अनुभव करता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शरीर-मंदिर इस प्रयोजन के लिए खूब तैयार किया हुआ एक विशाल रंगमञ्च मात्र है। इस पर मुख्य नाटककर्ता, अर्थात् मनुष्य का आत्मा, अपने प्रतिनिधियों को बारी बारी, एक दूसरे के बाद, नाटक खेलने और रंगमञ्च को दूसरे आने वालों के लिए तैयार करने के लिए भेजता है। शरीर-मन्दिर रूपी रंगमञ्च पर जो पहला प्रतिनिधि आता है वह प्राण है। यह अपना खेल समाप्त करके दूसरे प्रतिनिधि, इन्द्रियानुभव, के लिए स्थान तैयार करता है। वह, फिर अपनी बारी में, अपना खेल पूरा करके, विषयग्रहण शक्ति, तुलना, और स्मृति के बारी बारी आने के लिए स्थान को ठीक करता है, यहां तक कि सब के अन्त में स्वयं मानव आत्मा पूर्णरूप से तैयार रंगमञ्च पर अपनी आत्म-सत्ता की शक्तियों का प्रकाश करने के लिए प्रकट होता है। इसलिए यह सुन्दर संयोजन बिना प्रयोजन के नहीं।

जो हाल मनुष्य के आत्मा का है वही हाल ईश्वरीय सत्ता का है। सृष्टि में सूर्य, चन्द्र, नक्षत्र, वायुमण्डल और तत्त्वों का यह अद्भुत विधान केवल इस लिए है कि ईश्वरीय आत्मा को अपने सार्वत्रिक जीवन, इन्द्रियवृत्ति, और बुद्धि के सनातन तत्त्वों को प्रकट करने, और अपनी अपौरुषेय सत्ता का बाह्य जगत् में प्रकाश करने के लिए भौतिक तत्त्वों के बने हुए ब्रह्माण्ड रूपी पूर्णतः जीवित और बलवान् शरीर की वैसी ही आवश्यकता है जैसी कि मनुष्य-आत्मा को नर-देह की है। इसीलिए योगी ओं अक्षर की 'अ' मात्रा से आरम्भ करता है; इस के गूढ़ आशय का मन में जप करता है; अपने मानसिक

नेत्रों के सामने महान् सृष्टि की सर्वाङ्ग रचना का चित्र प्रस्तुत करता है; उसके क्रिया-साधक और अङ्ग अवयवमी रचना का ध्यान धरता है; उसकी आवश्यकता, उद्देश, उपयोगिता, और उसके तत्त्व का चिन्तन करता है; और अधिक आन्तरिक और आध्यात्मिक नियमों (उपर्युक्त उन्नीस नियमों) के अस्तित्व का उस पर भारी प्रभाव होता है; ये नियम ऐसे हैं जो कि प्रकट होने के लिए बड़ा बल देते रहते हैं; इसलिए योगी सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक आत्मा, वैश्वानर, का ध्यान धरता है, जोकि ओं को बनाने वाले तीन वर्णों में एक वर्ण 'अ' का ठीक ठीक आशय है।

अब ध्यान की दूसरी अवस्था का वर्णन करते हैं। नियम से नियम, और अनियम से अनियम उत्पन्न होता है। प्रकृति पर सुव्यवस्थित शक्तियों की क्रिया का फल सुव्यवस्थित रचना होता है; गड़बड़ शक्तियों का परिणाम केवल गड़बड ही हो सकता है। गणित विद्या इस सिद्धान्त के प्रमाणों से भरी पड़ी है। उदाहरणार्थ किसी वस्तु की एक चक्र में सुव्यवस्थित, एकरूप, नियमित गति को लीजिए। गणितशास्त्रज्ञ लोग कहते हैं कि यह गति अपकेन्द्र और अभिकेन्द्र नामक दो शक्तियों का फल है। यदि घूमने वाली वस्तु का वेग व हो और जिस चक्र अर्थात् वृत्त में वह घूम रही है उस की त्रिज्या त्रि हो तो अभिकेन्द्र शक्ति $\frac{व^2}{त्रि}$ होगी। इस प्रकार गणितशास्त्री हमें बताते हैं कि किसी वस्तु के चक्र में घूमते समय उसकी अभिकेन्द्र और अपकेन्द्र शक्तियां एक दूसरे से तुली रहती हैं, और उनका उस वस्तु के वेग तथा उस के मार्ग की त्रिज्या से एक नियत सम्बंध होता है। केवल यह नियत संबंध ही (जिसे इन दो शक्तियों की व्यवस्था भी कह सकते हैं) चक्राकार गति उत्पन्न कर सकता है। एक और परिच्छिन्न संबंध के हो जाने से गति अण्डाकार हो जायगी। अतएव यह स्पष्ट है कि बाह्य दृश्यों के रूप और नियम का कारण अन्तरीय व्यवस्था ही है। इसको अधिक स्पष्ट करने के लिए यों समझिए कि परमाणुओं की आन्तरिक मन्द गति के कारण ही ठोस पदार्थों की उत्पत्ति होती है। वस्तुओं की अन्तरीय चंचलता से ही दृश्य तरल पदार्थ बनते हैं। परमाणुओं की अन्तरीय अत्यंत अस्थिरता के कारण अणुओं के मुक्तमार्ग पर विचरने से ही वाष्पीमयी अवस्था उत्पन्न होती है। अच्छा, इस से भी अधिक सुपरिचित एक और दृष्टान्त लीजिए। बीज अपनी अदृश्य, आन्तरिक रचना के कारण ही उग कर ठीक ठीक अपनी ही जाति उत्पन्न कर सकता है। अन्ततः, मनुष्य, के वीर्य्य के सूक्ष्म कीड़े भी अन्तरीय परन्तु

अदृश्य इन्द्रियविन्यास रखते हैं, क्योंकि वे सजीव शरीर के सर्व अंगों, इन्द्रियों, और कार्य्यक्षमताओं (अङ्गादङ्गात्सम्भवसि-सामवेद) से, प्राणभूत सार अर्थात् वीर्य्य की क्रिया द्वारा निकाले हुए परमाणुओं से बनते हैं। इस अन्तरीय इन्द्रियविन्यास की कृपा से ही ये कीड़े हूबहू मनुष्य-शरीर उत्पन्न करने में समर्थ हैं। अतएव यह स्पष्ट है कि सदैव उत्पन्न करने वाले कारणों की अन्तरीय रचना ही बाह्य दृश्य-जगत् में रूप, नियम, व्यवस्था, या संयोजन उत्पन्न करती है। तो क्या यह आवश्यक नहीं कि वैश्वानर रूपी सर्वनियन्ता, सर्वव्यापक ईश्वरीय आत्मा जो अपने इस ब्रह्माण्ड रूपी शरीर-मन्दिर का विशाल और सर्वांग पूर्ण भवन तैयार करता है, आप भी अंगमय और सुव्यवस्थित हो निस्सन्देह ईश्वरीय शक्ति के रचनाकारी, संयोजक, वियोजक, और रूप और आकार बनाने वाले नियमों की क्रिया में सामयिकता लाने के लिए यह आवश्यक है कि उनकी प्रवृत्तियां नियत हों, और उनके अन्दर सहकारी सहानुभूति की नीति काम कर रही हो, जिस से कि वह सामंजस्य, नियमपरता, और सामयिकता उत्पन्न हो जो कि सूर्य्य, चन्द्र, और तारे पृथ्वी और नक्षत्रों के साथ मिल कर दिन और रात, ऋतु और ज्वार भाटा, प्रकाश और अंधकार, उदय और अस्त, ग्रहण और ग्रास, नक्षत्रों और धूम्रकेतुओं के सूर्य्य के अति निकट और अति दूर होने, आगे और पीछे हटने वाली गतियों, और उपग्रहों की कलाओं के घटने बढ़ने की परम्परा में दिखाते हैं। इतना ही नहीं। प्रत्येक जाति के प्राणधारी असंख्य हैं, और फिर क्या वनस्पतियों और क्या जीव जन्तुओं दोनों की जातियां संख्यातीत हैं। प्रत्येक प्राणधारी न केवल बढ़ता, जीवित रहता, और अपनी ही जाति को फिर उत्पन्न करता है प्रत्युत वह अपनी संस्कृति और सूक्ष्मता के अनुसार इन्द्रियवृत्ति, विद्यानुभव, निर्णय, स्मृति, और ज्ञान का प्रकाश करता है। इन अद्भुत शक्तियों और चेष्टाओं का प्रकाश कहां से हुआ ? निस्सन्देह जीवन, इन्द्रियानुभव, और बुद्धि रूपी ईश्वरीय तत्त्व अवश्य वैसे ही परस्पर एक-रूप और एक रस ढल कर अन्तरीय शरीर रचना में संयुक्त हुए होंगे; जिस से सजीव प्राणधारियों के ऐसे गुणयुक्त और उपयुक्त शरीर पैदा हो सके। इस के पहले कि सृष्टि की सामग्री का उन सत्त अङ्गों में विन्यास हुआ जिन से कि सृष्टि का ढांचा बना है, अन्तरीय रीति से सुव्यवस्थित आत्मा, तैजस सृष्टि की रचना विधि का चिन्तन करता था; और इस के पूर्व कि गति के तत्त्वों को प्राणों ने, प्राणों के तत्त्वों को इन्द्रियानुभव ने, और इन्द्रियानुभव के तत्त्वों को बुद्धि ने अलग करके अपनाया जिस से कि शरीरधारियों को विविध प्रकार की कार्य्यक्षमताएं मिलीं, वही ईश्वरीय सत्ता, तैजस, प्राणधारियों की रचना-विधि के विचार में

निमग्न था। सृष्टि की अन्तरीय बनावट में, ईश्वर का उसके निज मानचित्रों में ध्यान करना उसका उसकी दूसरी अवस्था अर्थात् चिन्तन अवस्था, (जिस का पारिभाषिक नाम **स्वप्न अवस्था** है) में चिन्तन करना है। क्योंकि जब मनुष्य स्वप्न में मस्तिष्क के चेतन कार्य और चेष्टा से थोड़ा सा निवृत होता है, तो उस पर लोक प्रसिद्ध भौतिक निद्रा आजाती है। इन्द्रियों की चेष्टा जिस से अन्तरात्मा ने बाह्य प्रकृति पर कार्य्य किया होगा, अस्थायी रूप से ठहर गई है, परन्तु फिर भी मन स्थिर नहीं। मस्तिष्क रूपी भवन के अनेक कमरों में किलोलें करता हुआ यह चंचल मन अपने अनुचिन्तत इन्द्रियानुभवों और कल्पनाओं को इकट्ठा करता है, और उस समय इन कल्पनाओं और उन विषयों में जिन की कि ये कल्पनाएं हैं भेद न कर सकने के कारण इन को आपस में ताने बाने की तरह बुन डालता है, और स्वप्न में, उस बुने हुए दृश्य का ऐसी वास्तविक रीति से उपभोग करता है जैसे कि वह प्रकृत विषयाश्रित सामग्री का बना हो। यही बात "स्वप्नावस्था" वा चिन्तनावस्था की है। क्योंकि, यद्यपि हम परमेश्वर को बाह्य प्रकृति पर क्रिया करते और इसको नाना रूपों में विनियुक्त करते नहीं देखते, फिर भी हम उसे, स्वप्नावस्था की तरह, प्रकृति के परमाणुओं को जोड़ते, उन्हें अपने २ स्थानों में संचित और विनियोजित करते, और अन्त को एक सर्वथा पूर्ण मानचित्र आन्तरिक रीति से सोचते देखते हैं। मानों हम परमेश्वर को भौतिक सृष्टि से अलग होकर जगत् की निर्माण-विधि का चिन्तन करते हुए देखते हैं।

परमेश्वर के इस दर्शन के उपरान्त, जोकि ओम् को बनाने वाले द्वितीय वर्ण उ का ठीक ठीक आशय है, योगी तीसरे वर्ण म का विचार आरम्भ करता है जोकि तीसरी अवस्था, अर्थात् 'सुषुप्ति अवस्था', को प्रकट करता है। हम कह आए हैं कि स्वप्नावस्था में मन मस्तिष्क के चेतन कार्य और क्रिया से अंशतः निवृत होता है। लेकिन जब स्वप्न देखने वाले को गाढ़ निद्रा आ घेरती है तो मन मस्तिष्क से पूर्णतः निवृत्त होकर केवल शारीरिक ढांचे के जीवन को स्थिर रखता, और अपनी आरोग्यकारी और घटनाप्रधान रीतियों से शरीर को बल और पराक्रम प्रदान करता है। यह सारी क्रिया मानों अपने आप बिना इच्छा के ही होती है। ऐसे ही आओ हम ईश्वरीय आत्मा का चिन्तन करें। हमें सोचना चाहिए कि जीवन, इन्द्रियवृत्ति, और बुद्धि रूपी ईश्वरीय तत्त्वों को किसने परस्पर योग्य सम्बन्ध में प्रवृत्त करने का निश्चय किया? किसने ईश्वरीय ज्ञान के तत्त्वों को सिखाया कि वे अपने आप को सृष्टि के पूर्ण रचना मानचित्र में विनियुक्त और सुव्यवस्थित करें? मानव मन में

नवीन विचारों की विभावना और नवीन कल्पनाओं की उत्पत्ति या तो शिक्षा के प्रभाव से, या किसी भारी आवश्यकता की प्रेरणा से, या कभी कभी सम्भवनीय अग्रचिन्ता के कारण होती है। लेकिन ईश्वरीय मन शिक्षा, आवश्यकता और अग्रचिन्ता के उन नियमों के अधीन नहीं जोकि नश्वर मनुष्य पर शासन करते हैं। ईश्वर का नियम उसका अपना ही स्वरूप है। किसी बाह्य प्रेरणा के संस्कार और किसी अभावजन्य आवश्यकता के दबाव के बिना केवल सहज सर्वज्ञता और स्वाभाविक स्वयंसिद्धता से ही ईश्वरीय सङ्कल्प के तत्त्व व्यवस्था या रचना-चित्र में प्रवृत्त हुए थे। या उपनिषद् के शब्दों में—

"न तस्य कार्य्यं करणं च विद्यते न तत्समो नाभ्यधिकश्च दृश्यते ।
परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बल क्रियाच ।"

"महान् सनातन आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता, कार्य्य करने के लिए उसे किसी साधन का प्रयोजन नहीं, न कोई उसके तुल्य है, और न कोई उस से अधिक है। वह सर्वोत्तम शक्तिशाली सत्ता है, उस में सहज सर्वज्ञता, सर्वशक्तिमत्ता, और चेष्टा है।" जिस प्रकार गाढ निद्रा में रक्त की गति, प्राण यात्रा, और शरीर की क्लान्ति को दूर करने वाली क्रियाएं, सब की सब जागृतावस्था से भी अधिक नियमपरता, सामंजस्य, और स्वाभाविकता के साथ, मानव आत्मा के शरीर के साथ संसर्ग मात्र से ही, होती रहती हैं, और उन्हें आत्मा की केवल स्वाभाविक चेष्टा के बिना और किसी सङ्कल्प या आलेख्य की आवश्यकता नहीं होती; उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में परमात्मा को सर्वशक्तिमत्ता, सर्वज्ञता, और सर्वकर्तृत्व का, अत्यन्त नियमपरता, सामंजस्य और पूर्णता के साथ, बिना इच्छा के प्रयत्न अथवा मस्तिष्क के दीर्घ परिश्रम से तैयार किए नकशे के, केवल उन सनातन, स्वतः-ज्ञानवान् नियमों और भावों की स्वाभाविक क्रिया से, जिनकी मूर्ति कि वह आप है, प्रयोग करते हुए देखा जाता है। ईश्वरीय आत्मा में स्वाभाविक चेष्टा मानने से मनुष्य की आत्मा को सान्त्वना मिलती है; क्योंकि यह विश्वास अदृष्टवाद या प्रारब्धवाद की बुराइयां पैदा न करके उन स्वतः ज्ञानमय नियमों की सहज बुद्धि में दृढ़ श्रद्धा पैदा करता है जो कि मानो ईश्वरीय रूप में मूर्तिमान और घनीभूत हैं।

इस विषय को दूसरी प्रकार से समझने के लिए, आओ सोचें कि शारीरिक नेत्र बाह्य पदार्थों को कैसे प्रतीत करते हैं। आंख की इन्द्रिय फोटोग्राफी की अंधेरी संदूकची (केमरा ऑब्सक्योरा) के सदृश, उसका जलमय रस

स्फटिकवत् लेञ्ज शीशे के सदृश, और काच सदृश रस उस लेञ्ज शीशे का काम देना है जिसमें से कि प्रकाश की किरणें मुड़ जाती हैं, और रूप ग्रहण करने वाली अन्तरीय नाड़ी का सिरा (रैटिना) फोटोग्राफी के कैमरे के उस शीशे के सदृश है जिस पर कि प्रतिबिम्ब बैठ जाता है। जिस प्रकार किसी वस्तु का स्पष्ट चित्र लेने के लिये उसका प्रतिबिम्ब किसी एक विन्दु पर जमाना आवश्यक होता है, उसी प्रकार चक्षुअङ्ग की संयुक्त झिल्लियां एक विन्दु पर प्रतिबिम्ब लेने वाले यंत्र हैं जिनसे कि आंख किसी वाञ्छित दूरी पर ठीक करके लगाई जा सकती है। अतएव यदि आंख को केवल एक यंत्र ही समझें, तो इस में फोटोग्राफर की अँधेरी संदूकची से अधिक देखने की शक्ति नहीं। कैमरे के पीछे फोटोग्राफर (चित्र लेने वाला) खड़ा होता है। वह लेञ्जों को ठीक स्थान पर लगाता, प्रतिबिम्ब लेता, और उसे देखता है। यही हाल मनुष्य की आंख का है। भौतिक नेत्र के पीछे रूप को प्रतीत करने, कान के पीछे शब्द को सुनने, और इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रिय के पीछे उसके अनुरूप इन्द्रियानुभव का सच्चा नियम विद्यमान है। जिस प्रकार "कैमरे" के विना भी फोटोग्राफर में देखने की शक्ति बनी रहती है वैसे ही मनुष्य अपने इस नश्वर शरीर को छोड़ देने पर विद्यानुभव और इन्द्रियानुभव से रहित नहीं हो जाता। मनुष्य की आत्मा इन नियमों की सच्ची मूर्ति है। यही हाल ईश्वरीय आत्मा का है। वह उन सर्व सनातन, अपरिवर्तनीय नियमों का सच्चा स्वरूप है जो कि दृश्य या अङ्गमय रचना के भीतर रहते हैं पर उससे स्वतंत्र हैं, और जो सर्व रचना चित्र की नींव में पाए जाते हैं। वास्तव में वह महान्, सनातन, सर्वव्यापक आत्मा है जिसके विषय में कि उपनिषद् इस प्रकार कहता है—

अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः।
स वेत्ति विश्वं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं पुराणम्॥

अर्थात् परमेश्वर के भौतिक हाथ और पैर नहीं परन्तु वह सर्वव्यापकता तथा सर्वशक्तिमत्ता रूपी सहज नियमों के द्वारा सारी प्रकृति को ग्रहण करता और रखता है। उसकी भौतिक आंखें, नहीं लेकिन वह देखता है; उस के भौतिक कान नहीं पर सब कुछ सुनता है; चिन्तन की कोई आन्तरिक इन्द्रिय (अन्तःकरण) नहीं पर वह सब को जानता है और उसे कोई नहीं जानता। वह परमात्मा है जो कि सब में व्यापक है। इसलिए इस अवस्था में परमेश्वर का ध्यान उसे सर्व भावों और नियमों की मूर्ति मानकर किया जाता है। यही सुषुप्ति अवस्था है, यही एकाक्षर ओम को बनाने वाले तीसरे वर्ण म का आशय है।

चौथा कोई मात्रा या वर्ण नहीं, न ही यह जिह्वा से बोला या उच्चारण किया जाता है, लेकिन सच्चा अनिर्वचनीय नाम है। यह उस तात्त्विक सत्ता, यथार्थ आत्मा, ईश्वरीय आत्मा, अदृश्य, अकाय, लक्षणातीत, अज्ञेय सत्ता को प्रकट करता है जो कि एक अद्वितीय, सर्व प्रपञ्चों से रहित, पूर्ण शान्त और पूर्ण आनन्दमय है। उसे अवश्य साक्षात् करना चाहिए। हमें इस मनोरञ्जक परन्तु अधूरी और आवश्यकता के कारण संक्षिप्त व्याख्या को समाप्त करने के लिए प्रश्नोपनिषद् पांचवें प्रश्न के शब्दों से अच्छे शब्द और नहीं मिलते।

एतद्वै सत्यकाम! परञ्चापरञ्च ब्रह्म यदोङ्कारस्तस्माद्विद्वानेतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥ स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदितस्तूर्णमेव जगत्यामभिसम्पद्यते। तमृचो मनुष्यलोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्य्येण श्रद्धया सम्पन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥ अथ यदि द्विमात्रेण मनसि सम्पद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते। स सोमलोकं स सोमलोके विभूति मनुभूय पुनरावर्त्तते ॥ ४ ॥ यः पुनरेतन्त्रिमात्रेणैवोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्य्ये सम्पन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघनात्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥ ५ ॥ तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्ताः। क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक् प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥ ६ ॥ ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं स सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परञ्चेति ॥ ७ ॥

हे सच्चे जिज्ञासु! ओम् महान् परमेश्वर है। ज्ञानी पुरुष इस ओं से आश्रय पाकर अपने उद्देश को प्राप्त करते हैं। जो ओम् की पहली मात्रा अ, का, अर्थात् परमेश्वर का उसकी जागृत अवस्था में ध्यान करता है वह शीघ्र ही ज्ञानवान् होजाता है, और मृत्यु के बाद भी पुनः सर्वश्रेष्ठ मनुष्य-जन्म पाता है, और अपनी पूर्व उपासना के संस्कारों के कारण तप, ब्रह्मचर्य्य, विद्याध्ययन, और सत्यान्वेषण का जीवन व्यतीत करता है, और इस प्रकार सात्विक परिस्थिति पाकर श्रेष्ठ प्रकृति के सुखों का अनुभव करता है। जो ओम् की दूसरी मात्रा उ का, अर्थात् ब्रह्म का उसकी स्वप्नावस्था में ध्यान करता है, वह कारणों के अन्तरीय लोक की झलक देख लेता है, और, इस उपासना की बदौलत, आध्यात्मिक जगत् को प्राप्त होता है, और वहां आत्मोन्नति का अनुभव करके

पुनः मनुष्य देह पाता है। लेकिन जो ओम के तीसरे वर्ण म् का, अर्थात् ईश्वर के स्वरूप का चिन्तन करता है वह दिव्य ज्ञान से उद्भासित होकर मोक्ष को प्राप्त होजाता है। जिस प्रकार सांप अपनी पुरानी खाल को फेंक कर पुनः नया होजाता है,इसी प्रकार तीसरी मात्रा की उपासना करने वाला योगी,अपने नश्वर शरीर को छोड़कर, अपने पापों और ऐहिक निर्बलताओं से मुक्त होकर, परब्रह्म के ब्रह्माण्ड में अपने सूक्ष्म शरीर के साथ सब कहीं स्वतन्त्र विचरता हुआ सर्वव्यापक,सर्वशक्तिमान् परमात्मा की महिमा का नित्य आनन्द लूटता है।

सिंहावलोकन। ओम् की तीन मात्राओं का ठीक तौर पर यथाक्रम चिन्तन करने से उपासक इस संसार के दुःखों से छूट जाता है। प्रथम मात्रा के चिन्तन से उसे अस्तित्व की सब से उन्नत अवस्था, जो इस जगत् में संभव होसकती है, मिलती है; दूसरी का चिन्तन उसे आध्यात्मिक जगत् के आनन्दों से भर देता है, और अन्तिम मात्रा के ध्यान से उसे मोक्ष अर्थात् अमरत्व प्राप्त होता है। ओम् शम्।

मुण्डकोपनिषद् ।

"उपनिषदों का अनुवाद करने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है उनके विषय में दूसरे पण्डित चाहे कुछ ही कहें, पर मैं केवल यही कह सकता हूँ जो कि मैं पहले कह चुका हूँ अर्थात् इन दार्शनिक पुस्तकों के अनुवाद में अनुवादक को जिस कठिनता का सामना करना पड़ता है, उस से बढ़कर कठिनता जिन पुस्तकों को मैं. जानता हूँ उन . में से बहुत थोड़ों के अनुवाद में उपस्थित होती है।..............................मुझे कई एक वाक्यों का अनुवाद केवल परीक्षा के लिए, या टीकाकारों का अनुकरण करते हुए बार बार करना पड़ा है यद्यपि इस बात का मुझे सदा ज्ञान था कि इन वाक्यों का जो अर्थ वे निकालते हैं वह ठीक नहीं होसकता।"

मोक्षमूलर भट्ट

ओ३म् तत्सत् ।

१—मुण्डकोपनिषद् * ।

१. पहला मुण्डक, पहला खण्ड ।

ब्रह्मादेवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्त्ता भुवनस्य गोप्ता ।
स ब्रह्मविद्यां सर्व्वविद्या प्रतिष्ठामथर्व्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥१॥

१. विद्वानों में सब से पहला विद्वान् ब्रह्मा था जो कि प्रकृति के भौतिक नियमो का पूर्ण ज्ञाता और निपुण शिल्पी था । वह मनुष्य जाति का रक्षक था । उसने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्व को ब्रह्मविद्या सिखलाई जो कि बाकी सब प्रकार की विद्याओं से श्रेष्ठ है ।

अथर्व्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माऽथर्व्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम् ।
स भारद्वाजाय सत्यवाहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥२॥

२. जो ब्रह्मविद्या अथर्व ने ब्रह्मा से सीखी थी वही उसने अङ्गिरा को सिखलाई, अङ्गिरा ने फिर भारद्वाज (भरद्वाज गोत्री) सत्यवाह को सिखाई, और सत्यवाह ने अंगिरस को बताई । इस प्रकार यह परम्परा से चली आई है ।

शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ ।
कस्मिन्नु भगवो ! विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति ॥३॥

३. शौनक नामक एक बड़ा सरदार बड़े विनीत भाव से अंगिरस के पास आया और पूछने लगा—"हे भगवन् ! वह क्या है कि जिस एक के जान लेने से बाकी सब कुछ जाना हुआ होजाता है ?"

तस्मै स होवाच द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चैवापरा च ॥४॥

४. उसने उत्तर दिया—"तुम्हें जानना चाहिए कि विद्याएँ दो प्रकार की हैं जिन को ब्रह्म के जानने वाले ऋषि परा (अलौकिक) और अपरा (लौकिक) कहते हैं ।

तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं ।
निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति । अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते ॥५॥

---

* इस उपनिषद् का अनुवाद मास्टर दुर्गाप्रसाद ने और संशोधन पण्डित गुरुदत्त विद्यार्थी एम० ए० ने किया था । उस समय पण्डित जी का रोग बहुत बढ़ा हुआ था और वह चारपाई को छोड़ने में असमर्थ थे । इसी रोग से अन्त को उन का देहान्त हुआ ।

५. ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा (स्वर विज्ञान) कल्प (अनुष्ठानिक विधि), व्याकरण, निरुक्त (भाषातत्त्व शास्त्र), छन्द, और ज्योतिष का पढ़ना अपरा विद्या है। परा विद्या वह है जिस के द्वारा अविनाशी ब्रह्म की प्राप्ति होती है।

यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षुःश्रोत्रं तदपाणिपादं नित्यं विभुं।
सर्व्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीराः ॥६॥

६. वह अविनाशी ब्रह्म न देखा जा सकता है, न पकड़ा जा सकता है, उसका न कोई मूल है, न कोई सांकेतिक विशिष्टता, न आंख है और न कान, न हाथ है और न पैर, वह नित्य है, सर्वव्यापक है, सब के अन्दर है, सूक्ष्म है, अविनाशी है, उसे ज्ञानी पुरुष सब भूतों का स्रोत (कारण) समझते हैं।

यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति।
यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् ॥ ७ ॥

७. जिस प्रकार मकड़ी जाला बाहर निकालती और फिर उसे अपने अन्दर समेट लेती है, जैसे पृथवी से वनस्पति उगती है, जैसे सजीव शरीरों पर बाल उगते हैं, वैसे ही यह सकल ब्रह्माण्ड उस अविनाशी से निकलता है।

तपसा चीयते ब्रह्म ततोऽन्नमभिजायते।
अन्नात् प्राणो मनः सत्यं लोकाः कर्मसु चामृतम् ॥ ८ ॥

८. जब वह परमात्मा सृष्टि का चिन्तन करता है, तो यह जगत् भौतिक आकार में प्रकट हो जाता है, और वहां से अन्न, प्राण, मन, सत्य, उत्पत्ति, पुण्य कर्म और अमरत्व विकसित होते हैं।

यः सर्व्वज्ञः सर्व्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः।
तस्मादेतद् ब्रह्म नाम रूपमन्नं च जायते ॥९॥

९. वह ब्रह्म सर्वज्ञ, और सर्वविद् है, उस की क्रिया ही स्वयं ज्ञान है, उसी से भिन्न भिन्न रूपों और नामों वाला यह भौतिक जगत् निकला है।

पहला मुण्डक, दूसरा खण्ड।

तदेतत्सत्यं मन्त्रेषु कर्म्माणि कवयो यान्यपश्यंस्तानि त्रेतायां बहुधा सन्ततानि।
तान्याचरथ नियतं सत्यकामा एष वः पन्थाः सुकृतस्य लोके ॥१॥

१. यह सत्य है कि जिन मन्त्रों में शुभ कर्म्मों के करने का आदेश था उनको ऋषियों ने तीन संहिताओं में विभक्त किया । उन कर्तव्यों को नियमपूर्वक और यथोचित कामना के साथ कर। यह वह मार्ग है जो उन लोकों में लेजाता है जहां कि पुण्य कर्म्मों के फल बंटते हैं।

यदा लेलायते ह्यर्चिः समिद्धे हव्यवाहने ।
तदाज्यभागावन्तरेणाहुतीः प्रतिपादयेच्छ्रद्धया हुतम् ॥२॥

२. जब ईंधन डालने से आग भड़कती है तो श्रद्धायुक्त हृदयमय के साथ उस में घी की आहुतियां डालनी चाहियें।

यस्याग्निहोत्रमदर्शमपौर्णमासमचातुर्मास्यमनाग्रयणमतिथिवर्जितंच ।
अहुतमवैश्वदेवमविधिना हुतमासप्तमांस्तस्य लोकान् हिनस्ति ॥३॥

३. जो मनुष्य दर्श (अमावस्या), पौर्णमास, चातुर्मास्य (चौमासा), आग्रयण (फसल के समय) के अवसर पर अग्निहोत्र नहीं करता, जो विद्वान् अतिथियों का भोजन से सत्कार नहीं करता, जो वैश्वदेव यज्ञ या अग्निहोत्र बिलकुल नहीं करता, या जो उन्हें वेदों की विधि के विरुद्ध करता है वह अपने सुखमय भविष्यत् जीवन की सब आशाओं को नष्ट कर डालता है।

काली कराली च मनोजवा च सुलोहिता या च सुधूम्रवर्णा ।
स्फुलिङ्गिनी विश्वरूपी च देवी लेलायमाना इति सप्त जिह्वाः ॥४॥

४. जलती हुई अग्निशिखा के सात मण्डल ये हैं—काला, भूरा, संतप्त, लाल-गरम, अन-जला, चिङ्गारियां छोड़ता हुआ, और चमकता हुआ।

एतेषु यश्चरते भ्राजमानेषु यथाकालं चाहुतयो ह्याददायन् ।
तं नयन्त्येताः सूर्य्यस्य रश्मयो यत्र देवानां पतिरेकोऽधिवासः ॥५॥

५. जो आहुतियां जलती हुई आग में यथार्थ रीति से डाली जाती हैं, उन्हें सूर्य्य की किरणें उठाकर वायुमण्डल के उस प्रदेश में ले जाती हैं जहां कि बादल उड़ते फिरते हैं।

एह्येहीति तमाहुतयः सुवर्चसः सूर्य्यस्य रश्मिभिर्यजमानं वहन्ति ।
प्रियां वाचमभिवदन्त्योऽर्चयन्त्य एष वः पुण्यः सुकृतो ब्रह्मलोकः ॥६॥

६. ये आहुतियां यजमान के लोक में उपजाने वाली वृष्टि के रूप में वापस आकर, मानों उसे कहती हैं—"आओ, यहां आओ, अपने पुण्य कर्म्मों के फल भोगो।"

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म्म ।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरामृत्युं ते पुनरेवापियन्ति ॥७॥

७. ये धर्म्माचरण, अठारह प्रकार के अनुष्ठानों सहित अपकृष्ट, नश्वर, और क्षणिक हैं। जो लोग उन्हें ही परमानन्द समझते हैं वे मूढ़ हैं और बार बार बुढ़ापे और मृत्यु का दुःख भोगते हैं।

अविद्यायामन्तरे वर्त्तमानाः स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः ॥८॥

८. कई अविद्यान्धकार में फंसे हुए लोग गर्व से अपने आपको बुद्धिमान समझते हैं, और निःसार ज्ञान के साथ फूले न समाते हुए अंधों के अंधे नेता बनकर दूसरों के लिए भारी दुःख का कारण बनते हैं।

अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः ।
यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते ॥९॥

९. फिर कई ऐसे भी मूढ़ हैं जो यह समझते हैं कि केवल कर्म्मों से ही हम ने जीवन का उद्देश प्राप्त कर लिया है। पर केवल कर्म्मों से ही ईश्वर का ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता इसलिए दुनिया के प्रपंचों में डूबे हुए ऐसे लोग अतिदुखी हो जाते हैं, और उन की अवस्था दिन पर दिन बिगड़ती जाती है।

इष्टापूर्त्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः ।
नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरञ्चाविशन्ति ॥१०॥

१०. जो मूढ़ सांसारिक कार्य्यों में सफलता को ही जीवन का एक मात्र उद्देश समझते हैं, और इस से बढ़कर और किसी चीज़ को नहीं मानते, वे इस संसार के बड़े से बड़े सुखों को भोगने के बाद नीच अवस्थाओं में जा गिरते हैं।

तपः श्रद्धे ये ह्युपवसन्त्यरण्ये शान्ता विद्वांसो भैक्षचर्यां चरन्तः ।
सूर्य्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति यत्रामृतः स पुरुषो ह्यव्ययात्मा ॥११॥

११. शान्त चित्त, संसार से निवृत्त होकर धार्म्मिक जीवन व्यतीत करने वाले, सत्य को जानने और उसका आलिङ्गन करने की प्रबल कामना करने वाले, क्रोधादि मनोविकारों से रहित, और भिक्षा पर निर्वाह करने वाले विद्वान् अपने सूक्ष्म शरीर के साथ अपरिवर्तनशील, अमर. सर्वव्यापक परमात्मा को पाते हैं।

परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायान्नास्त्यकृतः कृतेन ।
तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥ १२॥

१२. यह देखकर कि संसार के सारे उपभोग कर्म्मों का फल हैं, और कि केवल कर्म्मों से ही ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, विद्वान् पुरुष को चाहिए कि ब्रह्म ज्ञान की प्राप्ति के लिए संसार के मोह को छोड़कर वेदवेत्ता ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास योग्य दक्षिणा लेकर जाए।

तस्मै स विद्वानुपसन्नाय सम्यक् प्रशान्तचित्ताय शमान्विताय ।
येनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं प्रोवाच तां तत्त्वतो ब्रह्मविद्याम् ॥१३॥

१३. गुरु को चाहिये कि ऐसे सन्तुष्ट, प्रशान्त चित्त विद्यार्थी को उस ब्रह्मविद्या का उपदेश करे जिस से कि सनातन, सर्वव्यापक सत्ता को जाना जाता है।

अथ द्वितीय मुण्डके प्रथम खण्डः ।

तदेतत् सत्यं यथा सुदीप्तात् पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः।
तथाक्षराद्विविधाः सोम्य भावा प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति ॥ ॥

१. हे प्रिय जिज्ञासु ! जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि से उसी प्रकार के हज़ारों चिङ्गारे निकलते हैं, वैसे ही अमर परमात्मा से असंख्य नियम निकलते और उसी में ही लीन होजाते हैं।

दिव्यो ह्यमूर्त्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः ।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः ॥२॥

२. वह दिव्य पुरुष अविनाशी, शरीर-रहित, सर्वव्यापक, बाहर और अन्दर दोनों जगह मौजूद, अजन्मा, प्राण और मन से रहित, शुद्ध, सब स्थानों को भरने वाले ईथर (आकाश) प्रत्युत मनुष्य-आत्मा से भी अधिक सूक्ष्म है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ।
खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी ॥३॥

३. उस से प्राण और मन, सब इन्द्रियां, तत्व, आकाश, भाफें, और अवशेष सब पदार्थों का पोषण करने वाले रस पैदा हुए हैं।

अग्निर्मूर्द्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्य्यौ दिशः श्रोत्रे वाग् विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा ॥४॥

४. सब भूतों के अन्दर निवास करने वाले सनातन परमात्मा ने अग्नि को मस्तिष्क के स्थान में, सूर्य और चांद को दोनों नेत्रों के स्थान में, और दिशाओं को दोनों कानों के स्थान में रचा है। वेद उसके बोलने की इन्द्रिय, वायुमण्डल उसके फफड़े, सारा विश्व उसका हृदय, और पृथ्वी उसके पैर हैं। इस प्रकार वह सब में व्यापक है।

तस्मादग्निः समिधो यस्य सूर्य्यः सोमात् पर्जन्य ओषधयः पृथिव्याम् ।
पुमान् रेतः सिञ्चति योषितायां बह्वीः प्रजाः पुरुषात् सम्प्रसूताः ॥५॥

५. उस से शक्तियों का एक बड़ा तोपखाना (बाटरी) निकलता है जिस का ईंधन कि सूर्य है । यह सूर्य्य अपनी किरणों द्वारा तरल पदार्थों की भाफ़ें ऊपर खेंचता है । इस प्रकार बादल बनते हैं जो पृथ्वी पर बरस कर प्रचुर वनस्पतियां पैदा करते हैं । इन वनस्पतियों को नर खाते हैं जिस से उनका वीर्य्य बनता है । इस वीर्य से वे नारियों को गर्भवती करते हैं । इस प्रकार परमेश्वर के सनातन नियम की प्रबल क्रिया से असंख्य प्राणधारियों की उत्पत्ति हुई है ।

तस्मादृचः साम यजूंषि दीक्षा यज्ञाश्च सर्वे क्रतवो दक्षिणाश्च ।
संवत्सरश्च यजमानश्च लोकाः सोमो यत्र पवते यत्र सूर्य्यः ॥६॥

६. ऋग्, साम, यजु, दीक्षा (यज्ञ के आरम्भ के नियम), यज्ञ, दक्षिणायें, वर्ष, यज्ञ करने वाला, वे परिस्थितियां जहां सूर्य और चांद अपने व्यापार करते हैं, ये सब उसी से निकलते हैं ।

तस्माच्च देवा बहुधा सम्प्रसूताः साध्या मनुष्याः पशवो वयांसि ।
प्राणापानौ व्रीहियवौ तपश्च श्रद्धा सत्यं ब्रह्मचर्यं विधिश्च ॥७॥

७. उस से असंख्य विद्वान, चतुर विशेषज्ञ, साधारण मनुष्य, पशु, पक्षी, प्राणभूत वायु, नाना प्रकार के भोजन, तप, श्रद्धा, सत्य, ब्रह्मचर्य्य, और विधियां निकली हैं ।

सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः ।
सप्त इमे लोका येषु चरन्ति प्राणाः गुहाशया निहिताः सप्त सप्त ॥८॥

८. उस ने हृदय में सात प्राण, सात अर्चि (प्राण के प्रभाव या क्रियाएं), सात समिधाएं (इन्द्रियानुभव, विद्यानुभव इत्यादि के अपने अपने विषय), सात होम (विषयों का ज्ञान), और सात लोक (उन शक्तियों या इन्द्रियों के करण जिन में कि प्राण कार्य करते हैं)* स्थापित किए हैं ।

---

* सप्तार्चि—पायूपस्थे ऽपानं ह ये चक्षुः श्रोत्रे मुखनासिकाभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु समानः । एष हि ह्येतद्धुतमन्नं समंनयति तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति । ५ । प्रश्नोपनिषद् ३ प्रश्न ।

अर्थात् शरीर की सात इन्द्रियों में कार्य करते समय प्राण सात गुना हो जाता है । सात इन्द्रियां ये हैं गुदा, उपस्थ, नेत्र, कान, मुंह, नाक, और हृदय । प्राण भोजन से जीवन शक्ति निकाल कर इन इन्द्रियों में बांट देता है । इस से वे इन्द्रियानुभव और विद्यानुभव आदि मानसिक क्रियाओं के योग्य हो जाती हैं ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यन्दन्ते सिन्धवः सर्वरूपाः।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यन्तरात्मा ॥९॥

९. उस ने समुद्र, पर्वत, साथ ही टेढ़े मेढ़े मार्गों में बहने वाले नदी नाले, सब बूटियां और उन के रस बनाए हैं, और वही उनके अन्दर व्यापक होकर उनको धारण कर रहा है।

पुरुष एवेदं विश्वं कर्म्म तपो ब्रह्म परामृतम्।
एतद्यो वेद निहितं गुहायां सोऽविद्याग्रन्थिं विकिरतीह सोम्य ॥१०॥

१०. यह विश्व, मनुष्यों की क्रियाएं, उनका वेदों का ज्ञान, तप, और अमरत्व, सर्वव्यापक परमेश्वर में रहते हैं। हे प्रिय जिज्ञासु ! जो इस परमात्मा को अपने हृदय की गहराई में जानता है वह अविद्या की गांठों को तोड़कर मोक्ष को पाता है।

अथ द्वितीय मुण्डके द्वितीयः खण्डः।

आविः सन्निहितं गुहाचरन्नाम महत् पदमत्रैतत् समर्पितम्।
एजत्प्राणन्निमिषच्च यदेतज्जानथ सदसद्वरेण्यम् परं विज्ञानाद् यद्वरिष्ठं प्रजानाम्॥१॥

१. सच ही वह परमात्मा सब कहीं प्रकट और सदा निकट है, बुद्धि में व्यापक है, महान् आश्रय है, और इस विश्व में जो कुछ चलता, सांस लेता, और जीता है उस सारे का भण्डार है। उसे स्वयंभू, अदृश्य, पूज्य, और मनुष्यों की समझ से परे जानो। वस्तुतः वह अपनी प्रजाओं का एक मात्र पूज्यदेव है।

यदर्चिमद्यदणुभ्योऽणु यस्मिँल्लोका निहिता लोकिनश्च।
तदेतदक्षरं ब्रह्म स प्राणस्तदु वाङ्मनः तदेतत्सत्यं तदमृतं तद्वेद्धव्यं सोम्य विद्धि॥२॥

२. वह तेजोमय है, परमाणुओं से भी अधिक सूक्ष्म है, लोकों को और उन लोकों पर रहने वालों को धारण करता है। वह अविनाशी ब्रह्म है, वह सब का प्राण है, वह वाणी और मन का तत्व है, वह सत्य है, और अमर है। हे प्यारे जिज्ञासु ! तू जान कि केवल वही हमारा लक्ष्य होना चाहिए।

धनुर्गृहीत्वौपनिषदं महास्त्रं शरं ह्युपासा निशितं संधीयत।
आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्यं तदेवाक्षरं सोम्य विद्धि ॥३॥

३. उपनिषद् रूपी धनुष को हाथ में लेकर उस पर उपासना के तेज़ तीर को चढ़ाओ, फिर भक्ति के सारे बल के साथ खेंचो। और मन में सदा याद रखो कि लक्ष्य वही अविनाशी ब्रह्म है।

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत् ॥४॥

४. परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ नाम, ओम्, धनुष है, आत्मा तीर है, और स्वयं ब्रह्म निशाना है। अपने सारे बल और होशियारी के साथ तीर को चलाओ। ठीक जिस प्रकार तीर निशाने में घुस जाता है उसी तरह आत्मा ईश्वर में ठहर जाती है।

यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथ अमृतस्यैष सेतुः ॥५॥

५. वह जो अन्तरीय और अदृश्य रीति से सूर्य्य, पृथ्वी, और अन्तरिक्ष को उनके अपने अपने स्थानों में धारण करता है, और जो प्राण, मस्तिष्क, फेफड़ों, और सर्व विविध इन्द्रियों का पोषण करता है, वही अद्वितीय सर्वान्तरात्मा है। हे मनुष्यो, सब बखेड़ों को छोड़कर केवल उसी एक को जानने का यत्न करो, क्योंकि मोक्ष को प्राप्त कराने वाला वही एक सूत्र है।

अराइव रथनाभौ संहता यत्र नाड्यः स एषोऽन्तश्चरते बहुधा जायमानः।
ओमित्येवं ध्यायथ आत्मानं स्वस्ति वः पराय तमसः परस्तात् ॥६॥

६. जिस प्रकार पैय्ये के आरे नाभि अर्थात् केन्द्र में आकर मिलते हैं, ठीक उसी तरह हृदय में सर्व रक्तवाहिनी नाड़ियां आकर मिलती हैं। इसी हृदय में अन्तरीय रीति से शासन करने वाली दिव्य अन्तरात्मा निवास करती है और अपनी महिमा अनेक प्रकार से प्रकट कर रही है। उस आन्तरिक रीति से शासन करने वाली अन्तरात्मा, ओम्, का ध्यान करो क्योंकि केवल इस प्रकार ही तुम इस जीवन रूपी क्षुब्ध सागर के अविद्याजन्य दुःखों को बहुत पीछे छोड़कर निर्विघ्नतापूर्वक आनन्द धाम में पहुंच सकोगे।

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि दिव्ये ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः। मनोमयः प्राण शरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय तद्विज्ञानेन परिपश्यन्ति धीरा आनन्दरूपममृतं यद्विभाति ॥७॥

७. जो सब को जानता है और सब को समझता है, जिस की महिमा आकाश और पृथ्वी पर प्रकट है वह दिव्य आत्मा केवल हृदय की गहराई में ही पाया जाता है। वह मन, प्राण, और शरीर का नियन्ता है। उस ने अन्न को हृदय का पोषण ठहराया है। उसके ज्ञान से ही धीर पुरुष अमरत्व और परमानन्द का अनुभव कर सकते हैं।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥८॥

८. उस सर्वव्यापक परमेश्वर का अनुभव कर लेने से हृदय की सारी अविद्या, नष्ट होजाती है, मन के सारे संशय कट जाते हैं, और सारे पाप कर्म बन्द होजाते हैं।

हिरण्मये परे कोशे विरजं ब्रह्म निष्फलम् ।
तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिस्तद् यदात्मविदो विदुः ॥९॥

९. जो मलिनता और अवयवों से रहित है, और भीतर से भी भीतर निवास करता है, उसी को आत्मदर्शी लोग अत्यन्त शुद्ध और ज्योतियों की भी ज्योति जानते हैं।

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः ।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥१०॥

१०. उसे न सूर्य प्रकाशित करता है, न चांद और तारे, न ही बिजलियां, यह भौतिक अग्नि तो कहां ! ये सब उसी की ज्योति से चमकते हैं; उसी के प्रकाश से यह सब कुछ उद्भासित होता है।

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्ताद् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण ।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम् ॥११॥

११. ब्रह्म अमरत्व (अमृत) है; वह आगे और पीछे है, दायें और बायें है ऊपर और नीचे है, और इस महान् और अतिविशाल विश्व में बीचों बीच फैल रहा है।

अथ तृतीय मुण्डके प्रथमः खण्डः ।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति ॥१॥

१. दिव्य गुण सम्पन्न दो चेतन सत्तायें हैं। वे एक ही आयु की हैं, एक दूसरे का आलिङ्गन कर रही हैं, और एक ही छोटे से ब्रह्माण्ड में रहती हैं। उन में से एक अपने कर्मों का फल भोगती है, और दूसरी उसी को देखती है, फल का दूसरी पर कोई असर नहीं।

समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽनीशया शोचति मुह्यमानः ।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीशमस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥२॥

२. सांसारिक कामनाओं में फंसा हुआ आत्मा, परमात्मा का अनुभव न करने से, अविद्या के कारण शोकातुर होता है । लेकिन जब वह विश्व के सर्वशक्तिमान् नियन्ता को साक्षात् करलेता है और उसकी महत्ता को पहचान लेता है तो वह शोक से छूट जाता है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्त्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्।

तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति ॥३॥

३. जब आत्मदर्शी ज्योतिस्वरूप, जगत् के रचयिता, सर्वव्यापक, सब विद्याओं के आदि मूल ब्रह्म का अनुभव कर लेता है तो वह सारे पुण्य और पाप कर्म्मों को दूर फेंक कर प्रकृति के सब दोषों से रहित होजाता है और उसकी आत्मा में एकतानता आजाती है।

प्राणो ह्येष यः सर्वभूतैर्विभाति विजानन् विद्वान् भवते नातिवादी।

आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः ॥ ४ ॥

४. वह जीवन है जिस की बुद्धि की छाप सारे विश्व पर लगी हुई है । जो धीर पुरुष उसको जानता है वह निष्फल बात चीत को छोड़ देता है। वह अपने आत्मा में आनन्द लेता हुआ, अपने आत्मा में मग्न और शक्ति सम्पन्न हो कर सब से बड़ा आध्यात्मिक गुरु बन जाता है।

सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा सम्यग् ज्ञानेन ब्रह्मचर्येण नित्यम्।

अन्तः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः॥५॥

५. दृढ़ सत्यनिष्ठा, मन और इन्द्रियों के एकसम संयम, ब्रह्मचर्य, और आध्यात्मिक गुरुओं से प्राप्त किए हुए विचारों के द्वारा मनुष्य को उस परमात्मा के पास पहुंचना चाहिए जो कि ज्योति स्वरूप और पूर्ण है, जो हृदय के अन्दर कार्य करता है, और जिस के समीप मनोविकारों और कामनाओं से रहित उपासक ही जा सकते हैं।

सत्यमेव जयते नानृतं सत्येन पन्था विततो देवयानः।

येनाक्रमन्त्यृषयो ह्याप्तकामा यत्र तत् सत्यस्य परमं निधानम् ॥ ६ ॥

६. सत्य सदा जीतता है, और झूठ की सदा हार होती है । सत्य वह मार्ग है जिस पर कि विद्वान् चलते हैं । कामनाओं से परितृप्त ऋषियों ने इसी मार्ग से सत्य के असीम सागर, ब्रह्म, में मोक्ष को प्राप्त किया है।

बृहच्च तद्दिव्यमचिन्त्यरूपं सूक्ष्माच्च तत्सूक्ष्मतरं विभाति।

दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत्स्विहैव निहितं गुहायाम् ॥ ७ ॥

७. वह सब भूतों से बड़ा, अतीव अद्भुत, अचिन्तनीय, सब मूलतत्वों से अधिक सूक्ष्म है। वह सब से दूर है, और साथ ही बिलकुल निकट भी है,

नहीं नहीं; वह उन लोगों के आत्मा के भीतर पाया जाता है जिन के पास उसे यहां पृथ्वी पर देखने के लिए आंखें हैं ।

न चक्षुषा गृह्यते नापि वाचा नान्यैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।
ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमानः ॥ ८ ॥

८. वह न ही आंख से ग्रहण किया जाता है, न ही वाणी से, न ही दूसरी इन्द्रियों से, न ही तप से, और न ही कर्म्मों से । ध्यान करने वाले की बुद्धि जब निर्मल होजाती है तो वह उसे ज्ञान के स्थिर और अक्षुब्ध प्रकाश के द्वारा ग्रहण करता है ।

एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणः पंचधा संविवेश ।
प्राणैश्चित्तं सर्वमोतं प्रजानां यस्मिन् विशुद्धे विभवत्येष आत्मा ॥ ९ ॥

९. यह सूक्ष्म आत्मा केवल बुद्धि से ही जाना जा सकता है, जोकि पाँच प्राणों द्वारा नियन्त्रित है । सब भूतों के चित्त प्राण में परोए हुए हैं । जब चित्त शुद्ध हो जाता है तो आत्मा अपनी शक्तियों का अनुभव करने लग जाती है ।

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्चकामान् ।
तं तं लोकं जायते तांश्च कामांस्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद्भूतिकामः ॥ १० ॥

१०. शुद्ध और शान्त बुद्धि वाला मनुष्य जिन जिन लोकों का मन से चिन्तन करता है और जिन जिन कामनाओं को चाहता है, निश्चय ही वह उन को प्राप्त हो जाता है । इसलिए जो पुरुष बड़ी बड़ी शक्तियाँ प्राप्त करना चाहता है उसे किसी आध्यात्मिक गुरु के पास विनीत भाव से जाना चाहिए।

अथ तृतीय मुण्डके द्वितीयः खण्डः ।

स वेदैतत्परमं ब्रह्म धाम यत्र विश्वं निहितं भाति शुभ्रम् ।
उपासते पुरुषं ये ह्यकामास्ते शुक्रमेतदतिवर्त्तन्ति धीराः ॥ १ ॥

१. जो मनुष्य निष्काम भाव से उस पवित्रात्मा परमेश्वर का पूजन करता है वह उस परब्रह्म, सब के आश्रय को,जिस में कि सारा विश्व स्थापित होकर उज्ज्वल प्रतीत होता है, जान लेता है । ऐसे बुद्धिमान् पुरुष तक संसार के सन्ताप पहुँच नहीं सकते ।

कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र तत्र ।
पर्य्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्व्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥ २ ॥

२. जो कामनाओं को चाहता है वह उन कामनाओं के विषयों में जन्म लेता है । लेकिन जो कामनाओं से परितृप्त हो चुका है और जिसने आत्मा को पा लिया है, उसकी कामनाएं यहाँ इस लोक में ही लोप होजाती हैं।

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन ।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनूं स्वाम् ॥ ३ ॥

३. वह परमात्मा न व्याख्यानों से, न बहुत सुनने से, और न मेधा बुद्धि से पाया जाता है। जो हृदय से उसको ढूँढता है वह उसे पालेता है । यह आत्मा अपनी महिमा उस मनुष्य सामने प्रकट करता है जो अपने आपको उसके लिए एक शरीर बना देता है ।

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥ ४ ॥

४. इस आत्मा को बलहीन और प्रमादी लोग नहीं पासकते, और न ही यह संन्यास-रहित तप से मिलता है । परन्तु जो मनुष्य उसे यथार्थ साधनों द्वारा ढूँढने का यत्न करता है वह अन्त को उस का अनुभव प्राप्त कर लेता है ।

संप्राप्यैनमृषयो ज्ञानतृप्ताः कृतात्मानो वीतरागाः प्रशान्ताः ।
ते सर्व्वगं सर्व्वतः प्राप्य धीरा युक्तात्मानः सर्व्वमेवाविशन्ति ॥ ५ ॥

५. ऋषि लोग जो ज्ञान से तृप्त हो चुके हैं, जिन्हों ने ब्रह्म ज्ञान प्राप्त कर लिया है, जो सब रोगों से रहित हैं, जो शान्त हैं, जिनका मन स्थिर है, और जिन की बुद्धि निर्मल है, वे अन्ततः उस में ठहरते हैं जो कि सब जगह उपस्थित है और जो सब स्थानों से प्राप्तव्य है।

वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः सन्न्यासयोगाद्यतयः शुद्धसत्त्वाः ।
ते ब्रह्मलोकेषु परान्तकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्व्वे ॥ ६ ॥

६. जिन लोगों ने वेदान्त के विज्ञान से परमात्मा का निश्चय कर लिया है, जिन की बुद्धियाँ त्याग से शुद्ध हो चुकी हैं, जिनको अपने आप पर पूर्ण अधिकार प्राप्त है, वे एक परान्त काल * तक मोक्ष को भोगने के बाद पुनः जन्म ग्रहण करेंगे ।

गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठा देवाश्च सर्व्वे प्रतिदेवतासु ।
कर्म्माणि विज्ञानमयश्च आत्मा परेऽव्यये सर्व्व एकीभवन्ति ॥ ७ ॥

७. उनकी पन्द्रह कलाएं लोप हो जाती हैं, सब इन्द्रियां अपने अपने

* परान्त काल=३१,१०,४०,००,००,००,००० वर्ष ।

तत्वों में विलीन हो जाती हैं, आत्मा और उसके कर्म्म सब श्रेष्ठ, सनातन, सर्वव्यापक ब्रह्म में एक हो जाते हैं।

यथा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रेऽस्तं गच्छन्ति नामरूपे विहाय।

तथा विद्वान्नामरूपाद्विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम् ॥ ८ ॥

८. जिस प्रकार नदियां समुद्र में गिर कर अपनी विशिष्टता, नाम, और रूप खो देती हैं, उसी प्रकार विद्वान् लोग दृश्य जगत् से अलग होकर उस दिव्य पुरुष को प्राप्त होते हैं जो सब में फैला हुआ है और उच्चतम से भी उच्चतर है।

स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

न स्याब्रह्मवित्कुले भवति। तरति शोकं तरति पाप्मानं गुहाग्रन्थिभ्यो विमुक्तोऽमृतो भवति ॥ ९ ॥

९. वह जो उस परम ब्रह्म को जानता है वह उस में ही लीन होजाता है। उसके कुल में ब्रह्म को न जानने वाला कोई उत्पन्न नहीं होता। वह पाप और शोक से ऊपर होजाता है, उसकी अविद्या की गांठें खुल जाती हैं, और वह अमर होजता है।

तदेतदृचाऽभ्युक्तं क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः। स्वयं जुह्वत एकर्षिं श्रद्धयन्तस्तेषामेवैतां ब्रह्मविद्यां वदेत शिरोव्रतं विधिवद्यैस्तु चीर्णम् ॥ १० ॥

१०. वेद भी कहते हैं—"यह ब्रह्मविद्या केवल उन्हीं को बतलानी चाहिए जो संन्यास का मुण्डन संस्कार यथार्थ रीति से पूरा करते हैं, जो ब्रह्मनिष्ठ, वेदवेत्ता, क्रियात्मक योगी हैं, जो अपने हृदयों में ज्ञानस्वरूप परमात्मा का आह्वान करते हैं, और जो सच्चाई और केवल सचाई से ही प्रेरित हुए हैं।"

तदेतत् सत्यमृषिरङ्गिराः पुरोवाच नैतदचीर्णव्रतोऽधीते।

नमः परम ऋषिभ्यो नमः परम ऋषिभ्यः ॥ ११ ॥

११. अङ्गिरा ऋषि ने सच कहा है कि जिसमें उपर्युक्त योग्यता नहीं है वह कभी ब्रह्म विद्या को प्राप्त नहीं कर सकता। दिव्य परम महर्षियों को नमस्कार है।

नोट—१. १, ५. इस मन्त्र का जो अर्थ दिया गया है वह हमें ठीक प्रतीत नहीं होता। शब्दार्थ ऐसा चाहिये—"उन में अपरा। ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त छन्द और ज्योतिष। और परा (वह) जिस से अविनाशी जाना जाता है।" यहां केवल अपरा में ऋग्वेदादि नहीं लिये जा सकते, क्योंकि वेदों से ही परा विद्या का भी विकास हुआ है। इसका

अधिक समाधान ऋषि दयानन्द प्रणीत भ्रमोच्छेदन पृ० १५, १६ में देखिये। हमारी सम्मति में 'अपरा' के पश्चात् पूर्ण विराम चाहिये। इसका ऋग्वेदादि से सम्बन्ध नहीं है। यहां तो ऋगादि चार वेदों के और षडङ्गों के नाममात्र दिये हैं। मन्त्र के अगले भाग में 'परा' विद्या का लक्षण किया है और इसका ही पहले अर्थ समझना चाहिये। यह इस लिये भी सत्य है कि पहले अर्थात् चतुर्थ मन्त्र में विद्याक्रम में परा का पहले कथन किया है, यथा परा चैवापरा च।' इस प्रकार यहां से अपरा का अर्थ निकलता है, अर्थात् जो परा नहीं, प्रत्युत सांसारिक विद्या है। और 'अथ' इस लिये कहा है कि संसार की रचनादि वा अपरा को जानने के पश्चात् परा का ज्ञान होता है।

१. २. १. इस मन्त्र का जो यह अर्थ कहा है कि "उनको (मन्त्रों को) ऋषियों ने तीन संहिताओं में विभक्त किया" सो यह ठीक नहीं। शङ्कर स्वामी ने 'त्रयी विद्या वा त्रेतायुग' अर्थ किया है। हमें यही कहना है कि स्पष्टार्थ ऐसे चाहिये—"वे कर्म्म त्रेता=त्रयी विद्या=चार वेदों में बहुत प्रकार से विस्तृत हैं।

३. २. ९. इस मन्त्र में ब्रह्मैव भवति का अर्थ किया गया है "इसमें ही लीन हो जाता है।" यह शब्दार्थ तो है नहीं, पर भावार्थ भी दूर का है। सत्यार्थ है इसका "ब्रह्म ही हो जाता है।" इस कथन से कोई हानि नहीं, क्योंकि भेदवाद तो फिर भी बना ही रहता है। उपनिषद् के इसी मन्त्र में पूर्व कहा गया है कि "परमं ब्रह्म वेद" अर्थात् जो परम ब्रह्म को जानता है। इस से क्या आया कि परम ब्रह्म के जानने वाला ब्रह्म तो हो जाता है, परन्तु परम ब्रह्म नहीं बनता। यहां ब्रह्म=महती शक्ति=आत्मा=जीवात्मा है और परम ब्रह्म=पराकाष्ठा को प्राप्त महती शक्ति=परमेश्वर=परमात्मा है। बृहदारण्यक चतुर्थाध्याय में चक्षुर्वै ब्रह्म. चक्षुर्वै परमं ब्रह्म में ब्रह्म शब्द का महान्, परम महान् ही अर्थ है। पं० शिवशङ्कर छान्दोग्योपनिषद्भाष्य पृ० ४८८, ८९ में ब्रह्मन् शब्द की समीक्षा करते हुए भवति का अर्थ भू भासौ से "पाता है" करते हैं। पण्डित स्वामी अच्युतानन्दजी ब्रह्मैव भवति का अर्थ करते हैं 'ब्राह्मण ही होता है'। प्रमाण इसका महाभाष्य और बृहदारण्यक उपनिषद् में क्रमशः ऐसे मिलता है:—ब्रह्म वै ब्राह्मणः। अथ य एतदक्षरं गार्गि! विदित्वाऽस्माल्लो कात्प्रैति स ब्राह्मणः।

३. २. १०. यहां ऋचा का अर्थ वेद नहीं चाहिये। यह मन्त्र चारों वेदों में नहीं। किसी पुराने ऋषि ने यह स्तुति गाई है, अतः इसे ऋचा कहा है।

भगवद्दत्त

* ओ३म् *

वेद-वाक्य ।

नम्बर १.

२८ दिसम्बर १८८६.

वायु मण्डल ।

वायवायाहि दर्शतेमे सोमा अरंकृताः ।
तेषां पाहि श्रुधी हवम् ॥ ऋ० मं० १ सू० २ मं० १।

जो वायुमण्डल हमारी पृथ्वी को एक विशेष उंचाई तक चारों ओर से घेरे हुए है उस से बढ़ कर संसार में और कोई भी वस्तु भगवान् के उदार दान को दर्शाने वाली नहीं । यह वाष्पमय आवरण लचकदार और साथ ही पतला भी है । हलकापन इसका विशेष गुण है । इसी से यह हलके से हलके संक्षोभ से भी प्रभावित होजाता है ।

कल्पना कीजिए कि लोहे का एक बड़ा पिण्ड, एक ही दशा में, निश्चेष्ट पड़ा है, और कल्पना कीजिए कि एक भारी पत्थर या ठोस गेन्द लोहे के इस बेडौल पिण्ड पर फेंका गया है । देखिये क्या परिणाम निकलता है। आप देखेंगे कि वह बेडौल पिण्ड कैसी भद्दी तरह आवेग की आज्ञा का पालन करता है,वह निश्चेष्ट पिण्ड टक्कर मारने वाले पत्थर की कार्य्यशक्ति के साथ सजीव होने के लिए कैसी अनिच्छा से अपनी जड़ावस्था का परित्याग करता है । इस जड़ पिण्ड और वायुमण्डल में कितना भारी भेद है । वायु का प्रत्येक अणु, हल्का और लचकदार होने के कारण,बाहर की सभी शक्तियों के इतनी जल्दी अधीन होजाता है, और, अपनी गतिशीलता के कारण, आवेग को अपने आप इतना बढ़ा देता है कि एक बहुत हलकी थरथराहट से भी यह वायु में अणुओं के उन्मुक्त मार्ग पर दौड़ने लगता है, यहां तक कि एक और अणु के साथ उसकी ताज़ा टक्कर लगती है । यह दूसरा अणु तत्काल उठ खड़ा होता है और अपने काम पर चल पड़ता है, मानो पहले से ही प्रतीक्षा कर रहा था । दूसरा अणु पहले अणु की आज्ञा का पालन करता है और तीसरा अणु दूसरे की आज्ञा का इत्यादि ।

केवल थोड़े से ही क्षण बीतने पर,(पांच या छः सेकण्ड से अधिक नहीं) आंख झपकने में वायु के व्यापक महासागर का एक विशाल प्रान्त—कोई एक

मील क्षेत्रफल ११०० फुट से ५ गुना लम्बा प्रान्त—अतीव सुन्दर तरङ्गों से भर जाता है। तनिक कल्पना कीजिए कि वायु के अणु कैसे शीघ्रग्राहक और सूक्ष्म हैं। क्या पङ्खों की हलकी से हलकी फड़फड़ाहट और क्या शरीर से निकलते रहने वाला चुपचाप सांस कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो वायु के प्रान्तों के प्रान्तों को उत्कृष्ट तरङ्गों से न भर दे।

इस प्रकार इस गतिशील वायु के द्वारा थरथराहटें प्रकाण्ड वेग के साथ आगे से आगे भेजी जाती हैं। वायु के अणुओं के अदृश्य कौशलपूर्ण नकशे बन जाते हैं। इन चित्रों का सौन्दर्य्य अवर्णनीय होता है। कवि इमर्सन ने वास्तविक अवस्था का सच्चा चित्र इस प्रकार खींचा है—

"यह हो नहीं सकता कि तुम वायु में अपनी छड़ी को घुमाओ और वायु का ललाट सौन्दर्य्य से परिपूर्ण न होजाय। या तुम अपने चप्पू को झील में डुबाओ और तरङ्ग माला रूपी पद्यावली न बन जाय।"

वायु के गतिशील पङ्खों के द्वारा ही फूलों की महक, इत्रों की सुगन्ध, और वस्तुओं की दुर्गंध अतीव दूर देशों तक उड़ कर चली जाती है। इस से गति का एकरूपता तथा सुस्वरता के साथ मेल कराने वाली व्यापकता उत्पन्न होती है। तो क्या फिर विधाता की इस अद्भुत रचना के लिए हवा (एअर air) जैसे भद्दे, निरर्थक, अधूरे, और अस्पष्ट नाम की अपेक्षा एक हलना, गतिशील, थरथराहटों को आगे पहुँचाने वाला, दुर्गन्धों को उठाकर ले जाने वाला माध्यम अच्छा और ठीक नाम नहीं? वैदिक शब्द वायु, जिस के साथ ऊपर दिया मंत्र आरम्भ होता है, ठीक वही अर्थ देता है, जो ऊपर की पंक्ति में मोटे टाइप में छपे हैं।*

हमने देख लिया कि जिन अणुओं से वायु बना है उनके भौतिक विशेष-गुण क्या हैं। अब हमें विचार करना है कि ये क्या क्या दृश्य-चमत्कार पैदा करते हैं। पृथ्वी पर पड़ने वाली सूर्य्य की किरणें पृथ्वी के स्तरों को गरम करती हैं, फिर ये आगे अपनी समीपवर्ती वायु की तहों को गरम करती हैं। वायु की यह तहें गरम होने पर हलकी होकर ऊपर चढ़ जाती हैं। इन गरम तहों के ऊपर चढ़ जाने से जो शून्य उत्पन्न होता है उसे भरने के लिए पवन

* वायु निरुक्तकार ने वा धातु से; जिसका अर्थ हिलना, गंधमय पदार्थ को उठाकर लेजाना है, या वाह से, जिसका अर्थ थरथराहटों को दूर तक पहुँचाना है, निकाला है। यह सदा तरंगों के रूप में बहता रहता है। दृष्टि और अन्य रूपों के विस्तार का कारण है। वह पौधे को हवा आदि भोजन देता है, और वनस्पतियों तथा पशुओं में साम्य स्थिर रखता है। इसी के प्रताप से हमारा और बाकी सब का शब्द सुनाई देता है।

की ठण्डी तहें वहां शीघ्रता से पहुंचती हैं। वे भी फिर गरम होकर ऊपर चढ़ जाती हैं और वायु की वैसी ही और तहों के आगमन के लिए स्थान खाली कर देती हैं। इस प्रकार गर्मी का एक तेज़ दौरा जारी रहता है। इसी से वायु-प्रवाह उत्पन्न होते हैं। चलने वाली सब हवाएं ठीक इसी प्रकार की होती हैं। व्यापारी-हवाएं कहलाने वाली उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी हवाएं भी इसी प्रकार उत्पन्न होती हैं।

पृथ्वी के जो भाग विषुवरेखा के निकट हैं उन्हें दूसरे भागों की अपेक्षा सूर्य्य का ताप सदा ही अधिक मिलता है। पृथ्वी के उन भागों को स्पर्श करने वाले वायु के स्तर ऊपर उठते हैं, और उत्तर और दक्षिण से ठण्डा पवन विषुवरेखा की ओर दौड़ने लगता है। यह पवन पृथ्वी की चक्कर की तरह घूमने वाली गति के साथ मिलकर उत्तर-पूर्वी और दक्षिण-पूर्वी हवाओं को जन्म देता है। अतएव, पहले तो, हम यह देखते हैं कि वायु सदैव घूमता रहता है और लहरें उत्पन्न करके उन्हें सदा चलाता रहता है। इसलिए यह वायु (आयाहि) लहरों के रूप में सदा चलता रहता है।

दूसरे, देखिए कि प्रकाश के चमत्कारों को परिवर्तित करने में इसका क्या प्रभाव है। नाना सूर्य्यों और तारों से आने वाला प्रकाश अन्ततः आकाश में बहुत ऊँचाई पर वायु के अत्यन्त सूक्ष्मीभूत स्तरों के साथ टकराता है। शून्य से वायु में प्रवेश करते समय, प्रकाश की ये किरणें मुड़ जाती हैं, और वक्रीभवन के कारण एक मुड़े हुए मार्ग का अवलम्बन करती हैं। यदि वायु के निचले स्तर, जिनमें से इन किरणों को गुज़रना पड़ता है, एक जैसे ही गरम होते, तो वायु के पहले स्तर के संसर्ग से एक बार मुड़ जाने पर प्रकाश की किरण फिर वायु में सीधी ही चलती। परन्तु, भिन्न भिन्न तापों, अतएव, भिन्न भिन्न घनताओं वाले वायु के स्तरों को मिलने में यह यात्रा में पग पग पर थोड़ा थोड़ा टेढ़ी होती जाती है, यहां तक कि ये किरणें सब विचित्र मार्गों, सब प्रकार के अनन्त टेढ़े मेढ़े पथों में से होती हुई अन्ततः ऐहिक पदार्थों तक, और हमारे नेत्रों तक, पहुंच कर दृष्टि को उत्तेजित करती हैं। दृष्टि के विषय को ये कैसी अद्भुत रीति से विस्तृत और परिवर्तित कर देती हैं यह बात अब स्पष्ट हो जायगी। यहां तक कि अतीव मायिक रूप जिसे "मृगतृष्णा" कहा जाता है, जो तप्त बालुकामय मरुस्थलों में पथिकों को प्रायः दिखाई देता है, उसका कारण भी वायु के तप्त स्तरों के बने हुए असंख्य पृष्ठों पर प्रकाश का परावर्तन और वक्रीभवन ही है। अतएव यह वायु का ही प्रताप है जो हम न केवल प्रकाश के स्रोत, सूर्य्य, की दिशा में ही प्रत्युत शेष सब दिशाओं में भी देखनेमें समर्थ हैं। इस प्रकार यह हमारी दृष्टि के विषय को विस्तृत कर देता है। मृगतृष्णा

ऐसे मायिक दृश्य-चमत्कारों अथवा रूपों के दृष्टिगत होने का कारण भी वायु ही है। इसलिए, हमारा वायुमण्डल वायु की तरङ्गें उत्पन्न करने के अतिरिक्त हमारी दृष्टि की दूरी को बढ़ाता, और मरीचिका सरीखे दृश्य-चमत्कारों का कारण है। तब ही हम ऊपर दिए वेदमन्त्र में दर्शता शब्द देखते हैं। इसका अर्थ है दृष्टि तथा अन्य रूपों के विस्तार का कारण।

प्रकृति के प्रबंध में एक और अतीव महत्वपूर्ण भाग जो वायु लेता है वह वनस्पतियों के प्रतिपालन और रक्षण का काम है। वायु में कार्बानिक एसिड की एक विशेष मात्रा सदा ही विद्यमान् रहती है। यह मात्रा चाहे कितनी ही थोड़ी क्यों न हो पशु जगत् और वनस्पति जगत् में साम्य बनाए रखने के लिए पर्याप्त है। वृक्षों और पौधों के शरीरों का एक अत्यावश्यक भाग कार्बन है। यह कार्बन वे सारी की सारी वायु से लेते हैं। पौधों के पत्तों में एक प्रकार का द्रव्य होता है जिसे क्लोरोफिल कहते हैं। क्लोरोफिल प्रकाश की विद्यमानता में वायु के कार्बानिक एसिड गैस को फाड़ डालता है। इस तोड़ फोड़ (पृथकरण) से जो कार्बन निकलता है उसे पौधे अपने अन्दर मिला लेते हैं और आक्सीजन छूटकर बाहर निकल जाती है। कार्बानिक एसिड से निकली हुई इस आक्सीजन से पशु सांस लेते हैं। जीवों के जीवन का आधार उनके शरीरों की गरमी है। जब तक यह गरमी बनी रहती है वे जीते रहते हैं। यह गरमी पशु-शरीर की कार्बन के आकसीजन के साथ जलने से उत्पन्न होती है। इस प्रकार सारे पशु सांस के साथ आकसीजन खाते और कार्बानिक एसिड बाहर निकालते हैं, साथ ही सब पौधे कार्बानिक एसिड का कार्बन अपने अन्दर सोख लेते हैं। इस प्रकार पशुओं और पौधों के बीच वायु मध्यम का काम देता है। इन्हीं कारणों से सभी पशुओं और पौधों का जीवन वायु के आश्रय है। वायु न केवल पशुओं और पौधों के अस्तित्व के लिए ही आवश्यक है प्रत्युत यह इन दोनों श्रेणियों के बीच गतिशास्त्रविषयक समता बनाए रखने के लिए भी आवश्यक है। वेद में सोम शब्द मिलता है। इसका अर्थ है पृथ्वी से निकलने वाली कोई वस्तु पर। विशेषतः यह नाम वनस्पति का है क्योंकि जिस भूमि से यह उगती है उसी के आश्रय रहना इसके लिए अनिवार्य्य है। इसी लिए वेद मंत्र में सोमा अरंकृताः तेषां पाहि आया है। इसका अभिप्राय यह है कि वायुमण्डल पौधों को श्वास के लिए पवन और खाने के लिए भोजन देता है, और वनस्पतियों और पशुओं के बीच साम्य रखता है।

वायु के दृश्य-चमत्कारों पर विचार करते हुए ध्यान में रखने योग्य एक और बात यह है कि यह सब शब्दों को लेजाने का काम करता है। मनुष्य को प्रायः बोलने वाला पशु कहा जाता है। इस में सन्देह भी नहीं कि

बोलने की शक्ति ही मनुष्य का एक बड़ी सीमा तक दूसरे पशुओं से भेद कराती है। अब यह वाणी जोकि इन अर्थों में, हमारे उत्कर्ष और सभ्यता का मूल है, अवश्य ही उच्चरित शब्दों की बनती है। यदि वायु न होता तो इन शब्दों से हम कुछ भी लाभ न उठा सकते। तब वायु भी शब्दों को लेजाने के लिए एक माध्यम है। यही सचाई ऊपर दिए मंत्र के पिछले शब्दों में—श्रुधि हवम्—में वर्णन की गई है, अर्थात् यह हमारे शब्दों और अन्य ध्वनियों को सुनाना है।

नम्बर ?.

१३ जुलाई १८८६

जल की रचना।

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्। धियं घृताचीं साधन्ता॥

ऋ० मं० १। सू० २। मं० ७॥

ऋग् शब्द द्रव्यों के स्वभावों, विशेषगुणों, और उन से उत्पन्न होने वाली क्रियाओं और प्रतिक्रियाओं का सूचक है। इसीलिए इसका प्रयोग ऋग्वेद के लिए हुआ है क्योंकि इस वेद का काम सब स्थूल पदार्थों के भौतिक, रसायनिक और कर्मोद्युक्त विशेषगुणों और मानसिक द्रव्यों के आध्यात्मिक गुणों का वर्णन करना है। पदार्थों के ज्ञान के अनन्तर उस ज्ञान का क्रियात्मक उपयोग है, क्योंकि सारे ज्ञान का कोई उद्देश है और वह अन्त मनुष्य के लिए उसकी उपयोगिता है। अतएव ऋग्वेद के पश्चात् यजुर्वेद आता है। यजु का अर्थ उपयोग है। आर्य्यों के पाठक्रम, अर्थात् वेदों की ऋग् और यजु में बांट इसी उदार और व्यावसायिक (वैज्ञानिक) शिक्षा के दूहरे सिद्धान्त पर आश्रित है।

वेदों के विषय में आर्य्यों के इस भाव पर हमें हँस नहीं देना चाहिए क्योंकि इस भाव को सत्य ठहराने के लिए पर्याप्त कारण हैं। यह कोई नूतन भाव नहीं। हिन्दुओं के पुराण भी जोकि वैदिक अर्थ और वैदिक आशय का भ्रष्ट और गर्ह्य मोड़तोड़ हैं, इसी भाव के पोषक हैं। सारी शिक्षा का उदार और व्यावसायिक भागों में विशाल और सार्वत्रिक भेद पौराणिक देवमाला में सर्वथा भुला दिया गया है। बाकी सब वस्तुओं की तरह इसे सुकेड़ कर उथले विचार का एक संकीर्ण और मूढ़विश्वासमूलक चक्र बना दिया गया है। उदार और व्यावसायिक विद्याओं की सार्वत्रिक पाठ्य पुस्तकें समझी

जाने के स्थान में वेद अब केवल धार्म्मिक विचार की संहिताएँ समझे जा रहे हैं। मनुष्य-प्रकृति की सर्व कर्म्मोद्युक्त प्रवृत्तियों का पथप्रदर्शक नियम स्वीकृत होने के स्थान में वे अब विशेष मतों और सिद्धान्तों के पर्याय माने जा रहे हैं। यही हाल ऋग् और यजुर्वेद का है। फिर भी आर्य्यों के विचार और बुद्धि के इस विकृत अवशिष्टांश में—पौराणिक देवमाला में—वेदों की ऋग् और यजु अर्थात् उदार और व्यावसायिक में बाँट भक्तिभाव के साथ सुरक्षित पड़ी है। ऋग् का तात्पर्य अब विविध देवताओं और देवियों के वर्णन और स्तुति के गीतों और स्तोत्रों का संग्रह है, और यजु का अर्थ धार्मिक विधियों के आवश्यक भाग, अर्थात् अनुष्ठान, में बोले जाने वाले मंत्र होरहा है। जिन्हे आज कल विद्वान् कहा जाता है उन का यही मत है।

फिर भी हमें मौलिक भेद को बिलकुल ही भूल न जाना चाहिए। इसके अन्दर बहुत कुछ ऐसा है जो इसे बनाए रखने की सिफारश करता है। इस लेख के आरम्भ में जो वेद मंत्र दिया गया है वह ऋग्वेद के दूसरे सूक्त का है। ऋग्वेद के विषय में आर्य्यों का जो मत है उसे सत्य ठहराने के लिए ही यह नमूने के तौर पर उद्धृत किया गया है। यह मंत्र उस रीति या क्रम [धियं] का वर्णन करता है जिस से प्रसिद्ध द्रव, अर्थात् जल, दो और पदार्थों (घृताचिम् साधन्ता) के संयोग से बनाया जा सकता है। साधन्ता शब्द द्विवचन है। इसलिए यह इस बात का सूचक है कि दो मूल पदार्थ मिलकर ही जल बनाते हैं। इस मंत्र के अनुसार, वे दो मूल पदार्थ कौन कौन से हैं इस बात का निश्चय करना कुछ कम महत्व की बात नहीं। उन दो पदार्थों को प्रकट करने के लिए मित्र और वरुण का प्रयोग हुआ है।

मित्र* का पहला उदार अर्थ मापने वाला है। यही नाम उस पदार्थ का है जो माप या मान-वस्तु का काम देता है। यह बनता या मूल्य का मापक है। मित्र का दूसरा अर्थ "सहकारी" है। इस मंत्र में मित्र को वरुण† का सह-

* अमिचिमिशसिभ्यः क्रः। उण० ४। १६४॥ इस सूत्र के अनुसार मित्र शब्द मि धातु के साथ उणादि प्रत्यय क्र लगाने से बनता है। इसका अर्थ है मिनोति मान्यं करोति मित्रः, अर्थात् जो मापता है या दूसरे को मापने के लिए आदर्श का काम देता है।

† फिर निघण्टु के पांचवें अध्याय, चौथे प्रकरण मे मित्र इतिपदनामसु पठितम् मिलता है। निघण्टु वेदों का कोश है। इस लिए मित्र का अर्थ है वह जो दूसरों का संग ढूंढता है।

कारी बनाया गया है। यह बताया जायगा कि वरुण किस तरह आक्सीजन *
गैस को प्रकट करता है। अब यह बात हर कोई जानता है कि मूल पदार्थों में
हाईड्रोजन न केवल सब से हलका ही है, न केवल monovalent ही है, प्रत्युत
इस में आक्सीजन के लिए प्रबल प्रीति भी है। इसलिए इसे वरुण का सह-
कारी बनाया गया है। मित्र और हाईड्रोजन के विशेष गुणों में और अनेक
सादृश्य ऐसे हैं जो संकेत करते हैं कि जिसे वैदिक मंत्र में मित्र कहा गया है
वह और हाईड्रोजन वास्तव में एक ही पदार्थ है। उदाहरणार्थ, वेद के अनेक
स्थलों में मित्र और उदान तुल्यार्थवाचक हैं। और उदान का विशेषगुण
हलकापन या ऊपर उठाने की शक्ति है।

दूसरा मूल पदार्थ, जिस के साथ हमारा सम्बन्ध है, वरुण है। वरुण
वह पदार्थ है जो सब के लिए ग्रहणीय है। यह वह मूल-पदार्थ है जिस की
प्रत्येक प्राणधारी को जीवित रहने के लिए आवश्यकता है। इसका प्रसिद्ध
गुण रिशादः है, अर्थात् यह सब नीच धातुओं को खा जाता या ज़ंग लगा देता
है; यह सब हड्डियों आदि को जलाता है, और शरीरशास्त्र की रीति से लहू को
जलाकर इसे शुद्ध करता और इस प्रकार शरीर को जीवत रखता है। यही
गुण हैं जिन से साधारणतः वरुण पहचाना जाता है, पर यहां इसे विशेष तौर
पर रिशादः धर्म्म से निरूपित किया गया है। कोई भी व्यक्ति यह कहने में
गलती नहीं कर सकता कि जिस पदार्थ को ऐसी स्पष्ट रीति से निरूपित किया
गया है वह आक्सीजन गैस है।

मंत्र में एक और शब्द पूतदक्षम् आया है। पूत का अर्थ पवित्र और
मलिनताओं से रहित है। दक्ष कहते हैं शक्ति को। पूतदक्षम् का अर्थ पवित्र
और गमनशील शक्ति वाला पदार्थ हुआ। और कौन ऐसा व्यक्ति है जो गैसों
के गतिविधान-सम्बन्धी नियम को जानता हो और फिर पूतदक्षम् में एक
अतीव गर्म की हुई गैस के विशेष गुण न देख सके?

सारे मंत्र का अर्थ इस प्रकार है—जो व्यक्ति दो पदार्थों के संयोग से
जल बनाना चाहता है उसे चाहिए कि बहुत गरम की हुई हाईड्रोजन और
रिशाद् धर्म्म वाली आक्सीजन गैस ले, और दोनों को मिलाकर जल बना ले।

निस्सन्देह, यह बात बड़ी विचित्र प्रतीत होगी कि जिस समय जल की

* वृ-धातु का अर्थ स्वीकार करना है, कृवृदारिभ्य उनन् ३। ५३॥ इस धातु के साथ उणादि प्रत्यय का उनन् लगाने से वरुण बना है। इस लिए इसका अर्थ है—जो सब के लिए ग्रहणीय है या जो सब को चाहता है।

रचना पर कैवेंडिश ने अपना प्रयोग किया, जिस समय पश्चिम के तत्ववेताओं को आक्सीजन और फलोजिस्टन मालूम हुए उसके बहुत काल पहले जल की रचना का वास्तविक तत्त्वज्ञान वेदों में लिखा हुआ था और कदाचित् पूर्व के अनेक तत्ववेता इसे जानते थे।

हमारे पाठकों में से कोई यह कल्पना न कर ले, कि वेद मंत्र की ऊपर दी हुई व्याख्या लेखक के मस्तिष्क की केवल काल्पनिक उपज है। वास्तव में, यह व्याख्या वेदों के पहले-से-मौजूद भाष्यों के आधार पर की गई है। क्या प्राचीन भाष्यों और क्या स्वामी दयानन्द के भाष्य में बहुत कुछ ऐसा सामग्री है जो सब मंत्रों के ऐसे ही अर्थ सुझाता है। ओं शम्॥

नम्बर ३.

गृहस्थ ।

गृहस्थके विषयपर ऋग्वेद के पहले मण्डल, १०वें अनुवाक, ५०वें सूक्त के पहले, दूसरे, और तीसरे मंत्र की वैज्ञानिक व्याख्या ।

उदु त्यं जातवेदसं देवं वहन्ति केतवः । दृशे विश्वाय सूर्य्यम् ॥१॥

गृहस्थाश्रम के विषय पर ऋग्वेद के पचासवें सूक्त के कुछ मंत्रों की व्याख्या आरम्भ करने के पहले, मैं उन प्राचीन ऋषियों के साथ न्याय करते हुए, जो उस काल में रहते थे जब कि, जितना इस समय बायबल, ज़िन्दावस्था, और कुरान का पूजन होता है उससे अधिक सरल, निर्व्याज, और यथार्थ रीति से वेद का पूजन होता था और जब कि उसका अधिक ठीक अर्थ समझा जाता था, हां उन्हीं ऋषियों के साथ न्याय करते हुए यह कह देना चाहता हूं कि प्रकृति की अनेक परिस्फुट और अधिक गहन शक्तियां उनके मनों के लिए सीढ़ियां थीं जिनके द्वारा कि वे भौतिक पदार्थों की निचली गहराइयों से दिव्य ध्यान को स्वर्गीय ऊंचाइयों तक चढ़ते थे। उनका विचार भौतिक शक्तियों के सोपान पर सुपरिचित रीति से चढ़ता रहता था यहां तक कि उसे दिव्य सत्ता की झलक दृष्टिगोचर हो जाती थी। इस प्रकार प्राप्त किए हुए प्रकाश के साथ पुष्ट होकर वह उसी मार्ग से वापस लौट आता था और अपने भाइयों, अर्थात् सारी मानव-जाती को उस उदारता का भाग देता था। मैं कहता हूं कि जब कि मैं इस स्वर में बोल रहा हूं मैं अपने निज के अनिश्चित, अनियत भावों, अपनी चंचल और संकीर्ण कल्पना की फुसफुसाहटों का प्रकाश नहीं कर रहा। जातीय अभिमान, पक्षपात, या रिवाज की वेदी पर बलिदान रूप से कोई श्लाघा के शब्द नहीं। प्रत्युत इसमें सन्देह नहीं कि जो उच्च जीवन ऋषि बिताया करते थे उनका यह निर्व्याज पर अधूरा वर्णन है। परन्तु सृष्टि के आरम्भ में होने वाले चार ऋषियों—अग्नि, वायु, आदित्य, और अङ्गिरा—की अवस्था अधिक उच्च और विचित्र रीति से रमणीय थी। आर्यों के विश्वासानुसार इन ऋषियों की मनः शक्तियां वेद के प्रकाश से प्रकाशित थीं। सिर को चकरा देने वाली ऊँचाइयां जिन पर बिना किसी विभ्रांति के ऋषियों के विचार चढ़ा करते थे, टेढ़े मेढ़े गोरख धन्दे जिनमें से उनकी बुद्धियां, व्याकुल और क्लान्त होने के स्थान में प्रयत्न से पुष्ट और प्रसन्न होकर दिव्य सङ्कल्प की

एकता का पता लगाया करती थीं, ये ऐसी सचाइयां हैं जिनको हम-सभ्यता के युग, उन्नीसवीं शताब्दि के मुग्ध दुलारे-अनात्मवादी विज्ञान की गोद में पले हुए, और युक्ति और अनुमान की कठिन रीतियों द्वारा आविष्कृत तथा जुदा जुदा सचाइयों के कोयलामय भोजन और घटना प्रधान कल्पनाओं और प्रतिज्ञाओं के शोरामय खाद्यों द्वारा आश्रित भारी भारी सचाइयों के दूध से पोषित दुलारे-सुगमता से समझ नहीं सकते। इन ऋषियों की सत्यानुरागिनी, काव्य प्रेमी, और सौन्दर्य्य-प्रशंसक प्रकृति आधुनिक लोगों के लक्ष्मीपूजक, व्यावहारिक, उपयोग-प्रशंसक, और कठोर मनों से बहुत भिन्न थी। तब, कोई आश्चर्य की बात नहीं जो कि इस खोज और उद्योगिता के युग में हम वैदिक ज्ञान के इतने थोड़े वृत्तिकार पाते हैं। सांप्रदायिक मूर्ख और धार्म्मिक पक्षपात का चशमा लगाने वाले सचाई को इसके अनुगामियों या भक्तों की संख्या से मापते हैं। अतएव ईसाई लोग कह सकते हैं कि संसार में हमारी सब बढ़ी हुई संख्या, इस बात का प्रमाण है कि ईसाई मत ही एक ऐसा विधान है जिसके सारे संसार में फैलने की परमेश्वर ने व्यवस्था की है। पर वैदिक सचाई की बात इससे सर्वथा भिन्न है। यह सचाई नित्य है। यह अन्य मतों की तरह आज या कल की उत्पत्ति नहीं। वैदिक सचाई का प्रमाण इसके बढ़ने और फैलने की शक्ति नहीं प्रत्युत इसकी आज और कल एक समान बना रहने की अन्तर्निरूढ़ शक्ति है। "मनुष्य और समाजें, पंथ और सम्प्रदाय संसार के दिवस की केवल नश्वर चीज़ें हैं। वज्र की चिटान पर ऊंची बैठी हुई सचाई ही नित्य और श्रेष्ठ है।"

जगदीश्वर और प्रकृति की यही सचाई आदि चार ऋषियों को समझने के लिए दी गई थी। हमारी दैवज्ञान से शून्य आंखें चाहे इधर उधर, चिटानों से वनस्पतियों तक और वनस्पतियों से मनुष्यों तक एकता ढूंढ़ती फिरें और उन्हें इसमें सफलता न हो; पर उन चार ऋषियों के दैवज्ञान-प्राप्त मन प्रत्येक पदार्थ में दिव्य मन की एकता को देख सकते थे। खनिज पदार्थ, वनस्पतियां, और पशु सब उनके लिए एक पुस्तक के समान थे जिसमें कि उन्हें केवल परमेश्वर की शक्ति, न्याय, और प्रज्ञा का ही पाठ पढ़ने को मिलता था। ईश्वरीय ज्ञान की उज्वलता के कारण उनके मानसिक नेत्रों के सामने प्रकृतिचित्र-सदूर भविष्य में मानवी संस्थाओं, सिद्धियों, और आकांक्षाओं के चित्र-पहले से आ उपस्थित होते थे, और इन सब में वे परम पिता की अन्तरात्मा को पैतृक चिन्ता के साथ अपनी सन्तान के मङ्गल और आनन्द के लिए सनातन सङ्कल्पों पर विचार करता हुआ देखते थे। पाठक, एक बार कल्पना कीजिए कि आप इस उदात्त अवस्था में हैं। तब ही आप वैदिक मंत्रों का गहरा अर्थ समझने और ग्रहण करने के योग्य होंगे। यह गहरा अर्थ सब कहीं आध्यात्मिक है। मंत्र और

मंत्र के बीच एक सूक्ष्म और बहुत श्रेष्ठ शृङ्खला है। यह केवल ऐसी अभ्युदय की-घड़ियों में ही देखी जा सकती है।

हमें यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि आन्तरिक का समझना सदा अधिक कठिन होता है। आधुनिक पण्डित, जिसकी इन्द्रियों की शक्तियां भौतिक दृश्य-चमत्कारों में पैदा होने वाले परिवर्तनों और रूपों को ध्यानपूर्वक देखने के लिए सिखाई गई हैं, चाहे मंत्र और मंत्र के बीच कोई सम्बंध और संगति न देखे। उसे वेद भले ही उन अलग अलग प्रार्थनाओं का संग्रह मालूम हों जो कि वायु और वर्षा आदि प्रकृति की शक्तियों को देवता समझ कर उन के सामने की गई थीं। लेकिन एक सच्चे और सोद्यम जिज्ञासु के लिए, जो मेरी ऊपर वर्णित उन्नत अवस्था में प्रविष्ट हो चुका है, मंत्रों के अन्वय में वह युक्ति सिद्ध संगति और दार्शनिक परम्परा पाई जाती है जिसे केवल ईश्वरीय ही कहा जा सकता है। वेदों का अध्ययन हमें उसी भाव से करना चाहिए जिस का नमूना ५०वां सूक्त उपस्थित करता है।

मैं पहले कह चुका हूं कि ऋषियों के मतानुसार ब्रह्माण्ड एक सीढ़ी है जिसके साथ साथ देवज्ञान, प्राप्त मन, ईश्वर-चिन्तन तक चढ़ता है। ऋग्वेद के ५०वें सूक्त के इस मंत्र का विषय ठीक यही है।

अन्धेरी रात्रि में जब कि वर्षा होरही थी और अन्धेरी चल रही थी, निःशब्दता और गहरी निद्रा के समय एक चोर एक शान्त परिवार के धनागार में प्रविष्ट हुआ और सब बहुमूल्य रत्न और सम्पत्ति चुरा ले गया। माल पाने की खुशी में वह बीस मील गीली भूमि पर ही वापस दौड़ आया। वहां आकर वह समझने लगा कि अब मुझे पकड़ने वाला कोई नहीं। पर सवेरा हुआ, और घर का स्वामी जागा। उसे अपने घर की चोरी का पता लगा। निर्भयता और स्थिरता के साथ, पर शान्तचित्त होकर, वह चोर के पाद-चिह्नों पर चल पड़ा, और शनैः शनैः परन्तु निश्चित रूप से समागमस्थान पर जा पहुंचा, और उसने चोर को चुराए हुए धन सहित पकड़ लिया। यह एक उपमिति मात्र है। मुझे चोरी और सम्पत्ति से काम नहीं। मेरा सम्बन्ध, किसी चोर के पाद चिह्नों से नहीं, प्रत्युत ब्रह्माण्ड के आकार पर बने हुए स्रष्टा के पादचिह्नों से है। वह बुद्धिमान् जिस ने अपनी बुद्धि को **विश्वजनीन शुभेच्छा से प्रकाशित** कर लिया है, (सजोषा धीराः) जो **आदि कारण** को **मालूम करने पर झुका हुआ है**, वह अपनी खोज आरम्भ करता है और शनैः शनैः, पर दृढ़ता से, प्रकृति के स्रोत की ओर चलता हुआ परमेश्वर पर जा कर ठहर जाता है। वहां, बुद्धि की जिज्ञासु और बेधक कार्य-

शक्तियां ठण्डी होकर तृप्त होजाती हैं, और इस प्रकार पाये हुए ख़ज़ाने का उपभोग करती हुई शान्त विश्राम में लेट जाती हैं। ऐसे मन के लिए इस विश्व के भिन्न भिन्न पदार्थ क्या हैं? वे जगदीश के पादचिह्न हैं, वे बुद्धि की दिव्य किरणों के अपने कर्म-मार्ग के साथ साथ बनाए हुए निशान हैं। जैसाकि वेद मंत्र में वर्णित है वे ठीक वैसे ही (केतवः) झण्डे, मार्ग को दिखलाने वाली बल्लियां, और घाट के निशान हैं जो एक स्वर के साथ उस (त्वम्) को दिखलाते हैं जिस से कि सारा ज्ञान (जातवेदसम्) निकला है। वह (देवम्) सनातन सूर्य्य है जो सदैव चमकता रहता है। उसी के कारण हम विश्व के इस महान् सर्वदिग्दर्शक चित्र को देखते हैं (दृशे विश्वाय सूर्य्यम्)। भौतिक ब्रह्मांड के सूर्य्य की भी यही अवस्था है। क्या तुम प्रकृति की चित्रविचित्र वस्तुओं को देखना चाहते हो? तब अन्तरिक्ष के चमत्कारों के बीच खेलने वाली सूर्य्य की रश्मियों का अध्ययन करो, और देखो कि वे तुम्हें कहां लेजाती हैं। वे हमें सूर्य्य के गोले तक लेजाती हैं। वास्तव में; जो कुछ हमें दिखाई देता है उसका कारण यही सूर्य्य है, क्योंकि न केवल नक्षत्रों का उपादान ही सूर्य्य से निकला है प्रत्युत स्वयम् वह प्रकाश भी, जो नाना वर्णों और नाना रूपों वाले भौतिक पदार्थों के अस्तित्व को हम पर प्रकाशित करता है, सूर्य्य को ही अपना स्रोत उद्भव बता रहा है। तो क्या तुम फिर विश्वदर्शन करना चाहते हो? तब, ध्यानपूर्वक देखो कि विश्व तुम्हें नक्षत्र-जगत् के चमत्कार—सूर्य्य—की ओर संकेत करता है। क्या तुम अपने नश्वर जीवन के दिन शाश्वत आनन्द और शान्ति के साथ भोगना चाहते हो? तब, ध्यानपूर्वक देखो कि संसार का सारा सुख विवाह की, गृहस्थ की, पवित्र संस्था की ओर संकेत करता है। केवल इसी संस्था से पैतृक, भ्रातृक, वैवाहिक, और सन्तानोचित प्रेम ठण्डा होकर परितृप्त होजाता है, क्योंकि केवल पवित्र, यथार्थ, प्रेमपूर्ण, और विवेक के साथ किए गए विवाहों से ही संसार में सुखी सन्तान पैदा होसकती है। वैदिक मंत्र का यही तिहरा आशय है। यह परमेश्वर को सारे कारणत्व का, सूर्य्य को सारे नक्षत्र-जगत् और उसके वर्णसम्बन्धी चमत्कार का, और निर्मल, युक्तिसङ्गत, और आध्यात्मिक शरीरशास्त्र के आधार पर ठहरी हुई विवाह की पवित्र संस्था को पृथ्वी पर सारे सुख और आनन्द का स्रोत बताता है।

अप त्ये तायवो यथा नक्षत्रा यन्त्यक्तुभिः। सूराय विश्वचक्षसे ॥ २ ॥

अब मैं उसी सूक्त के दूसरे मंत्र पर आता हूँ। मैं कह चुका हूँ कि इस मर्त्यलोक में आनन्द की प्राप्ति विवाह की पवित्र और स्वर्गीय विधि को ठीक तौर पर पूरा करने से ही होसकती है। इस विषय पर यहां लम्बा चौड़ा लिखने का मुझे प्रयोजन नहीं। यही जतला देना अच्छा होगा कि अन्य रीति

से हमारे समाज को पुनर्जीवित करने के सब यत्न निष्फल मात्र हैं। क्या तुम कभी आशा कर सकते हो कि माता पिता के अस्वाभाविक हठ से बाधित होकर लड़का और लड़की के अस्वाभाविक आयु में किए जाने वाले वर्तमान विवाहों से वीर, स्वामी-सदृश, प्रतिभाशाली सन्तान पैदा हो सकती है? ऐसी आशा रखना असम्भव के सम्भव होने की आशा रखना है। विद्या और उपदेश, शिक्षा और संगति मनुष्य के बाह्य चरित्र को ढाल सकते हैं, पर इनका अधिक गहरे और अधिक स्थायी चरित्र पर, पैतृक या प्रकृति-विषयक चरित्र पर, जोकि हमारे रक्त के साथ बहता है, जिसका हमने अपनी माताओं के दूध के साथ पान किया है, जिसको हमने अपनी अस्थियों और नाड़ियों के साथ अपने लहू और मांस के साथ माता पिता से प्राप्त किया है, कुछ असर नहीं होता। इसलिए, विश्वास करो कि हमारे समाज में जो खराबी है उसका सच्चा औषध शरीरशास्त्र सम्बंधी इलाज है। यह इलाज मजबूर होकर, और आवेग के वशीभूत होकर किए गए व्यावहारिक विवाह के स्थान में पवित्र, युक्ति-संगत, और यथार्थ विवाह की ईश्वरीय आज्ञा के पालन करने का आदेश देकर हमारी समाज के रोग की जड़ को काटता, और व्यक्ति और समाज को उनके जन्म से ही ढालने की प्रतिज्ञा करता है। अच्छा तो फिर विवाह का नियम क्या है: वह कौन सा आचरण है जिस से समाज को स्वास्थ्य और सुख की प्राप्ति हो सकती है? इस प्रश्न का उत्तर प्रकृति के अविनाशी ईश्वरीय नियमों में अङ्कित है। आकाश में तारिकाओं की सेना (नक्षत्राः) को, या आर्द्रता से लदे हुए वायुमण्डल के समुद्र (तायवः) को ध्यानपूर्वक देखो। वे किस नियम का पालन कर रहे हैं? जो दृश्य-चमत्कार वे उपस्थित करते हैं उनके अनुवर्तन में क्या वे नियमनिष्ठ नहीं? प्रत्येक २४ घण्टों के बाद, यथाक्रम, आकाशस्थ तारागण का रात्रि से (यंत्यक्तुभिः) संयोग होता है, यथाक्रम २४ में १२ घण्टों के लिए (सूराय विश्वचक्षसे) सूर्य्य के सहवास से इनका वियोग होता है। विवाहित लोगों को इस से शिक्षा मिलती है। उन्हें इस पर विचार करके अपने लिए पुण्यशीलता का मार्ग निकाल लेना चाहिए। अब, इस वायुमण्डल के आवरण का अध्ययन कीजिए। यह किस नियम के अधीन है? यथाक्रम प्रतिवर्ष के उपरान्त जल बरसाने वाला मानसून वायु बहता है, यथाक्रम छः मास तक हवाएँ एक ही दिशा में चलती रहती हैं। विवाहित स्त्री पुरुषों के लिए ये एक शिक्षा दे रही हैं। शिक्षा यह है कि

जिस प्रकार तारामय आकाश प्रत्येक १२ घण्टों के लिए अपने आपको सूर्य्य के प्रकाश से अलग कर लेता है, उसी प्रकार विवाहित स्त्री पुरुष भी दिन काल में एक दूसरे से अलग अलग रहें। उन के लिए दूसरी शिक्षा यह है कि जिस प्रकार दिन और रात, व्यापारी हवाएँ और वर्षा लाने वाली हवाएँ अपने अनुवर्तन के नियतकालिक नियमों का पालन करती हैं वैसे ही वे भी ऋतुगामी हों। यदि इन नियमों का यत्नपूर्वक पालन किया जाए तो संसार में अपूर्व आनन्द और स्वास्थ्य का संचार हो जायगा। निवास के लिए यह पृथ्वी एक सुन्दर वाटिका बन जायगी। यह मुसलमानों के बहिश्त (स्वर्ग) या इसाइयों के नन्दनवन (पेराडाईज़) से, भी, (जिस में सब कहीं सोने का ही कठोर फर्श बंधा है, और कठोरता से थक कर आराम लेने के लिए कोई कोमल गद्दी नहीं) अधिक मनोहर और अकल्पित हो जायगी। इस स्वाभाविक, आध्यात्मिक, और शरीरशास्त्र के अनुकूल विवाह के साथ उन पाशविक विवाहों की तुलना करो जो अगणित संख्या में प्रतिदिन हमारे देश में होते हैं, और जिन पर हमारे सुधारकों को न हँसी ही आती है और न उन्हें कभी ध्यान ही आता है। मैं अपने-सदृश इन्द्रियों वाले एक जीव को संसार में लाने से बढ़कर भारी और कोई ज़िम्मेदारी नहीं समझता। कितने व्यक्ति हैं जो इस उत्तरदायता का अनुभव करते हैं? कितने थोड़े बच्चे हैं जिन को माता पिता ने स्वेच्छानुसार, जान बूझकर, विवेकपूर्वक पैदा किया है? कितने बच्चे कामाग्नि, अँध आवेग, और आकस्मिक समागम का फल हैं? यह बातें हमारे अनेक कोमल-प्रकृति पाठकों को चाहे अश्लील मालूम हों, पर मनुष्य-प्रकृति का प्रत्येक भाग पवित्र है। यह चाहता है कि प्रत्येक दिशा में इस के नियमों का पालन हो। यह किसी पंथ या व्यक्तित्व का सम्मान नहीं करता। इसलिए हमें ऋतुगामी होने का नियम सीखना चाहिए और उस सुखका अनुभव करना चाहिए जोकि इन मंत्रों में वर्णित ईश्वरीय व्यवस्था के अनुसार हमारे लिए रखा हुआ है।

मैं चाहता हूँ कि विवाह के इस विषय को छोड़ने के पहले अपने पाठकों के मन पर एक और सचाई अङ्कित कर दूँ। यह सचाई कुछ कम महत्व की नहीं, इस सूक्त के तीसरे मंत्र का विषय यही है। वेदों के मधुर स्वरों के सिवा और कौनसी भाषा इस सचाई को पर्याप्त रीति से प्रकट कर सकती है? मंत्र के शब्द ये हैं—

> अदृश्रमस्य केतवो विरश्मयो जनाँ अनु।
> भ्राजन्तो अग्नयो यथा ॥ ३ ॥

मैं असम्बद्ध विषय पर बात चीत करना नहीं चाहता परन्तु सारी प्रकृति

अनुपम है । सचाई सब एक ही नमूने की है । उत्क्रम के लिए क्षमा चाहता हूँ। विज्ञानियों का विश्वास है, और निस्सन्देह यह विश्वास सुनिश्चित कारणों पर है, कि प्रकाश और ताप दोनों एक दूसरे के सनातन सहकारी हैं । इन में से प्रत्येक के भीतर दूसरे को आविर्भूत करने की शक्ति, सार, और तत्त्व विद्यमान् हैं । दोनों ही गति हैं । दोनों ही थरथराहटें हैं पर उनके कम्पन के वेग भिन्न भिन्न हैं । कंपन एक ही माध्यम में होते हैं । प्रकाश में प्रतिफलित होने की क्षमता है । यही बात ताप की है । प्रकाश में ध्रुविभवन की सामर्थ्य है । यही सामर्थ्य ताप में भी है । ताप पशु-शरीर में जीवन को बनाए रखता है । प्रकाश वनस्पतियों के जीवन का आधार है । ताप भाफ का वायुमण्डल पैदा करता है । प्रकाश भाफ के बने बादलों को वर्षा के रूप में मैदानों पर गिराता है । ताप और प्रकाश प्रकृति में ब्याहे हुए साथी हैं । ताप गरम है और प्रकाश ठण्डा और तरोताज़गी देने वाला है । ताप और प्रकाश शरीर का प्रणय और जीवन हैं । वे प्रकृति में एक दूसरे के साथी और Couplements हैं । रङ्गों का समुज्ज्वल खेल जो प्रकाश हमें दिखाता है वह ताप द्वारा उत्पन्न होने वाले वैसे ही महत्वपूर्ण आणविक और रसायनिक परिवर्तनों से कुछ कम अद्भुत नहीं । किसी वस्तु को गरम करके तुम उसे तापोज्ज्वल दशा में ला सकते हो यहां तक कि वह जलने लगती है । समीचीन उपायों से तुम प्रकाश को पकड़ कर उस से अपनी चीज़ें गरम करा सकते हो, बल्कि, यदि ज़रूरत हो तो, उन्हें जलवा भी सकते हो । पर देखो वे अपने साझे स्रोत, सूर्य्य, से कैसे निकलते हैं । वे जोड़ा जोड़ा चलते हैं । सूर्य्य की गरमी देने वाली किरणों को वेद मंत्र में **भ्राजन्तो अग्नयः** कहा गया है । प्रकाश निकालने वाली, रङ्ग देने वाली चित्र विचित्र किरणों के लिए वेद मंत्र में **रश्मयो केतवः** शब्द आया है । कैसी सुन्दरता से वे एक दूसरे के साथ मिली हुई हैं । एक दूसरी का आलिङ्गन करती हुई ये गरमी पहुँचाने वाली तथा वर्णसम्बन्धी किरणें सूर्य्य से दौड़ती हैं और समुज्ज्वल अन्तरिक्ष में से करोड़ों मीलों की यात्रा के बाद पृथ्वी पर गिर कर जीवन को उष्ण और सोई हुई बुद्धि को उद्भासित करती हैं । सगर्व विज्ञानी किरणों के इन आपस में मिले हुए, आपस में गाढ़ आलिङ्गन किए हुए, और एक दूसरे से सम्बन्ध वैवाहिक जोड़ों को भले ही आयोडीन की साफियों (फिल्टरों) और फटकड़ी के घोलों (सोल्यूशनों) द्वारा छान कर अलग अलग कर सकने की डींग मारें, पर उनके सम्बन्ध का पूर्ण वियोग, उनका एक का दूसरे से सर्वथा पृथक् होजाना कभी सम्भव नहीं । आओ हम इस से शिक्षा लें । वेद मंत्र हमें इस शिक्षा का आदेश करता है । यह सूर्य्य की ताप और प्रकाश देने वाली किरणों से (जनां अनु) वैवाहिक सम्बन्ध की शिक्षा ग्रहण करना मनुष्यों का कर्तव्य ठहराता है । यह विवाह की गांठ को अटूट बतलाता

है। विवाहित जोड़ों को चाहिए कि अपने पवित्र सम्बन्ध को अटूट और अखंड बनाए रक्खें और निरंकुश विवाहों के विपरीत मार्ग का अवलम्बन करके अपने सुख और शान्ति को निष्फल न करें। इस बंधन को अटूट बनाए रखने से ही विधाता का संकल्प पूरा होसकता है। सामयिक नियम के अनुसार किया हुआ एक अलंघ्य विवाह ही ईश्वरीय सत्ता के सत्य ज्ञान की प्राप्ति के समोचित है। अलंघ्यता के इसी पवित्र नियम का वेद मंत्र आदेश करता है। पर मंत्र का एक और अधिक गहरा अर्थ भी है जिसे कि हमें दृष्टि से ओझल न होने देना चाहिए। वह यह है कि ताप और प्रकाश सृष्टि के प्रत्येक भौतिक पदार्थ में प्रवेश (जमां प्रविष्टः) कर जाते हैं। जन जन्य पदार्थों का समुदाय है। हमें इस प्रतिज्ञा पर हंसना नहीं चाहिए। विज्ञान की दृढ़ फसील इसका समर्थन करती है। ताप पिण्ड के अणुओं की गति है। कोई भी वस्तु ऐसी नहीं जो आणविक कंपन से सर्वथा शून्य हो। कंपन एक व्यापक नियम है। प्रकाश आकाश (ईथर) की घटना है। आकाश वह स्वप्रकाश माध्यम है जिसके कम्पन से तत्वतः प्रकाश उत्पन्न होता है। सारे जन्य पदार्थों में क्या कोई ऐसा पदार्थ है जिसमें गति और आकाश दोनों एक ही समय से इकट्ठे नहीं रहते ? ठीक उसी प्रकार ही, ईश्वरीय सार भी प्रत्येक सजीव आत्मा के भीतर निवास करता है।

आध्यात्मिक जीवन के तत्त्व।

दिसम्बर १८८७

मनुष्य जीवन के एक ऐसे समक्षेत्र पर रहता है जिसके कि दो स्तर या दो परदे हैं, यह कोई नई और आश्चर्य्य बात नहीं। दूसरे शब्दों में यों कह सकते हैं कि वह भौतिक और आध्यात्मिक जीवन रखता है। वैज्ञानिक लोग एक को विषयाश्रित जीवन (Objective) और दूसरे को आन्तरिक जीवन (Subjective life) का नाम देते हैं। प्रकृति के सब कवि और धार्मिक पुरुष इस विषय में सहमत हैं कि "हे मनुष्य! तुझ में पशु और देवता दोनों हैं।" प्राचीन संस्कृत के वेदान्तियों ने जीवन की इन दो अवस्थाओं का नाम बहिष्करण-जीवन और अन्तष्करण-जीवन अर्थात् इन्द्रियों का बाह्य जीवन और बुद्धि का आन्तरिक जीवन रक्खा है। पर दो प्रकार के जीवन का नियम यहीं तक ही परिमित नहीं। यह एक व्यापक नियम है। इसका उपयोग सारे ब्रह्माण्ड पर होता है। प्रकृति बाह्य जीवन की सत्ता है और परमेश्वर आन्तरिक जीवन का मूल है। परमात्मा, प्रकृति और ध्यान करने वाली आत्माओं की त्रिमूर्ति के अन्दर सारे विश्व के पदार्थ आजाते हैं। इस प्रकार सारे संसार में दो प्रकार का जीवन है, अर्थात् बाह्य और आन्तरिक।

जीवन के बाह्य पृष्ठ का थोड़ा बहुत सब को ज्ञान है। पर आन्तरिक वा आध्यात्मिक जीवन बहुतों के लिए एक कठिन समस्या है। आन्तरिक जीवन, आध्यात्मिक होने के कारण, मानो पद्य है, और बाह्य, भौतिक होने के कारण, गद्य है। यह स्पष्ट है कि बहुत से लोग पद्य को काल्पनिक विचारों का व्यर्थ प्रकाश ही समझा करते हैं। इसीलिए उनकी समझ में प्रकृति और उसके असंख्य नश्वर विशेषण ही अकेले तत्त्व और वास्तविक परमात्मा हैं।

"संसार की शक्तियां और माण्डलिक राज्य, बहुत से मनुष्यों को कविता और सनातन नियमों की संगति से पृथक् कर देते हैं। प्रकृति एक प्रबल और शासक परमेश्वर है। हम में से लाखों के लिए जो मनुष्यत्व का दम भरते हैं वह अंधकार की रानी है।" प्रकृति मनुष्य के आन्तरिक जीवन के साथ चिमट कर जम जाती है। मनुष्य हिण्डोले से लेकर श्मशान भूमि तक अपनी संकटजनक समुद्र-यात्रा में निर्जीव प्रकृति के बोझ को उठाता है। मनुष्यों को प्रकृति के मन्दिर में पूजा करने की आवश्यकता होती है। वे इसे पूर्ण प्रयत्न और आध्यात्मिक चिन्तन का मुख्योद्देश्य बना लेते हैं। सहस्रों लोग प्रकृति की अविरत रीति से पूजा करते हैं। वे इसकी वेदी के सामने प्रणाम करते हैं। उसके आगे बहुत सी भेंटें चढ़ाते हैं, और प्रत्येक

पदार्थ से जिसके देने की शक्ति मनुष्य में है—वैज्ञानिक कलाओं से, प्रतिभा के कामों से, श्रेष्ठ क्षमताओं के विकास से, प्रत्येक वस्तु यहां तक कि जीवन से—उसके मन्दिर को ढक देते हैं।

लक्ष्मी प्रकृति की सेविका मात्र है। प्रकृति मन की केवल दासी है। और मन आत्मा का नौकर मात्र है। पर इस दुनियां में यह अवस्था है कि आत्मा, मन, और प्रकृति तीनों लक्ष्मी के चरणसेवक हैं। कोई मानुषी आत्मा अपनी भौतिक परिस्थितियों से स्वतन्त्र नहीं है। हमारा जीवन प्रकृति की वास्तविक दासता है। प्रकृति मन का बंदिपाल (जेलर) है। आवश्यकता दारोगा है, जो कैदी को चाबुक मार कर उससे दैनिक काम कराता है।

यह है प्रकृति की आज्ञा जिसके पालन में अर्थात् पदार्थों के देखने, फलों के चखने, सुगन्धियों के सूंघने, अनुभवों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने और शब्दों के सुनने में मन सांसारिक काल का ९/१० भाग व्यय कर देता है। इस प्रकार आत्मा अपने जेलखाने की सलाखदार खिड़कियों में होकर देखती और जीवन व्यतीत करती है।

जब यह अवस्था है तो फिर इन्द्रियों के जीवन में डूबा हुआ मनुष्य आध्यात्मिक जीवन के आन्तरिक तत्त्वों को कैसे जान सकता है? प्रकृति की मृत्यु आत्मा का जन्म है। प्रकाश और अंधकार एक साथ नहीं रह सकते।

अन्यदेवाहुः सम्भवादन्यदाहुरसम्भवात्।

इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद्विचचक्षिरे ॥ १ ॥

यह यजुर्वेद के चालीसवें अध्याय का दसवां मंत्र है। इसका अर्थ यह है:—

"इन्द्रियों का जीवन (अविद्या) एक परिणाम पैदा करता है और आत्मा का जीवन (विद्या) उसके सर्वथा विपरीत परिणाम पैदा करता है।"

अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।

"इन्द्रियों का जीवन आध्यात्मिक मृत्यु है। आत्मा का जीवन नया जन्म अर्थात् अमर जीवन है।"

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितंमुखं।

तत्वं पूषन्नपावृणु सत्यधर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

इसी अध्याय का यह पन्द्रहवां मंत्र है। इसका अर्थ यह है:—

"सच्चाई का समुज्ज्वल मुख लक्ष्मी के चमकदार आवरण से ढका हुआ है।"—"हिरण्मयेन पात्रेण अपिहितं—हे विश्व के रक्षक! इस आवरण को हटादे जिससे हम अनश्वर सत्य का दर्शन कर सकें।" हां, दिव्य प्रकाश का दर्शन करने के लिए यह आवश्यक है कि पहले आवरण को दूर कर दिया जाए और मनुष्य के पशु-भावों को कुचल डाला जाए।

"यह विश्व ब्रह्माण्ड, इसके सौन्दर्य व्यवस्था, और स्वरसंवाद् एक प्रकृति के पिंजड़े में बंद मूढ़ मनुष्य के लिए कुछ नहीं। समुज्ज्वल आकाश और उसके संख्यातीत सौर जगत् और तारा जगत् भौतिक आवश्यकताओं के आयास के कारण झुकी हुई आत्मा के लिए तुच्छ हैं। व्योम के भारी गोले जो तत्त्वदर्शी के उन्नत मन को इतना आकर्षित करते हैं उस व्यक्ति के लिए कुछ भी नहीं जिसने लाभ को ही परमदेव मान रक्खा है। प्रकृति और लक्ष्मी उसे दोनों ओर से घेर लेती हैं। वह अपनी परिस्थितियों के अन्दर चक्कर लगाती है और वे उसके अन्दर चक्कर लगाती हैं। इस प्रकार उसका दैनिक जीवन नियत समय की अन्तिम सीमा तक पहुंच जाता है।"

स्वर्गीय सत्य का सुन्दर आकाश संसारी मनुष्य को क़दापि नहीं ढांपता। ऐसी अवस्थाओं में विश्वास असम्भव है। संशय, हां संशय ही, एक ऐसा प्रधान कर्मचारी है जो जीवत् रहता और बढ़ता फूलता है। ऐसी अवस्थाओं में और क्या सम्भव है? ऐसी अवस्था में मन का आत्मा को शान्ति देने वाले तत्त्वज्ञान की तलाश करना निष्फल है। क्योंकि प्रकृति का संसार, अर्थात् विरोध का चक्र ही दृष्टिगोचर होता है। विश्वव्यापिनी सब कहीं सर्वज्ञ बुद्धि (परमेश्वर) का कहीं पता नहीं मिलता। संशय रूपी राजकर्म्मचारी की काना फूसियां बहुत निर्विकल्प हैं। "क्या यह नहीं कहा गया है कि ढूंढने से परमेश्वर को कोई नहीं पा सकता? और क्या यह बात सत्य नहीं है कि परमेश्वर के अतीव दृढ़ विश्वासी भी यह मानते हैं कि उनका यह केवल विश्वास ही विश्वास है। वास्तव में वे इस विषय में कुछ नहीं जानते।" ये सब संशय की काना फूसियां हैं। परन्तु इन्द्रियों के जीवन का यह प्रधान मंत्री, यह संशयात्मक कर्मचारी अपने अन्वेषणों को यहीं पर समाप्त नहीं कर देता। वह संपूर्ण है। वह भौतिक जगत् के अन्दर प्रवेश करता है। विद्याओं से पूछता है कि क्या वे रहस्य का उद्घाटन कर सकती हैं। उसकी जिज्ञासा का परिणाम यह है—

"भूगर्भविद्या पृथिवी का, और कोयले, पत्थर, और सारे खनिज पदार्थों के भिन्न भिन्न स्वरों की रचना का वर्णन करती है। वह चिरकाल के नष्ट हुए जन्तुओं के चिन्हों और ठठरियों को प्रकट करती है पर हमको कोई ऐसा सूत्र नहीं बताती जिससे हम परमात्मा के अस्तित्व को सिद्ध कर सकें।"

"जीवविद्या हमें प्रायः पशु-जगत् का, और भिन्न भिन्न सेन्द्रियजीव-जन्तुओं, विविध जातियों की शक्तियों और रचनाओं का ज्ञान प्रदान करती है।"

"शरीर-धर्म्म-विद्या मनुष्य-प्रकृति की, मनुष्य की सत्ता को सुप्रबंध में रखने वाले नियमों की, प्राणभूत इन्द्रियों के व्यापारों की, और उन स्थितियों की जिन पर ही कि जीवन और स्वास्थ्य का दारोमदार है, शिक्षा देती है।"

"मस्तिष्क-विद्या मन-सम्बन्धी नियमों, मस्तिष्क के भिन्न २ भागों, स्वभाव और इन्द्रियों का वर्णन करती है। वह यह भी बताती है कि एक अच्छी सुस्थ अवस्था प्राप्त करने के लिए किस प्रकार किस इन्द्रिय को उन्नत करना और किसको दमन करना चाहिए। यद्यपि सारे पशु-प्रबंध में मस्तिष्क एक ऐसा सूक्ष्म जगत् समझा जाता है जिसमें कि सृष्टि की प्रत्येक वस्तु के साथ सम्बंध या सादृश्य का पता चल सकता है, परन्तु इसमें भी कोई बिन्दु ऐसा नहीं मिलता जो परमेश्वर के अस्तित्व को प्रकट करता हो।"

"गणित सारी शुद्ध विद्याओं की नींव को प्रतिष्ठित करता है। यह संख्याओं को जोड़ना, दूरियों का अन्दाज़ा लगाना और उनको मापना सिखाता है। वह बताता है कि पर्वतों के तोल और समुद्र की गहराइयों के माप संबंधी प्रश्नों को कैसे हल करना चाहिए। पर वह हमें ऐसी कोई विधि नहीं बताता जिससे ईश्वरीय सत्ता की जांच होसके।"

"यदि आप प्रकृति की बड़ी प्रयोगशाला—रसायन विद्या—में प्रवेश करें तो वह आपको विविध प्रकार के मूल द्रव्यों का और उन गैसों (वायु) के संयोग और उपयोग का हाल बताएगी जो नित्य विकसित और भिन्न २ प्रमाणों में संयुक्त होकर सकल नानारूप वस्तुएं, और हमें दिखाई देने वाले मनोरञ्जक और प्रयोजनीय दृश्य-चमत्कार उत्पन्न करती है। वह द्रव्य के अमरत्व और उसके अन्तर्निरूढ़ गुण—गति—को प्रमाणित करती है। पर उसके निखिल कार्यों में कोई भी उपपादनीय वस्तु ऐसी नहीं मिलती जो जगदीश्वर के अस्तित्व को बतलाती हो।"

"नक्षत्र-विद्या हमें सौर जगत् के चमत्कारों का—सदा घूमने वाले लोकों, उनकी गतियों के वेग और नियमों, एक तारे से दूसरे तारे तक और एक लोक से दूसरे लोक तक अन्तर का—हाल बताती है। यह आश्चर्यजनक और विस्मयोत्पादक यथार्थता के साथ ग्रहणों के दृश्यचमत्कारों और हमारी पृथ्वी पर पुच्छल तारों के दिखाई देने को पहले से ही बता देती है। यह गुरुत्वाकर्षण के अविकार्य नियम को सिद्ध करती है। पर परमात्मा के अस्तित्व के विषय में वह सर्वथा चुप है।"

"अन्ततः, आप पृथ्वी के पेट में घुस जाइए। उसके भीतर जो कुछ है वह आपको ज्ञात होजायगा। सागर की गहराइयों में डुबकी लगाइए। वहां आपको सागर निवासी मिलेंगे। पर आपको उसके अस्तित्व का ज्ञान न ही ऊपर पृथ्वी पर और न ही नीचे सागर में प्राप्त हो सकता है। ऊपर आकाश में चढ़िए, और आकाश-गंगा में प्रवेश कीजिए। एक नक्षत्र से दूसरे नक्षत्र तक दूर से दूर तारे में जाइए। और सदा घूमने वाली प्रणालियों से पूछिए कि परमेश्वर कहां है? प्रतिध्वनि उत्तर देती है—कहां?

"प्रकृति का विश्व ब्रह्माण्ड उसके अस्तित्व का कोई निशान नहीं देता । तो फिर हम उसे कहां ढूंढें ? क्या मानसिक जगत् में उसकी खोज करें ? लाखों पुस्तकें जो इस विषय पर लिखी जा चुकी हैं, उनको पढ़ जाइए । सारे विमर्शों, प्रतिज्ञाओं, प्रमेयों, कल्पनाओं और मतों में मनुष्य ने प्रत्येक पृष्ठ पर अपनी बुद्धि का अमिट अंक अंकित कर दिया है । मानव-लेख अधिक से अधिक, मानुष-चरित्र के आलेख्य, मानवीय मन के रूप और मनुष्य के अस्तित्व की तसवीरें हैं । पर ईश्वर कहां है ?

"अपने चारों ओर ध्यानपूर्वक देख लो, और मान लो कि चेतनता, कल्पना (सृष्टि का प्रबन्ध) और फलतः परिकल्पक के विषय में कोई साक्षी नहीं मिलती । चेतनता क्या है ? यह स्वयं कोई वस्तु, कोई पिण्ड या कोई सत्ता नहीं । यह केवल प्रकृति का एक विशेषगुण है जो अपने आपको सेन्द्रिय जीव-जन्तुओं के द्वारा प्रकट करता है ।"

अच्छा तो ये संदेह के इशारे और अविश्वास की काना फूसियां हैं । ये इन्द्रियों के जीवन, प्रकृति में निवास, लक्ष्मी की पूजा और सर्वशक्तिमान् परमाणुओं में श्रद्धा के यथार्थ कार्य हैं ।

इस प्रकार परमात्मा कैसे जाना जा सकता है ? भूगर्भविद्या, जीव-विद्या, शरीरधर्म-विद्या, शरीरव्यवच्छेद-विद्या, मस्तिष्क-विद्या, गणित, रसायन और नक्षत्र-विद्या सब की सब केवल स्थूल विकास और बाहर का गूदा हैं । उनका सम्बन्ध केवल उन्हीं पदार्थों से है जो छूए जा सकते हैं, जो देखे जा सकते हैं, जो सुने जा सकते हैं, जो चखे जा सकते हैं,और जिनका कण्ठ से उच्चारण हो सकता है । परन्तु सर्वान्तरात्मा परमेश्वर इन्द्रियगोचर पदार्थोंसे परे नेनद्देवा आप्नुवन् तद्धावतोऽन्यानत्येति और इन्द्रियों के नश्वर, जंगम और परिवर्तनशील दृश्य-चमत्कारों से बहुत दूर है । क्या आप पृथ्वी के भीतर उतरते हैं, आकाश पर चढ़ते हैं, और विश्वात्मा का स्थान ढूंढने के लिए विश्व ब्रह्माण्ड को छान मारते हैं ?

तद्दूरे तद्वन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु
सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥ य० अ० ४०, म० ५ ॥

वह दूर से भी दूर है, क्योंकि भौतिक इन्द्रियां उसका अनुभव नहीं कर सकतीं । वह निकट से भी निकट है, क्योंकि वह सब से अधिक भीतर है । परन्तु बाह्य पूजकों से वह छिपा रहता है ।

आत्मा के अन्दर परमात्मा के प्रकाश का नियम एक आन्तरिक एकतानता है । प्रकृति की आंधी भीतर की व्यवस्था में बाधा देती है । एकाग्रता, ध्यान, मानसिक शांति और प्रत्याहार ही केवल ऐसे साधन हैं जिन से ईश्वर-सिद्धि हो सकती है ।

जब अपनी महान् अजय दशा पर गर्व करने वाला आप ही सब से अधिक भेद्य है; जब अपनी वीरता पर अभिमान करने वाला आप ही सब से अधिक कातर है; जब दूसरों को सत्य का उपदेश देने वाला आप ही सब से अधिक झूठा है; जब अपने आपको किसी दल का नेता बताने वाला आप ही पथभ्रष्ट है; जब अपने को निष्कपट नागरिक कहने वाला हताश मनुष्यों की दैनिक मंजूरी में से उड़ाए हुए भारी लाभों पर जीता है; जब अपने व्यवसाय को मान्य बताने वाला दूसरों के कूटकरण, अन्याय और व्यावहारिक सूक्ष्मता के लेन देन से अपनी जेबों को भरता है; जब अपने आपको संभ्रान्त वैद्य, शरीर का परोपकारी चिकित्सक प्रकट करने वाला अपने रोगियों की धन दिलाने वाली तन्दुरुस्ती में ही दिलचस्पी लेता है; जब वेदी पर उपदेश देते समय आत्मा को शान्ति प्रदान करने वाला अपने मत के शत्रुओं को कोसते समय अपवित्र हो जाता है; जब विचार की स्वतंत्रता और स्वाधीनता पर बातें करने वाला राज्य, लोकमत, या धार्मिक सम्प्रदाय को आज्ञा देता है कि वे उस व्यक्ति के मुंह को बंद करदें जिसकी आत्मा कि स्वभाव से ही स्वतंत्र है; जब अपने सिद्धांत, अपनी नीति या अपनी दानशीलता की प्रतियोगिता के लिए संसार को ललकारने वाला, स्वयम् एकांत में किसी विशेष प्रश्न के प्रकाश, धर्म के किसी विशेष भाग की रक्षा, या किसी विशेष दान के देने में संकोच करता है, तो क्या वह अन्तरात्मा के साथ कोई मेल या एकतानता रखता या रख सकता है? तब फिर कैसे आशा करते हो कि वह भद्र, पवित्र, निर्मल और देवत्व के दैवज्ञान से भरा पूरा हो सकता है।

जब तक 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' का सिद्धान्त सत्य समझा जाता है; पशु-बल से प्रेम का काम कराया जाता है; मूर्खता बुद्धिमत्ता के भावों की प्रतिनिधि बनाई जाती है; दम्भ निर्दोष साधुता की अपेक्षा अधिक प्रचलित है; धनवान् पाप की निर्धन पुण्य से अधिक अभिलाषा की जाती है और उसे अधिक सहन किया जाता है, तब तक रोगों, अपराधों और विपत्तियों का नाश कैसे हो सकता है, या शान्ति, उन्नति और सुख कैसे फैल सकते हैं? इसी कारण मनुष्य अनन्त अविद्या में दुष्प्राप्य पाण्डित्य रखने का अभिमान करता है। वह विज्ञान की तिरछी किरणों, एक न उदय हुए सूर्य की सम्पूर्ण सत्य की पूर्ण प्रभा की नाईं प्रशंसा करता है।

आन्तरिक जीवन के इन दुःखों ने विचारकों के ध्यान को अपनी ओर खींचा है; धार्मिक गम्भीर लोगों ने इन लोगों को बताया है, और जैसाकि शारीरिक विरोधों और भौतिक रोगों की दशा में रिवाज है, ऐसी पेटन्ट (सर्वविदित) ओषधियां निकाली गई हैं, जिनके विषय में यह माना हुआ है कि वे रोगों की शान्ति, समाज का सुधार और व्यक्तियों का शोधन करेंगी। ऐसी पेटन्ट ओषधियां

बेचने वालों का एक सम्प्रदाय ऐसे रोगों के लिए "प्रार्थना" को सब से अच्छा, और जल्दी असर करने वाला विरेचन बताता है, और मनुष्यों और व्यक्तियों को प्रार्थना रूपी औषध की बड़ी २ मात्रा रात दिन सेवन करने का उपदेश करता है। इस प्रकार विकृत घटना उत्पन्न, स्थिर और प्रोत्साहित की जा रही है, और नश्वर आध्यात्मिक शक्ति के दुर्बल और मूर्च्छित कर देने वाले प्रभाव को भूल से प्रार्थना का शुद्ध करने वाला परिणाम समझा जा रहा है। सब से प्रथम, विरोध, रोग, और क्लेश स्पष्ट पाप हैं। "प्रार्थना" की उन्नति के साथ २ प्रार्थना करने वाली आत्मा उन को सहन करना सीखती है, इसके उपरान्त वह इनको अपने आत्म-निग्रह में यात्रा की धूलि के सदृश ख्याल करती है। अन्ततः वह इन से दब कर मूर्च्छित हो जाती है; इसको वह अपने मन की शान्ति मान लेती है। इसे वह आनन्द, मुक्ति और आत्मा में परमात्मा की विद्यमानता ख्याल करती है। इसके साथ प्राणभूत शक्ति क्षीण होने लगती है। इसे वह अपने भीतर की पशुवृत्ति की मृत्यु समझता है। यह पेटन्ट औषध केवल आवेगों की अग्नि, अपरितुष्ट कामनाओं की चिंगारी, अप्राप्य प्रयोजनों का सुलगा हुआ कोयला, मतभेद की गरमी, और झगड़े के जोश और उभार हैं। मन की स्थिरता, और उसके पीछे होने वाली मूर्च्छा, बुद्धि की मृत्यु है, जिसकी राख पर लालसा, शोक, वेदना, आनन्दोन्माद, और अन्य अनियमों की भाफ उबलती और खौलती है। पर ईश्वरीय प्रकाश का सच्चा आगमन बुद्धि के विस्तार, और जीवन-शक्ति की वृद्धि के साथ होता है। उसके उपरान्त प्रकृत सहजज्ञान का उदय होता है। हमें बाह्य चिन्हों को भूल से आन्तरिक चिन्ह न समझ लेना चाहिए। प्रत्येक चमकने वाली वस्तु स्वर्ण नहीं होती। वास्तव में, बाह्य रूप धोखा देने वाला है, अदृश्य ही यथार्थ है। अदृश्य की खोज परमेश्वर की सच्ची खोज है, उसकी उपलब्धि और उसको अपनाना जीवन की उत्पत्ति और आत्मा की अमरता है। अतएव निश्चय ही, मैं अदृश्य को दृश्य से अच्छा समझता हूं।

मेरे आशय को अधिक स्पष्टता से समझने के लिए इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि शरीर एक रूप है, अनित्य है, परिवर्तनशील है। पर आन्तरिक परिवर्तनशील नहीं। मनुष्य आन्तरिक है, आकार या कार्य्य बाह्य है। आत्मा पर क्रिया नहीं की जाती, पर आत्मा शरीर पर क्रिया करती है। जो आन्तरिक है वही तत्त्व है; जिस पर यह क्रिया करती है वह दृश्य और अनित्य है। सभी बाह्य रूप इसी नश्वर (इस परिभाषा के परिमित अर्थ में नश्वर) उपादान से बने हैं।

अब इस बात के स्पष्ट होजाने के कारण कि दृश्य वास्तविक नहीं, पर अदृश्य ही सनातन है, यह परिणाम निकलता है कि हम परीक्षा करें कि सच्चाई एक अतीन्द्रिय परन्तु अपरिवर्तनीय और सनातन नियम में है। यहां तक मान कर तुम

इस योग्य हो गए हो कि सम्भव संभावनाओं के अनुसंधान में एक पग आगे बढ़ा सको। कार्यों को देखकर उनका एक आसन्न कारण ढूंढा गया है। यह बात एक कठिन और सूक्ष्म व्यवच्छेद द्वारा प्रमाणित हुई है। अमुक कारण अमुक कार्य उत्पन्न करता है, इससे यह विदित होता है कि कारण के बिना कोई कार्य नहीं होता। यह कार्य एक और कार्य्य, और फिर वह आगे एक और कार्य पैदा करता है; इस प्रकार उपमित से तुम देख सकते हो कि कार्य्यों और कारणों की संख्या अगणित और अनन्त है। कारणों से कार्य्यों का, और कार्यों से कारणों का पता लगाना विचार की शुद्ध रीति है। यह विचार तुम अपनी कल्पना में आगे से आगे करते जाते हो। यहां तक कि तुम अस्तित्व की भूतप्रलय तक पहुंच जाते हो। तब तुम प्राणहीन होकर ठहर जाते हो और पूछने लगते हो कि आदि कारण का कारण क्या था। तुम्हें ये पदचिन्ह-शून्य परिभ्रमण कदापि न करने पड़ते। यदि तुम इन सब रूपों और बाह्य पदार्थों के विषय में यह समझ लेते कि ये कारण नहीं प्रत्युत कार्य हैं। हम इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं।

कल्पना कीजिए कि इस कठिन पृथ्वी तल के नीचे एक बीज छिपा हुआ है। मान लीजिए कि तुम उसके अस्तित्व को भूल गए हो। कुछ वर्ष बीत जाते हैं, तुम उस स्थान पर दृष्टिपात करते हो जहां कि वह बीज छिपा हुआ था। अब तुम एक उच्च और सुन्दर पेड़ को अपनी प्रकृति की सारी विभूति और प्रभाव के साथ खड़ा देखते हो। क्या उस आस्तित्व से इनकार करना ऐसा ही असम्भव और असंगत न होगा जैसाकि थोड़ी देर के लिए उस बीज से इनकार करना जिससे कि यह अस्तित्व उत्पन्न हुआ है? पेड़ खड़ा है और अन्तिम परिणाम के रूप में प्रकट है। मनुष्य खड़ा है और वह भी अन्तिम कार्य है। पेड़ के बीज के अस्तित्व का तुम्हें ज्ञान था; पर ब्रह्माण्ड के बीज का तुम्हें पता नहीं। परन्तु क्या यह बात प्रत्यक्ष नहीं कि पिछली बात कम से कम सम्भव है क्योंकि पहली ज्ञात और प्रमाणित हो चुकी है? केवल इस संभावना को मान लेने से हम इस अनुसंधान में एक और पग अधिक सावधान होकर उठाने के लिए उद्यत हो जाते हैं।

जो दूसरा पग उठाना है उसको हम एक और उदाहरण से स्पष्ट करते है। मान लीजिए कि एक मनुष्य रोग ग्रस्त है। वैद्य लोग रोग के शरीर धर्मविद्या-सम्बन्धी चिन्हों और उन वेदनाओं से जो कि रोग से पैदा होती हैं और जिनको कि वे बाह्य अवलोकन की किसी भी रीति से इन्द्रियगोचर नहीं कर सकते, रोगी की व्याधि की जांच करते हैं। रोगी अपने दुःखों का वर्णन करता है। वैद्य रोगी के बयान को मानकर उस बयान तथा बाह्य चिन्हों के अनुसार रोग के नाम का निश्चय करते हैं। प्रत्येक वैद्य अपनी इन्द्रियों के द्वारा प्राप्त हुई साक्षी के कारण व्याधि के रूप के

विषयोंमें सरों से भिन्न सम्मति प्रकट करता है। क्या आपको यहां इस बात का प्रमाण नहीं मिलता कि जो बाह्य और प्रकट है वह कार्य है और उस पर भरोसा नहीं किया जा सकता। परन्तु कारण गुप्त है और तुम्हारे पास ऐसा कोई साधन नहीं जिससे उसके कारण का अनुसंधान होसके?

और लीजिए, एक मनुष्य का एक दांत सड़ा हुआ है। वह कहता है कि मेरे असह्य पीड़ा हो रही है, परन्तु आप उसके कथन में सन्देह करते हैं और प्रमाण मांगते हैं। वह तुम्हें दांत की ओर संकेत करता है। यह दांत एक स्पर्शनीय वस्तु है। परन्तु क्या वह साक्षी, जिसको आपकी इन्द्रियां स्वीकार करती हैं, आपको विश्वास दिलाती है कि उसके पीड़ा होती है?

एक और उदाहरण लीजिए। संसार की सारी मनुष्य-जाति अपनी संयुक्त साक्षियां दे सकती है कि वह सुनिश्चित और पूर्ण रीति से सूर्य्य को पूर्व में उदय और पश्चिम में अस्त होते देखती है। क्या इस बात की कोई आन्तरिक साक्षी नहीं कि इसका बाह्य और प्रकट निश्चय झूठा है? सचाई की अन्तर्वर्ती खोज ने इस दृश्य चमत्कार का कारण प्रतिष्ठित कर दिया है और प्रमाणित कर दिया है कि सूर्य्य नहीं घूमता। परन्तु तुम्हें दृश्य और बाह्य से ही धोखा हुआ है, अन्तरिक से नहीं जोकि सचाई है।

अतएव प्रकृति का सच्चा विद्यार्थी दृश्य में अदृश्य का ध्यान करता है और मानव अस्तित्व के इस रंगमञ्च को पैदा करने वाले कारण का प्रकृति की पीठ पर चुपचाप चिन्तन करता है, और उन सचाइयों का, जो कि उसके अन्दर मौजूद हैं भारी आदर करता हुआ कार्यशक्ति और जीवन के आदि कारण के साथ संयुक्त हो जाता है। उसकी आकांक्षाओं का रूप बिल्कुल आध्यात्मिक या नैतिक होजाता है। वह इस बात का अनुभव करलेता है कि सारा का सारा ब्रह्मांड उस प्रभु का है; विश्व का कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो उस प्रभु का न हो।

ईशावास्यमिदं ं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्। यजु० अ० ४० मं० १॥

उसकी निर्मल बुद्धि के लिए, जोकि विकार और घृणा से रहित हो गई है, भक्ति और ध्यान, विश्वास और मन की स्थिरता रास्ता खोज देती हैं। वहां से ज्ञान की किरणें मंद मंद प्रवेश करती हुई उसकी बुद्धि तथा भावों पर स्निग्ध और रुचिर प्रभा डालती हैं। उसने उस सच्चे मुक्तिदाता, अदृश्य स्वामी, को पालिया है जिस में कि सारे विषय की स्थिति है। उसके निकट आन्तरिक ही प्रकृत है। उसकी विस्तृत बुद्धि कपड़ों से गुज़र कर उस तक पहुंचती है जोकि मूल है। वह शरीर के भीतर आत्मा तक, नियम में जीवन तक, वस्तु के अन्दर विधान तक पहुंचता है।

ऊपर के लेख का सारांश यह है कि विस्तृत बुद्धि ही ईश्वरीय तत्व की सिद्धि के लिए आत्मा को ऊंचा उठा सकती है, प्रार्थना यह काम नहीं कर सकती; अपने आपको उन प्रत्यादेशों के पात्र बनाने के लिए, जो कि सारे ज्ञान के मूल स्रोत से बुद्धि में आते हैं, धार्मिक आयास ही हमारी सब से अधिक मर्मस्पर्शी प्रार्थना है।

अपने विचारों के इस अधूरे आलेख्य से जो शीघ्रता में आपके सामने उपस्थित किया गया है मेरा उद्देश यह है कि यह तीन सिद्धान्त प्रतिष्ठित और स्पष्ट किए जाएं।

१. आध्यात्मिक जीवन ही प्रकृत जीवन है। संसार के संक्षोभों के प्रतिबंधनों में फंसा हुआ मनुष्य सार्वत्रिक सचाई को पूरी तरह से देख और समझ नहीं सकता।

२. इस सार्वत्रिक सचाई को, जो कि विस्तृत बुद्धि या निर्मल विवेक के द्वारा जानी जाती है, जानने में असमर्थ होने के कारण ही प्रार्थना की पेटन्ट धार्मिक चिकित्सा और अश्रुपूर्ण मस्तिष्क-उपशम निकाले गए हैं।

३ ब्रह्मांड का प्रकृत रचयिता एक अदृश्य, प्रतापी, व्यापक, और इस आध्यात्मिक जगत् का सर्व शासक तत्व है।

धन का डाह ।

इस लेख में हम इस प्रश्न पर विचार करेंगे कि "सांसारिक धन का कमाना कहां तक एक उचित और मनोरञ्जक काम है"। मनु जी महाराज अध्याय २ श्लोक १३ में कहते हैं :—

अर्थकामेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विधीयते ।
धर्म्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

जो लोग सांसारिक धन दौलत और विषय सुख में फँसे हुए नहीं हैं, केवल वे ही सत्य धर्म्म का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं । जो व्यक्ति इस उद्देश को प्राप्त किया चाहता है उसका कर्तव्य है कि वह वेद की सहायता से सत्य धर्म्म का निर्णय करे, क्योंकि वेदों की बिलकुल सहायता न लेने से सत्य धर्म्म का स्पष्ट और पूर्ण निरूपण हो नहीं सकता ।

ऊपर दिए श्लोक में मनु जी तीन सिद्धान्त प्रतिष्ठित करते हैं । पहला, कि अर्थ (धन) की तलाश सत्य धर्म्म के ज्ञान की प्राप्ति में बाधा देती है; दूसरे, काम (विषयसुख) की तलाश भी उसकी प्राप्ति के विरुद्ध है; और अन्ततः, जो लोग सत्य धर्म्म का निर्णय करना चाहते हैं उनके लिए वेदों का अध्ययन आवश्यक है ।

मनु जी की पहली और दूसरी प्रतिज्ञा को एक ही माना जा सकता है; क्योंकि प्रायः हालतों में विषयसुख की तलाश धन की तलाश के साथ ऐसी सम्बद्ध होती है कि जब तक धन की अपरिमित राशि पहले से ही मौजूद न हो विषयसुख की परितृप्ति प्रायः असम्भव होती है । इसलिए हम मनु जी के पहले आधे श्लोक का आशय यह लेते हैं कि धन की अपरिमित तलाश करने से धर्म्म का सत्य ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता । यही इस वर्तमान लेख का विषय है । इस श्लोक के दूसरे भाग पर हम किसी और समय विचार करेंगे ।

यदि मनु जी इस वर्तमान उन्नीसवीं शताब्दि में—जिस शताब्दि में कि चारों ओर से 'जीवित रहने के लिए युद्ध' या 'योग्यतमस्य उद्वर्तन' की ध्वनि आ रही है, जो ध्वनि कि यह कहती है कि धन, या माल, या द्रव्य के रूप में कुछ व्यावहारिक कार्य किया जाय—जीवित होते तो उनका अपने ऊपर लिखे श्लोक के प्रथम भाग में प्रतिष्ठित प्रतिज्ञा का जनता में विघोषित करना एक भारी साहस और वीरता का काम होता; क्योंकि इसका वास्तविक अर्थ यह होगा कि वर्तमान काल के धन की

व्यावहारिक तलाश में निमग्न मनुष्य निर्मल धर्म्म की सचाइयों को समझने के अयोग्य हैं। निस्सन्देह मनु जी का यह वचन बहुव्यापक और अपमानजनक देख पड़ता है। फिर भी इसमें झूठ रत्ती भर नहीं। क्योंकि धर्म्म की ज्योति केवल एकाग्रता, योग, मानसिक शान्ति, और ध्यान की भूमि पर ही उदय होती है। धन कमाने की सिर तोड़ कोशिश, जिसमें कि आधुनिक व्यावहारिक संसार सिर से पैर तक डूबा हुआ है, इन मानसिक स्थितियों की वृद्धि के लिए ऐसी हानिकारक है कि मग्न व्यावहारिक संसार के लिए यह आवश्यक हो गया है कि वह सचाई, धर्म्म, और उन्नतर मनुष्य-प्रकृति के निमित्त अपनी वर्तमान अवस्था पर पुनर्विचार करे, और स्पर्धा प्रतियोगिता, और उच्चाकांक्षा, के प्रबल नियमों के कारण पैदा होने वाले परिश्रम में कूद पड़ने के पहले एक बार इस पर विचार कर ले। यह सच है कि भौतिक उन्नति के लिए इन प्रबल उत्तेजनों के प्रोत्साह से मनुष्य सचाई के प्रति अपने उच्च कर्तव्यों को भूल गया है। इसलिए यह सर्वथा सत्य है कि बड़े २ नामी विज्ञान विशारद भी इस प्रवृत्ति के भयानक और लज्जाजनक परिणामों का अनुभव करने लगे हैं। देखिए कार्नेल विश्वविद्यालय के प्रधान, डाक्टर व्हायट महाशय यों लिखते हैं:—

"जब कोई कपट या दौरात्म्य प्रकाश में आता है तो हम बहुत भड़क उठते हैं, और समय की खराबी पर रोना पीटना प्रारम्भ होता है। परन्तु मेरे मित्रो! ये कपट और दौरात्म्य समय की ख़राबियां नहीं हैं। ये नागरिक समाज के उपरितल पर निकले हुए केवल फफोले हैं। परमात्मा का धन्यवाद है कि उनको निकाल कर उपरितल पर फेंक देने के लिए अभी काफ़ी जीवन शक्ति मौजूद है। रोग सब के नीचे प्रबल रूप से फैल रहा है।

"वह रोग क्या है? मेरा विश्वास है कि यह सबसे पहले सचाई को सचाई स्वीकार करने में उदासीनता है; दूसरे, संशय, इससे मेरा अभिप्राय इस या उस मत को स्वीकार करने में अयोग्यता से नहीं, प्रत्युत उस संशय से है जो इस बात को मानने से इनकार करता है कि संसार में कोई ऐसी प्रबल, विशाल और पुण्यमय शक्ति है जिसके बिना कि हम सत्य को कदापि नहीं पा सकते। तीसरे नास्तिकता, इससे मेरा अभिप्राय इस या उस प्रधान धर्म्म के प्रति भक्ति के अभाव से नहीं; प्रत्युत उसके प्रति भक्ति के अभाव से है जोकि सब धर्म्मों का आधार है, अर्थात् यह भाव कि पवित्र और पुण्यमय सब कहीं एक समान हैं। और अन्ततः जड़वाद, जिस से मेरा अभिप्राय ब्रह्माण्ड की इस या उस वैज्ञानिक कल्पना (थ्यूरी) से नहीं, बल्कि पुण्य के केवल बाह्य छिलके और भूसे के प्रति भक्ति से, स्थान और धन के लिए

उस संग्राम से, केवल भौतिक सुख और सम्पत्ति के प्रति उस श्रद्धा से है जो कि मानव-हृदय से सारी देश प्रीति को नष्ट कर देती है, और जो कि उस भाव के अत्यन्त प्रतिकूल है जिससे वैज्ञानिक साधन को बल मिलता है।"*

पाठक, यह एक नामी विज्ञान शास्त्री की राय है कि समाज चार घातक रोगों, अर्थात् उदासीनता, संशय, नास्तिकता, और जड़वाद से पीड़ित है। यह स्पष्ट ही है कि इन सब का कारण प्रबल प्रकृति और लक्ष्मी की रिवाजी पूजा है।

उत्साहशील पाठक के चित्तपट पर यह सचाई अधिक सुगमता से अंकित करने के उद्देश से आओ हम वकीलों, वैद्यों, साहूकारों, वणिकों, एञ्जनीयरों, ठेकेदारों, पादड़ियों, अध्यापकों, क्लार्कों और आज कल के असंख्य प्रचलित व्यवसायों से जीवन का निर्वाह करने वाले दूसरे लोगों पर, जिनकी कि हमारे अपने देश में भी कुछ कमी नहीं, दृष्टि डालें। इन सब का विशेष उद्देश यही है कि अपने २ व्यवसायों के द्वारा चमकते हुए सोने का ढेर इकट्ठा करें। यह सोना प्रतियोगिता के रोग में ग्रस्त व्यावहारिक मनुष्य की विकृत दृष्टि को अति लुभायमान प्रतीत होता है। इन खेदजनक व्यवसायों के अस्तित्व के लिए उपकारशीलता या युक्तिसंगत उपयोगिता के आधार पर कोई युक्तिसंगत समाधान ढूंढे से भी नहीं मिल सकता। इन व्यवसायों का कदापि जन्म न होता, यदि ये कुत्सित धन को लाने वाले न होते। मक्खियां गुड़ की डली पर इस कसरत से इकट्ठी होकर नहीं भिनभिनातीं जिस कसरत से कि वकील और व्यापारी, वैद्य और ठेकेदार लक्ष्मी के मन्दिर में इकट्ठे होते हैं। यह बात अक्षरशः सत्य है कि रुपया एक ऐसा ईश्वर है जिसकी पूजा कि संसार के स्वामी ईश्वर से भी बढ़कर हो रही है। केवल इतना ही नहीं, धन का डाह प्रायः सभी को लग रहा है। प्रत्युत सांसारिक धन का कमाना ही प्रधान विषय बन रहा है। एक ओर एक सुधारक होने का दम भरने वाला व्यक्ति स्वदेश की अत्यन्त दरिद्रता, और उसके फलस्वरूप चारों ओर फैले हुए क्लेश, पाप और अपराध का दुखड़ा रो रहा है। स्वदेश को कला कौशल से शून्य देखकर उसे भारी दुःख हो रहा है। उसे सदा यही चिन्ता रहती है कि किसी प्रकार उसके देश की भौतिक समृद्धि के साधनों में सन्तोषजनक उन्नति हो सके। इस उद्देश की पूर्ति के लिए वह बड़ी मुश्किल से एक संस्था स्थापित करता है। परन्तु धन की पर्याप्त सहायता न पहुंचने के कारण वह इसको चला नहीं सकता। इस विफलता से उसे अवर्णनीय दुःख होता है। वह सुधारक एकान्त में बैठकर यों सोचता है:—

* President White's Address, appendix to Lectures on 'Light,' by G. Tyndal. Third edition, 1892, pp. 238—239.

हमारा देश निर्धन है, क्योंकि हमारे पास धन नहीं ; पाप और क्लेश फैल रहे हैं, क्योंकि हमारे पास धन नहीं ; कला कौशल की उन्नति नहीं हो सकती क्योंकि हमारे पास धन नहीं ; संस्थाएं दीर्घजीवी और सफल नहीं हो सकतीं क्योंकि हमारे पास धन नहीं ।

चारों तरफ से धक्के खाकर यशस्काम सुधारक फिर धन के प्रश्न की ओर आता है । वह अपनी विशाल भौतिक बुद्धि को इसी प्रश्न के हल करने में लगाता है। अब उसको यह विचार सूझता है कि केवल व्यक्तिगत उत्साह से ही उसका देश धनवान हो सकता है ; पर व्यक्तियां बड़े २ कामों को विना धन के कैसे हाथ में ले सकती हैं ? शायद यह प्रश्न एक और तरह से भी हल हो सकता है । वह स्वदेश में कलों का प्रचार करना चाहता है जिन से धन दौलत खूब पैदा हो । परन्तु कलें महंगी हैं,और एक निर्धन देश उन्हें खरीद नहीं सकता। या दैवयोग से हमारा सुधारक रक्षित-व्यापार का पक्षपाती (प्रोटेक्शनिस्ट) है । तो वह कदापि यह पसंद न करेगा कि स्वदेश का धन कलों आदि में बाहर जाए । उसकी यही कामना होगी कि स्वदेशी शिल्प कला की उन्नति और वृद्धि हो । सुधारक के दुर्भाग्य से प्रज्ञाहीन मानव-प्रकृति सुलभता पर गिरती है ; इसलिए स्पर्धा सुधारक के ऐसी सावधानी से खड़े किए हुए व्यापार-रक्षा के भवन को अपने भयानक कुल्हाड़े के साथ भूतल-शायी कर देती है ।

अब जड़वादी तत्ववेत्ता को लीजिए । सभ्यता कैसी मनोहर वस्तु है ! अतएव वह अपना दार्शनिक ज्ञान छांटने की बाह्य रीतियों के अनुसार सभ्यता के प्रत्येक उपादान को अलग अलग करता है और मालूम करता है कि सभ्यता की सारी रचना धन के आधार पर है । वाष्पीय नौका (स्टीमर), लोकोमोटिव यंजन, तार और डाक के प्रबन्ध, छापेखाने, और मेहनत बचाने वाली कलें, सब धन के शक्तिशाली और आश्रय देने वाले हाथ के विना केवल कोयला, लोहा, और रेत— निकम्मी चीज़ें ही रह जायंगी ।

अकेले सुधारक और तत्वज्ञानी की ही यह बात नहीं । राजनीति विशारद, राजमंत्री, पत्र-सम्पादक, सार्वजनिक वक्ता, सबके सब अन्त को इसी धन की समस्या पर आकर गिरते हैं । इस प्रकार सारा संसार क्या बात चीत और संभाषण में, क्या व्याख्यानों और सार्वजनिक सभाओं में, क्या गुप्त ध्यान और विचार की अवस्था में वारम्वार **"धन, धन"** की ही ध्वनि निकालता है। यहां तक कि समाज की सारी रचना गूंज रही है और सारा वायु मण्डल इसी प्रकार के आभासों और शब्दों से भर रहा है ।

पाठक, इस सभ्यता का दम भरने वाली समाज की अल्पकालिक दौड़ धूप और क्षणिक चेष्टा को ध्यान पूर्वक देखिए। क्या आप नहीं देखते कि कम से कम पचहत्तर प्रतिशतक मनुष्य जो सभ्य संसार में ख्याति लाभ करते हैं उनका दारोमदार अधिकार की लालसा, भोगों (इन्द्रिय सुख) से प्रेम, मान से प्रीति, बड़े बनने की कामना, प्रतिष्ठा से प्रेम और दिखलावे से प्रीति पर होता है ? क्या कारण है जो स्वामी अपने सेवकों से आज्ञा पालन कराता है? क्या कारण है कि लोग सदा अपने से उच्च समाज के मण्डलों में विचरना चाहते हैं ? यह क्या बात है कि इतने रईस और राजे, रायबहादुर या सरदार बहादुर की केवल खाली उपाधियों की प्राप्ति के लिए व्यर्थ भारी भारी खर्च प्रसन्नता पूर्वक सहन करते हैं ? केवल अधिकार; उच्च पदवी, मान, प्रतिष्ठा, दिखलावा, और आनन्द के लिए ! और कौनसा शक्तिशाली एञ्जन है जो इन नीच, अपरिमित, और स्वार्थ पर कामनाओं के पूरा करने के लिए साधन उत्पन्न करता है ? वह **धन** है।

फिर समाज के निचले स्तर की ओर ध्यान दीजिए, (निचले स्तर से मेरा अभिप्राय उन लोगों से है जो आचार की दृष्टि से नीच हैं, जरूरी नहीं कि वे सामाजिक दृष्टि से भी नीच हों)। देखो, सभ्य-जीवन-नामधारी सजीव शक्तियों की अंधी दौड़ में मत्सरता, ईर्ष्या स्पर्धा, और प्रतियोगिता के भाव क्या काम कर रहे हैं ? प्रतिदिन बढ़ती हुई मुकद्दमा बाज़ी, शिष्टजनों के आए दिन के झगड़े, पोलीस और न्यायालयों की खराबियां, प्रतियोगिता में उम्मीदवारों का सफलता के लिए अपनी जान को जोखिम में डालना ये सब इस बात की साक्षी दे रहे हैं कि मत्सरता, ईर्ष्या, स्पर्धा, और प्रतियोगिता के नीच भावों ने, जोकि मनुष्य के लिए कदापि उचित नहीं, आधुनिक समाज में भारी गड़ बड़ मचा रक्खी है। आपको ऐसा मनुष्य कहां मिलेगा जिसने अपनी उपकारशीलता से क्रोध और प्रतिहिंसा के भावों को दबादिया हो ? इस सभ्य समाज में ऐसा मनुष्य मिलना बहुत कठिन है। शायद, कोई दरिद्रता से पीड़ित, दुःखों से दबा हुआ—जिसको अपनी विद्रोही प्रकृति की आज्ञाओं का पालन करने के लिए साधन नहीं मिलते, परन्तु जो दुर्भाग्य से निराशा और विषाद में फंसा गया है—दुःस्वप्न और अशान्ति से जीवन के दिन काटता हुआ इधर उधर मिल जाए। यदि उसमें निर्दय सभ्य समाज से बदला लेने की शक्ति होती तो वह कदापि इससे न चूकता, पर वह विवश है। तो क्या ये सब शक्तिशाली धन के तेज से अपील नहीं करते ?

अनुकरण एक प्रमुख नियम है। इसी पर आधुनिक समाज का विशाल भवन खड़ा किया गया है। अनुकरण वह खम्बा है जिस पर कि समाज का प्रबल यंत्र ठहरा हुआ है। रीति, रिवाज, प्रचलित प्रणाली की चोट, और देहस्वभाव के

डर का तो कहना ही क्या, जो सब के सब किसी न किसी प्रकार से पैतृक नियमों—अनुकरण—से पैदा हुए हैं, धार्मिक विश्वास की बातों में या सम्मति देने की अवस्थाओं में भी संसार के नब्बे फीसदी मनुष्य उसी सर्व-व्यापक नियम, अनुकरण, के अधीन हैं। अनुकरण की उसी वानर-सदृश्य कार्य्य शक्ति के विषय में जे० एस० मिल साहब लिखते हैं:—

"हमारे समय में समाज की उच्चतम श्रेणी से लेकर नीचतम श्रेणी तक प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार रहता है मानो वह किसी विरोधी और भयानक नीतिशास्ता की देख रेख के नीचे है। न केवल उन्हीं बातों में जिनका सम्बन्ध कि दूसरों से है प्रत्युत उन बातों में भी जिनका सम्बन्ध कि खुद उन्हीं से है कोई व्यक्ति या परिवार अपने मन में प्रश्न नहीं करता कि मैं किस बात को अच्छा समझूं? या कौनसी बात मेरी प्रकृति या अवस्था के अनुकूल होगी? या मुझ में जो सर्वोच्च और सर्वोत्तम है वह स्वतंत्र कैसे रहेगा, और उसकी परिवृद्धि और विकास कैसे हो सकेगा? वह अपने मन में प्रश्न करता है कि मेरी प्रतिष्ठा के अनुरूप क्या है? मेरी स्थिति और आर्थिक अवस्था के लोग प्रायः क्या करते हैं? या (इससे भी बुरा) मेरे से ऊंची स्थिति और अवस्था के लोग प्रायः क्या करते हैं? मेरा प्रयोजन यह नहीं कि वे रिवाज को प्रवृत्ति से अच्छा समझते हैं। परन्तु वे रिवाज के सिवा प्रवृत्ति को और कोई वस्तु ही नहीं समझते। इस प्रकार उनका मन अपने आप अनुकरण का जूआ अपनी गर्दन पर रख लेता है। मनोरञ्जन की बातों में भी वे सब से पहले अनुरूपता का ख्याल करते हैं। वे समुदायों में रहते हैं। जो काम प्रायः लोग करते हैं उन्हीं में से वे किसी एक को पसंद करते हैं। रुचि की विशेषता और आचरण की विलक्षणता से वे ऐसे भागते हैं मानो कि वे अपराध हैं। यहां तक कि अपनी ही प्रकृति का अनुकरण न करने की चोटों से उन में अनुकरण करने के लिए कोई प्रकृति ही नहीं रहती। उनकी मानुषी धारणा शक्तियां कुम्हलाकर नष्ट हो जाती हैं। वे किसी प्रबल आकांक्षा या प्राकृत सुख का आनन्द लेने में असमर्थ हो जाते हैं। और न ही उनमें प्रायः कोई अपनी राय या निजू विचार होते हैं। अब बतलाइए कि क्या मानव-प्रकृति की यह अवस्था वाञ्छनीय है?"

यह है अनुकरण की प्रबल शक्ति। कौन है जो इसके अलंघनीय प्रभाव का सामना कर सके? क्या कोई व्यक्ति निमग्न व्यावहारिक संसार को—वकीलों, वैद्यों, एञ्जीनियरों, ठेकेदारों, और अन्य व्यवसायियों को—**धन** के लिए पागल हुआ देख सकता है? क्या कोई मनुष्य तत्ववेताओं, राजनीतिज्ञों, और देशानुरागियों को तेजोमय **सुवर्ण** का एक स्वर होकर गुणगान करते हुए सुन सकता है? क्या कोई सभ्यता के उत्सुक प्रशंसक को **लक्ष्मी** देवी की सर्वशक्तिमत्ता का अंगीकार करते

हुए देख सकता है ? क्या कोई सांसारिक सुख, शान्ति और हर्ष के गर्वित अभिलाषियों को; अधिकार, प्रतिष्ठा और उपाधि के यशस्काम प्रेमियों को **अर्थ** देवता के मन्दिर में जल चढ़ाते देख सकता है? क्या कोई क्रोध,प्रतिहिंसा,ईर्ष्या, स्पर्धा और मत्सरता इन सब को अपनी संतुष्टि के साधनों की प्राप्ति के लिए **दौलत** के दरबार में हाथ बांधे खड़ा देख सकता है ? क्या कोई व्यक्ति ऐसा है जो यह सब कुछ देखता हुआ भी **सोना** रूपी परम प्रतापी सम्राट के आगे राजभक्ति की सौगन्ध न उठाए ?

अनुकरण की चोट से मनुष्य, **धन** की तलाश में दाएं से बाएं धक्के खाता है। समाज एक भंवर के सदृश है जिसमें जीवन रूपी समुद्र के सभी तैराक फँस जाते है, और ज़ोर से इधर उधर फेंके जाते हैं। आज यहां गिरे तो कल वहां पड़े— यहां तक कि मनुष्य केवल एक धन कमाने वाली मशीन बनजाता है। क्या समाज की यह दशा शोचनीय नहीं ?

देखो धन का प्रेम उच्च भावों का कितना खून करता है। कर्तव्य और स्वार्थ की आपस में मुठ भीड़ है। धन की निग्रहकारिणी शक्ति सब बुराइयों की रक्षा करती है। उच्चतर मानव-प्रकृति की आशाओं की कुछ भी परवा नहीं की जाती, और उनको पांव तले रोंदा जाता है। वैद्य और डाक्टर लोग शरीर-धर्मविद्या के ज्ञान के प्रसार और स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों के जनता में प्रचार के स्थान में सादा से सादा रोगों और औषधियों को विदेशी नामों के वेष में छिपाते हैं, और उपचारलेखों (नुसखों) के गुप्त संकेत नियत करके उनके मिलाने और तैयार करने की विधियों को प्रकट नहीं होने देते। वैद्यों का असंख्य दल जो इस समय हमारे देश में मौजूद है, बुद्धिमत्ता के साथ रोगों की जड़ को उखाड़ने और तन्दुरुस्ती की सुन्दर कली को खिलाने के स्थान में दिन रात बड़े यत्न से यही प्रार्थना करता है कि धनवान और शक्तिशाली मनुष्य सदा कसरत से रोगग्रस्त हुआ करें। वकील लोग शान्तिमयी मित्रता के भाव उत्पन्न करने और मेल मिलाप को बढ़ाने के स्थान में झगड़े रगड़े को बढ़ाते और प्रतिहिंसक विरोध या गर्वित आवेश को चमकाते हैं। वणिक जनता के प्रयोजनों और आवश्यकताओं को पूरा करने और मांग और माल के नियम पर न्यायपूर्वक कार्य करने के स्थान में जो कुछ उन्हें मिल सके सब लूट लेते हैं, बहुत थोड़ा देते हैं, अपने व्यापार के व्यवस्था-पत्र गुप्त रखते हैं, और अनभिज्ञ ग्राहकों को अशुद्ध माल देकर धोखा देते हैं। यहां तक कि उपदेशक और पादड़ी भी, जिनका काम सीधी सादी सच्चाई और आचार की सांत्वना देने वाली बातें बताना, और

धार्म्मिक पुण्यशीलता और आध्यात्मिक प्रकाश के पवित्र सुखों का फैलाना होना चाहिए, धन कमाने की बड़ी २ युक्तियां घड़कर ही प्रमुदित होते हैं, और अपने दीर्घ, अंधकारमय, दम्भ-दूषित धर्म्मोपदेशों को गूढ़ प्रलाप के साथ लपेट देते हैं। ये ऐसे उपदेश होते हैं, जिनको कि वे आप भी न समझते हैं और न समझ सकते हैं।

इस प्रकार इतना ही नहीं कि समाज में जो रुपया इकट्ठा करने का सहजात दोष पैदा होगया है, उसने वैद्य और उपदेशक सब को एक जैसा अपने कर्तव्य और व्यवसाय से पथभ्रष्ट कर दिया है। इससे भी अधिक और घोर पाप हैं जिनमें कि समाज केवल धन प्राप्ति के लिए ही डूबा हुआ है। एक धनवान मदिरा-विक्रेता या एक धनी तम्बाकू या अफीम बेचने वाला बेरोक टोक मज़े से समाज में रहता है और अपने व्यवसाय के द्वारा फूलता फलता है, पर केवल धनाढ्य होने के कारण ही कोई उसे घृणा या उपेक्षा की दृष्टि से नहीं देखता। सहस्रों निर्धन निरपराध लोग उन अपराधों के लिए दोषी ठहराए जाकर जिनको कि उन्हों ने कभी भी नहीं किया, दण्डित किए जाते हैं; परन्तु एक धनाढ्य अपराधी साफ़ अपराध प्रमाणित होजाने पर भी रिशवत, दबाव, या सिफ़ारश रूपी शस्त्र रखने के कारण सर्वथा साफ़ बच जाता है। यद्यपि कवि और तत्ववेत्ता पुकार २ कर कह रहे हैं कि सब मनुष्य बन्धु हैं, यद्यपि विशुद्ध धर्म्म अपनी निर्बल धीमी स्वर से यह उपदेश कर रहा है कि हम सब एक पिता की सन्तान हैं, फिर भी धनी लोग निर्बलों और निर्धनों पर अपने लगातार अत्याचार,उत्पात,अन्याय, और दौरात्म्य से ऊंच नीच पैदा कर रहे हैं। धन के इस सम्मोह के कारण एक उपाधिधारी विद्यार्थी भी अपनी रुचियों और प्रवृत्तियों को यदि उसकी कोई हैं, छोड़ देता है, और अपने अभिलषित व्यवसाय के लिए अपनी वास्तविक अयोग्यता को भली भान्ति जानता हुआ भी, डाक्टरी, एञ्जनीयरी, वकालत और नौकरी पर पिल पड़ता है, और अपने दुष्ट व्यवसाय के परिणामों से संसार में तूफ़ान मचा देता है। पत्र-सम्पादक जो अपने आपको लोक-मत का नेता कहते हुए कभी लज्जित नहीं होता, निःसंकोच होकर अपने आत्मा को बेच डालता है,और अपने सहायक दल के गुण गाता है। समाचार-पत्रों के हीनगुण साहित्य—क्योंकि समाचार-पत्रों का साहित्य बहुत कम सुधारने वाला, पुनर्जीवित करने वाला,या उच्च करने वाला होता है—को पढ़िए। आप देखेंगे कि उनका कितना थोड़ा भाग निर्दोष उपदेश, सच्चे नेतृत्व, या न्याय और सत्य के अर्पण होता है, और कितना अधिक ईर्ष्या, भावभूयिष्ठता, जातीय और स्वार्थपर पक्षपात और जानबूझ कर मिथ्या वर्णन से भरा रहता है। उनकी सारी पुण्यशीलता और निरपेक्षता केवल दिखलावे और व्यवहार के लिए होती है, और वास्तव में यह नीच स्वार्थपरता और झगड़ालू साम्प्रदायिकता के बदले में ख़रीदी जाती है। क्या यह मनुष्यत्व है?

ऊपर के विचारों से यह परिणाम अपने आप निकलता है कि धन की प्रीति उन्माद की तरह का एक रोग है। जब तक इस विश्वव्यापी रोग का, जिसने कि इस समय समाज को घेर रक्खा है, और जो सदाचार, और धार्मिक भावों की जड़ को काट रहा है, आधुनिक रोगनिदान-शास्त्र में उल्लेख न होगा यह शास्त्र अधूरा ही रह जायगा।

इस रोग का नाम **धन का डाह** रखना चाहिए, क्योंकि उन्माद के अन्य रूपों की तरह इसमें भी मानसिक समता नष्ट हो जाती है और विचार असंगत हो जाते हैं। इससे एक ही दिशा में अपरिवर्तनीय पक्षपात उत्पन्न होजाता है जो मानव-प्रकृति की चेष्टा और उमंग के अन्य सब मार्गों से हटा लेता है, और अन्ततः यह सारी शारीरिक रचना को ऐसी अत्युत्तेजित दशा बना देता है जो कि संयम या व्यापारों के स्वाभाविक अभ्यास के असंगत होती है। हैज़ा (विषूचिका) या इसी प्रकार के अन्य छूत के रोगों की तरह यह अपने संहारकारी बीज बहुलता से और दूर तक फैलाता है। इन बीजों को ग्रहणशील मानव-शरीर सुगमता से ग्रहण कर लेता है। और क्रमागत रोगों की तरह यह भी पिता से पुत्र में, भाई से भाई में, और साथी से मित्र में सुगमता से संक्रमित हो जाता है। इसलिए—

धन का डाह उन्माद के सदृश एक रोग है जो बहुत शीघ्रता से उड़कर लगता है, एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी में चला जाता है, असाध्य या दुःसाध्य है; और अतीव उग्र है।

इस विचार से कि हमारे गुणग्राही पाठकों को रोगनिदान में किसी प्रकार का कष्ट न हो हम नीचे इस रोग के मोटे २ चिन्ह देते हैं। इसके लक्षण ये हैं—तर्पणातीत पिपासा या यशस्तृष्णा; सदा भूखा आमाशय; एक कफमय (उदासीनता से भरा हुआ) और कर्कश (चिड़चिड़ा) स्वभाव; परले दर्जे की इन्द्रिय-सूक्ष्मता और शीघ्रकोपित्व; पाशविक और मानुषी विकारों का प्रबल अंतर्दाह; अशान्ति; निद्रा का अभाव और चिन्ता; गर्व, शक्ति और ज्वर की सी अवस्था के आक्रमण; नैतिक और आध्यात्मिक कार्यशक्तियों का पक्षाघात, इन्द्रियातीत या अलौकिक अनुभवों के प्रति जड़ता; अधिक खाने, अधिक पहनने, आलस्य, विलासिता और सुख के लिए सीमातीत लालसा; बाह्य स्वाधीनता का बनावटी रूप व्यक्तिगत निर्बलता और क्षीणता।

अब हम अपने उत्सुक पाठकों से सचाई, न्याय और साधुता के नाम पर पूछते हैं कि क्या, जो रोग मनुष्य को पागल बना देता है, जो रोग कि वेदान्त की हँसी उड़ाता, चिन्ताशील ध्यान या तत्वज्ञान को घृणा की दृष्टि से देखता; और

ब्रह्मविद्या को अव्यवहार्य असाध्य, और अयुक्त समझकर उसका परित्याग कराता है; जो रोग मनुष्य जाति को नैतिक, युक्तिसंगत और आध्यात्मिक रीति से उन्नत और उच्च करने के सभी यत्नों को कल्पनात्मक बताकर कलंकित कराता है; जो रोग आत्म-ज्ञान को असम्भव कहता है; जो रोग सदाचार को गिरा कर औचित्य की सतह पर ले आता है; जो रोग विश्वपति की पूजा के स्थान में मूर्तिपूजा के एक अतिहीन और अतिनिकृष्ट रूप में तांबे, चांदी और सोने की पूजा सिखाता है; जो रोग यह बताता है कि मनुष्य में खाने, पीने और रुपया कमाने के सिवा और कोई प्रकृति ही नहीं; एक बार हम फिर पूछते हैं कि क्या ऐसे रोग को एकदम जड़ से उखाड़ कर न फेंक देना चाहिए और इसको इस प्रकार न जला देना चाहिए कि यह फिर न उत्पन्न हो। क्योंकि जब तक यह रोग विद्यमान् है, सदाचार, धर्म्म, सचाई और तत्व-ज्ञान कोई भी नहीं रह सकता।

धार्म्मिक विचारों के प्रवाह का नियम निर्दोष मन, निरपेक्ष सत्यपूर्ण प्रकृति, शान्त और अक्षुब्ध भाव, बलवान् उद्यमी बुद्धि और समाहत ध्यान है। पर दौलत के लिए अंधाधुन्द दौड़ धूप इन्हीं सद्गुणों की जड़ को खोखला कर डालती है। चिन्ता और अभिमान जो रुपया पास होने के कारण अवश्य उत्पन्न होजाते हैं, मन की शान्ति को नष्ट कर डालते हैं। जटिल सम्बन्ध और अनुराग, जो शक्ति पास होने से (रुपया शक्ति है) सदा उत्पन्न हो जाते हैं, थोड़ी बहुत रही सही निरपेक्षता और सत्यवादिता को भी दूर करदेते हैं। यहां तक कि चिन्ता के कारण अशान्त, गर्व के कारण कलहकारी और स्वार्थ के कारण पक्षपाती होकर मनुष्य एकाग्रता और निर्मल विचार दोनों की शक्ति खो बैठता है।

अहो! स्वाधीनता, सच्ची और प्रकृत स्वाधीनता, जिसमें मनुष्य अपनी परिस्थितियों और अवस्थाओं का दास नहीं रहता प्रत्युत उनका स्वामी बन जाता है, कैसी उन्नति और संमान के देने वाली है। और फिर भी मनुष्य में इस आनन्दमय अवस्था की वृद्धि और भाव को कोई और वस्तु इतना आघात नहीं पहुंचाती जितना कि धन का पास होना। जो मनुष्य अपने धन का घमण्ड करता है वह अवश्य ही अपने धन का दास है। एक हृष्ट पुष्ट और तन्दुरुस्त मनुष्य सदा अपनी तन्दुरुस्ती का आनन्द लेता है। वह अपनी प्रकृत शक्ति से अनभिज्ञ नहीं, और उस शक्ति के प्रयोग में जिस स्वतंत्रता का अनुभव वह करता है,उस पर उसे यथार्थ अभिमान है। ऐसे मनुष्य को जब कभी कहीं जाने की कामना होती है, तो वह अपने जंगम उपकरण (टांगों) को काम में लाता है; जब वह अपने बल और वीर्य्य को तरोताज़ा करना चाहता है वह शारीरिक व्यायाम करता है;जब कभी उसे विश्रामकी आवश्यकता होती है तो वह आकाश के शुद्ध वायु का सेवन करने या प्रकृति के दृश्यों का

आनन्द लूटने के लिए बाहर घूमने चला जाता है; जब कभी उसे एक सच्चे मनुष्य की तरह अपने आत्मा का ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा होती है तो वह ध्यानावस्थित होकर उच्च विचारों को बढ़ाता है; जब कोई रोग या गरमी और सरदी की अधिकता उसको सताती है, तो वह अपनी स्वयम्-चिकित्सक प्रकृति की निद्रित और स्थितिपालक शक्तियों को जगाता है। सारांश यह कि जिन पदार्थों की उसको आवश्यकता पड़ती है, वे प्रकृति ने स्वयम् ही उसे पर्याप्त परिमाण में दे रक्खे हैं। पर धनाढ्य का सारा दारोमदार द्रव्य की भड़कीली चीज़ पर ही है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक पहुंचने के लिए उसे गाड़ी का प्रयोजन है, वह पैदल नहीं चल सकता। स्वाभाविक स्वास्थ्य की चमक दमक के स्थान उसमें औषधियों के प्रभाव से या चिकित्सक वैद्यों की सहायता से तोंद निकली होती है; तन्दुरुस्त आमाशय और सादा भोजन होने के स्थान उसका भोजन देर से पचने वाला पर उसका आमाशय निर्बल होता है, जिससे उसे पचाने के लिए ऊपर से तेज़ मदिरा पीने की आवश्यकता होती है। बाहर निकल कर प्राकृतिक दृश्यों का आनन्द लूटने के स्थान वह अपने कमरे की दीवारों पर निर्जीव और निःशब्द चित्र लटकाता है। वह स्वाभाविक तितिक्षा के स्थान में पंखों की शीतल करने वाली शक्ति, आग के गरम करने वाले विशेषगुण, शरबतों की तरोताज़ा करने वाली शक्ति और मदिरा के उत्तेजक प्रभाव के पूर्णतया आश्रित रहता है। क्या यही स्वाधीनता है, जिसका अनुभव मनुष्य को करना चाहिए ?

इस प्रवृत्ति के परिणाम केवल इसी सीमा तक नहीं बढ़े हैं। आधुनिक सभ्यता—धनके गिरगिट की भांति रंग बदलने वाले गुण के कारण पैदा हुआ एक दृश्यचमत्कार—इस प्रवृत्ति के विश्रुत कार्यों से भरी पड़ी है। प्राचीन संसार ने बर्बर और असभ्य पैदा किए थे; क्योंकि वे वर्षा और वायु से अस्थायी रक्षा के लिए बनाई हुई केवल कुटियों या गुफाओं में प्रायः नङ्गे रहने वाले, मनुष्य-प्रकृति के बलवान् नमूने थे; क्योंकि उनकी आवश्यकताएं थोड़ी होने के कारण उनकी कलाएं सादा और गिनती की थी; क्योंकि प्रबल स्मरण शक्ति रखने के कारण उनका ज्ञान वही था जिसे वे कण्ठस्थ कर लेते थे, और प्रमाण देने के लिए उनकी पुस्तकें या पुस्तकालय उनकी स्मृति की तख्ती का अभ्रान्त लेख था; क्योंकि निर्मलमस्तिष्क रखने के कारण उनके दृष्टान्त ऐसे साधारण और प्रसिद्ध होते थे कि उनकी युक्ति उथली प्रतीत होती है; क्योंकि बुद्धि के तीक्ष्ण होने के कारण वे उपमिति से युक्ति देते थे; इस लिए अवलोकन ही उनका ज्ञान था। सारांश, संसार जैसे मनुष्य आज कल उत्पन्न करता है वे उनसे सर्वथा भिन्न थे। आधुनिक संसार ऐसे सभ्य मनुष्य पैदा करता है जो 'मनुष्य-

प्रकृति के दुर्बल नमूने' हैं। उनकी वास्तु-विद्या विशाल और अधिक स्थायी है। इनकी कलाएं जटिल और बहुसंख्यक हैं। इनकी स्मरण शक्तियां निर्बल, दूषित, और अधिक अविश्वसनीय हैं। इनके पुस्तकालय इतने भारी हैं कि एक स्थान से उठा कर दूसरे स्थान में ले जाये नहीं जा सकते। इनके उदाहरण भारी और अपूर्व हैं क्योंकि उनको बपतिस्मा की रीति पर अस्पष्ट, संस्कृत, और पारिभाषिक भाषा-सरणि से वैज्ञानिक रंग में प्रकट किया जाता है। इनका तर्क आनुमानिक है; इनकी परीक्षा प्रयोग है; इनकी युक्ति संभाव्यताओं की कल्पना है। यह है नैतिक और मानसिक सभ्यता पर धन का बहुविस्तीर्ण प्रभाव।

यदि धनाढ्य होने में इतनी दुष्ट प्रवृत्तियां और संदेहजनक परिणाम भरे पड़े हैं, तो इससे यह यह कल्पना न कर लेनी चाहिए कि जो प्रायः इसका उलट अर्थात् दरिद्रता कहलाती है, उसमें इससे कुछ कम है। क्योंकि संस्कृत में कहा है—

बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।

"ऐसा कौनसा पाप है जो दरिद्रता न कराती हो।" दरिद्रता से हमारा अभिप्राय उस कठिन भारी धातु के अभाव से नहीं जो दूसरे तौर पर सोना कहलाती है, (क्योंकि तांबा, सोना, चांदी ऐसे निर्जीव पदार्थों का सजीव आत्मा की शारीरिक, मानसिक, और नैतिक समृद्धि पर क्या परिणाम हो सकता है) प्रत्युत हमारा अभिप्राय मन की दरिद्रता से है। क्योंकि जहां केवल धातु के अभाव की ही शिकायत हो वहां उसकी पूर्ति शारीरिक परिश्रम और मस्तिष्क की चिन्ताशील युक्ति से भली भांति की जा सकती है। परन्तु मन के आध्यात्मिक और नैतिक संचय में जो कि सारे उद्योग, बुद्धिप्रभाव, भद्रता, और उपभोग सब का एकसा आधार है. प्रकृत द्रव्य की कमी कैसे पूरी हो सकती? संसार की भूल इस बात में है कि उसने सांसारिक गर्ह्य स्थूल वस्तुओं को किसी कामका ख़याल कर लिया है, और ऐसे द्रव्यों के बाहुल्य को सम्पत्ति का चिन्ह समझ लिया है। सच्ची सम्पत्ति आत्मा का धन, और मन का चतुर्विध सहजगुणों से भरा होना है। वे सहजगुण ये हैं—स्वास्थ्य, इच्छा, और शारीरिक बल का गुण, मानसिक शक्तियों का गुण, नैतिक और भावप्रधान संचय का गुण। जिस व्यक्ति को इन मानसिक गुणों में से वंचित भाग मिला है उसे चाहिए कि धातु के छोटे छोटे कठिन, और गुरु चमकते हुए टुकड़ों को जो सिक्के के नाम से प्रसिद्ध हैं तुच्छ समझकर त्याग दे क्योंकि मनकी इन स्वाभाविक शक्तियों से काम लेने के अतिरिक्त और कोई स्वाधीनता, सच्ची स्वतंत्रता और माहात्म्य नहीं। बुद्धि ही सर्वोपरि नियम है। मदोत्कट सिंह,

महाकाय हस्ती, उग्र शार्दूल, भौंकनेवाला भेड़िया, रक्त पिपासु शिकारी कुत्ता, मनुष्य की निमदकारिणी श्रेष्ठ बुद्धि के द्वारा धमकाए जाते हैं; वन के उच्छृङ्खल पशु पालतू बनाए जाते हैं; खानों से कठिन चिट्टानें पृथक् की जाती हैं; पृथ्वी के पेट से बंद खज़ाने निकलवाए जाते हैं; प्रबल नदियों के मार्ग बदल दिए जाते हैं; जल प्रपातों की तीव्र शक्ति छीन कर घूमनें वाली कलों को दी जाती है; आग और पानी से प्रतिक्षण ४० या ५० मील प्रति घण्टा के घोर वेग से लाखों मन बोझ खिचवाया जाता है; यहां तक कि आकाशस्थ बिजली को भी नोकदार वज्रशूलों के द्वारा क़ैद कर लिया जाता है; ये सब काम श्रेष्ठ बुद्धि के पथप्रदर्शन और उपदेश के प्रताप से ही किए जाते हैं। केवल भौतिक ब्रह्माण्ड या पशु-जगत् ही इस प्रकार बुद्धि की शक्ति द्वारा पराजित नहीं हुआ। स्वच्छंद राजत्व धनवानों के प्रबल राज्य, जन्म के अभिमान, और वंश के गर्व को भी तर्क के प्रजातंत्र, 'मन के राजतंत्र', या 'बुद्धि के लोकसत्ताक' शासन ने नीचा दिखाया और अधीन किया है। और इस से भी बढ़ कर जिन विद्यादर्पियों के बाल वृद्धावस्था के कारण श्वेत हो चुके हैं उन्हों ने भी अपने आप ग्रहण किए हुए महत्व को छोड़ कर श्रेष्ठतर बुद्धि वाले लोगों (चाहे वे तरुण ही क्यों न हों) के चरणों में बैठकर शिक्षा प्राप्त की है। यहां तक कि उद्यमशील निपुण और चतुर मनुष्यों ने भी नवीन विचारों की सर्वशक्तिमत्ता के सामने सिर झुकाया है।

अतएव यह बात चित्तपट पर भलीभांति अंकित होनी चाहिए कि बुद्धि रूपी धन ही सच्चा धन है। यह अक्षय धन है। इसकी जितनी पूजा और संमान किया जाए थोड़ा है। भौतिक और जड़ धन को हमें सब से निकृष्ट समझना चाहिए। मनु भगवान् कहते हैं :—

> वित्तं बन्धुर्वयः कर्म्म विद्या भवति पञ्चमी ।
> एतानि मान्यस्थानानि गरीयो यद्यदुत्तरम् ॥

"सम्पत्ति, जन्म का माहात्म्य, आयु, व्यवसाय-सम्बन्धी कौशल या निष्कपट उद्यम और ज्ञान (बुद्धि-विभव) ये पांच चीज़ें संमान के योग्य हैं, और इनमें पहली से पीछे वाली अधिक आदरणीय है।" बुद्धि की श्रेष्ठता के विषय में यह सच्चाई ऊपर के वचन में भली भांति प्रकट की गई है। परिणाम यह निकलता है कि मानसिक ऐश्वर्य सब से अच्छा धन है, और कि इसकी तलाश (जो कि धन की तलाश से सर्वथा विपरीत है) ही मनुष्य-प्रकृति की श्रेष्ठता के समुचित है। मन ही शक्ति

का सच्चा उद्गम स्थान है, और विचार (या ज्ञान) ही सच्ची सम्पत्ति है जिनके सामने कि शेष सब कुछ मिट्टी में मिलकर नष्ट हो जाता है। उपनिषद् कहती है—

आत्मना विन्दते वीर्यं विद्यया विन्दतेऽमृतम् ।

सच्ची शक्ति आत्मा से आती है और अमरत्व विचारों (बुद्धि) से प्राप्त होता है।

"वेदों में मूर्ति पूजन" पर टी० विलियम्स साहब की

आर्य्य-पत्रिका—सम्पादक के नाम लिखी हुई चिट्ठी का पादटीकाओं के रूप में उत्तर।

प्रिय सम्पादक महाशय,—अब आपको कुछ काल के उपरान्त पत्र लिखने लगा हूं। बात यह है कि आपको पत्र लिखने के लिए मुझे अवकाश ही अब मिला है। मुझे आशा है कि जिस आदरशीलता से प्रेरित होकर आपने पहले मेरे लेख को अपने पत्र में स्थान देने का साहस किया था, वही अब भी आपको ऐसा करने की प्रेरणा करेगी।

मेरा विषय है 'वेदों में मूर्तिपूजन'। अपनी युक्ति देने के पहले मैं यह बता देना चाहता हूँ कि मूर्तिपूजन क्या चीज़ है। मनुष्य की बनाई हुई लकड़ी, या पत्थर, या धातु या किसी और ऐसे ही द्रव्य की चीज़ के पूजन का ही नाम मूर्ति पूजन नहीं। यह स्रष्टा के स्थान में सृष्ट पदार्थ के पूजन, अर्थात्, परमेश्वर को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ (चाहे वह पदार्थ कुछ ही क्यों न हो), का पूजन है। (१) मैं समझता हूँ कि आप इसमें मेरे साथ सहमत होंगे। मेरे विचार में किसी आर्य्य को भी इसमें सन्देह न होना चाहिए प्रत्युत इसे पर्याप्त लक्षण स्वीकार कर लेना चाहिए। अब मेरी युक्ति सुनिए।

यदि मेरा ऊपर दिया लक्षण ठीक है तो वायु, या जल, या सूर्य्य, या उषा, या सोमरस की पूजा भी प्रतिमा पूजन है। मेरी प्रतिज्ञा है कि ऋग्वेद में इन सब सृष्ट पदार्थों का पूजन अर्थात् परमेश्वर को छोड़कर और का पूजन, मिलता है। इस लेख में मैं ऊपर लिखी सभी सृष्ट वस्तुओं के विषय में अपने वचन को प्रमाणित करने का यत्न नहीं करूंगा। वायु की पूजा के विषय में जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वही प्रायः इस लेख के लिए पूर्ण रूप से पर्याप्त होगा।

---

(१) इस लक्षण के साथ हम बिलकुल सम्मत हैं। परमेश्वर को छोड़कर किसी अन्य पदार्थ (चाहे वह पदार्थ कुछ ही क्यों न हो) की पूजा ही मूर्तिपूजा है। इस लक्षण के अनुसार, सृष्टि का स्वामी एक होने के कारण, त्रिमूर्ति के तीन परमेश्वरों की पूजा भी मूर्तिपूजा है; और यही बात मनुष्य-परमेश्वर या परमेश्वर मनुष्य की, और अभ्रान्त-शब्द की पूजा की है। क्रास (सूली) की पूजा भी इसका अपवाद नहीं।

अब, पं० गुरुदत्त के प्रमाण से हम कहते हैं कि ऋग्वेद मं० १ । सू० २ । मं० १ । में वायु शब्द का अर्थ पवन है, (देखो वेद-व्याख्या नम्बर १) । उस मंत्र में वायु सम्बोधन पद में है, और अँगरेज़ी में उस का अनुवाद होगा—"हे वायो" !* मंत्र का पद रूप सप्रमाण प्रकट करता है कि यही बात है। वस्तुतः संस्कृत व्याकरण किसी अन्य पद की आज्ञा नहीं देता । वायु के सम्बोधन में होने के कारण, इसकी आश्रित क्रियाएँ, जैसा कि आशा की जाती है, आज्ञापक वाच्य (लोट्) इस प्रकार तीन आश्रित क्रिया हैं । इनका अँगरेज़ी में अनुवाद 'आओ', 'पियो', और 'सुनो' होना चाहिये । प्रत्येक पद में सम्बोधित पुरुष वायु है; इस लिए इसका अर्थ इस प्रकार होगा— "हे वायो, आओ' । 'हे वायो, पियो' । 'हे वायु, सुनो ।" श्रीयुत गुरुदत्त के प्रमाण से अब हम 'वायु' के स्थान में 'पवन' रखते हैं । अब वाक्य इस प्रकार होगा—" हे पवन, आओ; हे पवन, पियो; हे पवन, सुनो । " निस्सन्देह श्रीयुत गुरुदत्त का गलती पर होना सम्भव नहीं । परन्तु यदि उनका कथन सत्य है तो हमें वेद में इस बात का उल्लेख मिलता है कि किसी सरल-हृदय आर्य ने संख्यातीत वर्ष हुए, सोचा था कि पवन एक देवता है जो उसके आवाहन पर आजायगा, उसकी प्रार्थना पर पियेगा, और उसके आह्वान को ध्यान पूर्वक सुनेगा !! यह सरल आर्य सुशील प्रवृत्ति का था क्योंकि जो पेय (२) उसने पवन के पीने के लिए बनाया था वह देवताओं और विशेषतः इन्द्र का प्यारा उल्लास जनक सोम था (३) ।

---

(२) इस लेख के लेखक, विलियम्स महाशय की यहां संस्कृत व्याकरण से विचित्र अज्ञता प्रकट होती है । इस मंत्र में कोई भी ऐसी चीज़ नहीं जो यह सिद्ध करे कि लक्ष्यीकृत पेय सोम ही है । प्रत्युत इसमें कुछ ऐसा भी है जो यह प्रकट करता है कि "सोम" का अर्थ यहां "पेय" नहीं । संस्कृत शब्द "इमे सोमाः" हैं जिन का अर्थ "ये सोम" है । यदि "सोम" का अर्थ "पेय" होता तो यहां "सोम" शब्द और उसका विशेषण रूप सर्वनाम "असौ" या "अयं" एक वचन में होता, "इमे" न होता । यह कह देने से काम न चलेगा कि पेय अनेक प्रकार के होंगे, क्योंकि, चाहे यह ठीक भी हो, "सोम" केवल एक ही प्रकार का पेय है, इस लिए इसका उल्लेख बहुवचन में नहीं हो सकता । अपनी राय को प्रमाणित करने के लिए विलियम्स महाशय को चाहिए कि वे वह मंत्र भी उद्धृत करें जिन में "सोमः" की वस्तुओं और उनके बनाने की विधि का वर्णन हो ।

(३) "देवताओं और विशेषतः इन्द्र का प्यारा सोम" । विलियम्स महाशय यहां अपने "याजकीय" भाव में हैं । न्याय यह चाहता है कि वे इस मंत्र से अच्छी तरह काम लेते और दूसरी बातों के विषय में अपनी "अत्यन्त यथार्थ जानकारी" को

मंत्र का ठीक अर्थ, व्याकरण और व्युत्पत्ति की रीति से यह है—"हे सुदर्शन वायु, आओ। ये सोम तैयार हैं। इनका पान करो। हमारी प्रार्थना को सुनो।"

इस प्रकार मैंने श्रीयुत गुरुदत्त की सहायता से सिद्ध कर दिया कि "वेदों में प्रतिमापूजन" है। (४)

आवश्यक अवसर के लिए संचित रखते। या यदि वे अपनी सुपरिचित पौराणिक जानकारी को ठूँसने के लिए बहुत तत्पर हैं तो उन्हें साथ साथ इसे प्रमाणित भी करना चाहिए। इस लेख में उन्होंने इस बात के लिए क्या प्रमाण दिया है कि सोम सब देवताओं और विशेषतः इन्द्र का प्यारा है। परन्तु वे शायद कहदें कि यद्यपि इस लेख में उन्हों ने कोई प्रमाण नहीं दिए पर प्रमाण दिए जा सकते हैं। क्या वे इसी मर्यादातिक्रम की आज्ञा अपने विपक्षी को भी देंगे? नहीं, यह ईसाई न्याय के विरुद्ध होगा। प्रमाणों की प्रतीक्षा करने के बिना ही, जैसे हमें म० विलियम्स के प्रमाणों के लिए प्रतीक्षा करनी पड़ती है, म० विलियम्स व्याकरण के कुछ रूपों पर "वेद-वाक्य" के लेखक के मूकभाव को एक भारी दोष समझते हैं। वे कहते हैं कि "इसका कारण यह है कि यदि वे ऐसा करते और निष्कपट भाव से करते (अर्थात् व्याकरण पर विचार करते), तो वे इस मंत्र को किसी भी प्रकार का वैज्ञानिक वर्णन न समझ सकते, क्योंकि, व्याकरण उन्हें बाध्य करता है कि वे मंत्र को एक ऐसे सरल-हृदय आर्य की साधारण प्रार्थना बताएँ जिस की परमेश्वर-विषयक कल्पना कोई उच्च न थी; जो हमारे इर्द गिर्द की वायु को कोई ऐसा दिव्य पदार्थ समझता था जो कि उसके बुलाने पर आजाता, उसके तैयार किए हुए "सोम" को पीता, और उसकी पुकार को ध्यान पूर्वक सुनता है।" बिना कुछ भी प्रमाण दिए कारण ठहराना निश्चय ही एक "ईसाई" गुण है। हम एक विद्रूपात्मक देते हैं। क्या कारण है कि म० विलियम्स इस बात को सिद्ध करके नहीं दिखलाते कि 'सोमाः" का अर्थ रस है, 'सोम' शब्द का बहुवचन, साथ ही सर्वनाम 'इमे' का बहुवचन, और यह प्रतिज्ञा कि 'सोम' देवताओं और विशेषतः इन्द्र का प्यारा है। कारण यह, कि यदि उन्होंने किया, और निष्कपट भाव से ऐसा किया तो वे अपने अर्थों को प्रमाणित देखने के स्थान में अलीक पायँगे; उन्हें ज्ञात हो जायगा कि वे स्वयं, इस डर के कारण कि यदि वेद सत्य सिद्ध होगए तो बायबल के प्रायः बीस-शताब्दियों के ईश्वरीय ज्ञान का क्या बनेगा, वेदमंत्रोंका झूठा अर्थ करते हैं।

(४) टी० विलियम्स महाशय के तर्क और पाण्डित्य के प्रकाश में, परमेश्वर से भिन्न किसी अन्य वस्तु की सूचक संज्ञा का सम्बोधन पद में होना, और आश्रित क्रियाओं में मध्यम पुरुष का, या आज्ञापक वाच्य (लोट्) का, अनुबद्ध उपयोग, जिस पुस्तक में हो, मूर्तिपूजन का अकाट्य प्रमाण है। मैं शेक्सपीयर का

अब सम्पादक महाशय, जो कोई मेरी युक्ति को काटे उसे चाहिए कि इन बातों का ध्यान रक्खे, अर्थात् पहले वह श्रीयुत गुरुदत्त ने जो वायु का अर्थ पवन किया है उसे काटे; दूसरे वह इस बात से इनकार करे कि वायु सम्बोधन पद में है; तीसरे वह इस बात से इनकार करे कि आयाहि, पाहि, और श्रुधि मध्यम पुरुष, एकवचन आज्ञापक-वाच्य (लोट्) हैं। जो कोई ऐसा नहीं कर सकता

उद्धरण देता हूँ—"Frailty, thy name is woman", (अस्थिरता! तेरा नाम स्त्री है)। और टी० विलियम्स महाशय की विधि का इस प्रकार प्रयोग करता हूं। Frailty (अस्थिरता) सम्बोधन पद में और thy (तेरा) सर्वनाम मध्यम पुरुष है। इसलिए यह पद्य शेक्सपीयर के Hamlet (हेमलट) में मूर्तिपूजन को स्पष्टतया सिद्ध करता है। परन्तु टी० विलियम्स महाशय कहेंगे कि वेद में केवल यही रूप नहीं, प्रत्युत वायु को खाने, पीने और सुनने की शक्ति वाला वर्णन किया गया है। इसी से मूर्तिपूजन सिद्ध होता है।

मैं महाकवि टेनीसन के "In Memoriam" से उद्धरण देता हूँ।

> "So careful of the type ? but no"
> From scarped cliff and quarried stone
> She cries, "Athens and types have gone,
> I care for nothing, all shall go.
> Thou makest thine appeal to me.
> I bring to life, I bring to death:
> The spirit doth but mean the breath :
> I know no more, etc,"

यहां प्रकृति (Nature) को 'पुकारती हुई', 'किसी वस्तु की परवा न करने वाली', 'अपीलों को सुनने वाली', 'अपीलों का उत्तर देने वाली', 'जीवन देने वाली', या 'मृत्यु के गाल में डालने वाली', और 'कुछ ही जानने वाली', बयान किया गया है। क्या ये मूर्तिपूजन के स्पष्ट चिन्ह नहीं? और लीजिए:—

> O Sorrow wilt thou live with me,
> No casual mistress but a wife,
> My bosom friend and half of life.'
> As I confess it need must be ;
> O Sorrow, wilt thou rule my blood,
> Be sometimes lovely like a bride.
> And put thy harsher mood aside,
> f thou wilt have me wise and good.

वह मजबूर है (५) कि मेरे बताए हुए इस परिणाम को कि "वेदों में मूर्ति-पूजन" है, स्वीकार करे।

मैं तीसरी बात को लेता हूँ और पूछता हूँ कि क्या 'आयाहि', 'पाहि', और 'श्रुधि', (हिज्जे श्री० गुरुदत्त के हैं) मध्यम पुरुष, एक वचन, आज्ञापक वाच्य (लोट्) हैं या नहीं? प्रत्येक सुस्थ वैयाकरण कहेगा कि वे हैं। व्याकरण का नवछात्र मात्र भी जान लेगा कि 'आयाहि' वैसाही है जैसाकि मैंने कहा है। प्रत्यक्ष ही यह वैदिक और साथ ही उसके बाद की संस्कृत का रूप है। इस का कुछ और होना सम्भव ही नहीं। यास्क ने इस मंत्र को उद्धृत (निरु० १०। २) करते समय केवल इसीलिए 'आयाहि', का आधुनिक पर्याय नहीं दिया क्योंकि प्राचीन और अर्वाचिन रूप एक ही हैं, या, पारिभाषिक शब्दों में यों समझिए कि 'आयाहि' शब्द नैगम और लौकिक दोनों हैं। परन्तु 'पाहि', और 'श्रुधि' के लिए यास्क उन के अर्वाचीन पर्याय देकर कहता है कि उनका अर्थ 'पिब' और 'शृणु' है।

महाशय, मैं देखता हूँ कि 'आयाहि' ६४ बार ऋग्वेद में आया है और 'याहि' ६७ बार; प्रत्येक दशा में उनका अनुवाद मध्यम पुरुष, एकवचन, आज्ञापक वाच्य (लोट्) में होता है। यहां तक कि जो मनुष्य इसके विपरीत अनुवाद करता है, व्याकरण के स्पष्ट नियमों को तोड़ने और पूज्यप्रमाण का अनादर करने के कारण सभी उसकी निन्दा करते हैं। अब मैं देखता हूँ कि दयानन्द सरस्वति 'आयाहि' का अर्थ 'आगच्छ', नहीं करते, बल्कि 'आगच्छति' को ही पकड़े जाते हैं। इसी प्रकार

यहां 'शोक' (Sorrow) सम्बोधन पद में है, इसके साथ सर्वनाम "तू" (thou) मध्यम पुरुष है। "शोक" को यहां 'पति बनकर रहने', 'सुनने', 'अंगीकार करने', 'शासन करने' और 'दूसरों के अच्छा और बुद्धिमान् होने की कामना करने' में समर्थ प्रकटकिया गया है। देखिए महाकवि इस देवता को प्रार्थना में "तू करेगा" से अपील करता है। क्या इससे भी बढ़कर कोई और बात स्पष्ट हो सकती है?

वस्तुतः यह बड़ी विचित्र बात है कि इन और अंग्रेज़ी काव्य में कसरत से मिलने वाले ऐसे ही और वचनों का अर्थ न ही टी० विलियम्स महाशय, और न ही कोई और ईसाई भाषातत्त्वविद् मूर्तिपूजन सूचक करेगा, प्रत्युत इसे कवि की कल्पना का फल या मनुष्यधर्म्मारोप बताएगा। पर जब ये भाषातत्त्वविद् ऐसे ही वचन वेद में देखते हैं, तो वे अपनी सहजबुद्धि को तिलाञ्जलि देकर झट "मूर्ति पुजकों" की पवित्र पुस्तकों में प्रतिमापूजन ढूँढ़ने लगते हैं।

(५) मानने के लिए इतना ही मजबूर है जितना कि टी० विलियम्स महाशय इस परिणाम को स्वीकार करने के लिए मजबूर हैं कि महाकवि शेक्सपीयर और टेनीसन के ऊपर दिए वचनों में मूर्तिपूजन है।

वे 'पाहि' का अर्थ 'रक्षयति', और 'श्रुधि' का अर्थ 'श्रवयति' करते हैं। जो व्यक्ति यह कहने की धृष्टता करता है कि "आयाहि=आगच्छति", या "पाहि=रक्षयति", या "श्रुधि=श्रावयति" वह व्याकरण और प्रामाणिक पूर्व दृष्टान्त के साथ घोर धींगा धींगी करता है। ऐसे अर्थ के लिए किसी रूप या विधि से भी कोई युक्ति नहीं मिल सकती। क्योंकि जो मनुष्य अपनी पवित्र पुस्तक के साथ ऐसा गर्हित वर्ताव करता है वह अपने आप को बिलकुल शँकाशून्य प्रकट करता है (६)। यह जतलाने के लिए कि जिस पुस्तक को दयानन्द बाकी सब पुस्तकों से श्रेष्ठ बतलाते थे उस पुस्तक के लिए उनके अन्दर बहुत कम आदरभाव था, मेरे पास एक और प्रमाण है, और सम्पादक महाशय, यह मैं किसी अगली चिट्ठी में आपको लिखूँगा।

परन्तु अब हम पूछते हैं कि श्री० गुरुदत्त इन क्रियाओं के साथ कैसा वर्ताव करते हैं। वे उनके विषय में व्याकरण की रीति से कुछ नहीं कहते। यह असाधारण बात है, क्योंकि वे आरम्भ में ही कहते हैं कि मैं बताऊंगा कि वेद किस प्रकार हमें बताते हैं कि पवन क्या वस्तु है। अब यदि वेद किसी वस्तु की प्रतिज्ञा करता है तो ऐसा करने के लिए उसे क्रिया का लगाना आवश्यक है। पर मंत्र में आई हुई तीन क्रियाओं के विषय में श्री० गुरुदत्त कुछ नहीं कहते, अर्थात् वे उनके व्याकरण के सम्बन्ध में कुछ भी विचार नहीं करते; जो बात क्रियाओं की है वही बात संज्ञाओं की है। व्याकरण पर तनिक भी विचार नहीं किया गया। इसका क्या कारण है? इसका कारण यह है, कि यदि वे ऐसा करते और निष्कपट भाव से करते तो वे इस मंत्र को किसी भी प्रकार का वैज्ञानिक वर्णन न समझ सकते, क्योंकि व्याकरण उन्हें बाध्य करता है कि वे उसे एक ऐसे सरल हृदय आर्य की साधारण प्रार्थना बताएँ जिसकी परमेश्वर-विषयक कल्पना कोई उच्च न थी, जो हमारे इर्द गिर्द के वायु को कोई ऐसा द्रव्य समझता था, जो कि उसके बुलाने पर आ जाता है, उसके तैयार किए हुए सोम को पीता और उसकी पुकार को ध्यानपूर्वक सुनता है। श्रीयुत गुरुदत्त जिस विज्ञान के ऋग्वेद में होने की प्रतिज्ञा करते हैं उसका आधार वे व्याकरण और प्रामाणिक भाष्यों (जैसे कि यास्क) को न बनाकर व्युत्पत्ति को बनाते हैं; और इससे ऋग्वेद को किसी असाधारण प्रतिष्ठा का पात्र ठहराने की

६. यदि टेनीसन की ऊपर दी हुई कविता में अंग्रेज़ी भाषा के पढ़ाने वाला कोई महोपाध्याय "हे शोक" को बदलकर केवल "शोक"! करदेता है तो वह दयानन्द सरस्वती के समान ही व्याकरण के स्पष्ट नियमों को तोड़ता और पूज्य-प्रमाण का निरादर करता है।" अंग्रेज़ी का महोपाध्याय जो व्याकरण पर प्रामाणिक पूर्व दृष्टान्त के साथ धींगा धींगी करने की धृष्टता करता है वह पूर्णरूप से शंकाशून्य समझा जाना चाहिए।

असारता में पहले ही प्रकट कर चुका हूँ, क्योंकि मैंने दिखला दिया है कि वायु, air, और wind सब का ठीक एक ही आशय है, इसलिए जो बातें एक के लिए कही जा सकती हैं वही समान अधिकार के साथ, तीनों के लिए कही जा सकती हैं।

अब यह स्पष्ट है कि वेद का जो अर्थ दयानन्द और उसके अनुयायी करते हैं वह विश्वास के योग्य नहीं, प्रत्युत इसके विपरीत सर्वथा संदेहपूर्ण है। यदि दयानन्द कालेज में यही संस्कृत व्याकरण और उसका यही भाष्य पढ़ाया जाता है तो यह भविष्यद्वाणी करना कोई कठिन नहीं कि वह दिन बड़ा ही अशुभ होगा जिस दिन कि उसकालेज का कोई छात्र संस्कृत की किसी सरकारी परीक्षा में बैठेगा। (७)

सम्पादक महाशय ! पाणिनि का एक सूत्र है—" बहुलम् छन्दसी "। यह व्याकरण में कोई १८ बार आया है। यह सूत्र दयानन्द और उसके अनुयायी वर्ग का अधिकार-सूत्र मालूम होता है, क्योंकि शङ्काशून्य लोग इसका अर्थ यह समझते हैं कि मनुष्य वेद से जैसे अर्थ चाहे निकाल ले। इस प्रकार न केवल "बहुलम्" प्रत्युत "बवल" हो जाता है। (८)

---

(७) ऐसी द्वेषमूलक भाषा विशुद्ध ईसाई भाषा है, क्योंकि, वास्तव में, न केवल दयानन्द एङ्गलो वैदिक कालेज को ही मूर्तिपूजा की इस संदिग्ध शिक्षा से हानि हो रही है, प्रत्युत वे सब स्कूल और कालेज भी जिन में मिल्टन, टेनीसन, शेक्सपीयर, गोल्डस्मिथ और अन्य बहुसंख्यक ईसाई परन्तु मूर्तिपूजक कवियों के ग्रन्थ पढ़ाए जाते हैं; इसी रोग से पीड़ित हैं।

(८) यह दोषारोप सर्वथा निःसार है, और दोषारोप-लेखक के केवल बावेले (bavala) को प्रकट करता है।

गुरुदत्त विद्यार्थी।

पण्डित गुरुदत्त ने जो वचन उद्धृत किए हैं वे चाहे कुछ हो अन्त को हैं तो कवियों के ग्रन्थों से ही लिए गए। ये कविगण (टी० विलियम्स महाशय के सिद्धान्तानुसार) बड़ी दुर्गंधयुक्त मूर्तिपूजा की शिक्षा देते हैं। ऐसी अगाध श्रद्धा वाले मनुष्य के लिए प्रत्यक्ष "ईश्वरीय ज्ञान का पुस्तक" से कुछ बतलाने का प्रयोजन है। विलियम्स महाशय को प्रसन्न करने के लिए हम "ईश्वर के शब्द" (बायबल) को खोलते हैं, और थोड़ी देर ध्यानपूर्वक देखने के बाद नीचे लिखे वचनों पर आते हैं—

" हे फाटको ! अपने सिरों को ऊपर उठाओ। हे चिरस्थायी दरवाज़ो ! तुम भी उनको ऊपर उठाओ; और प्रतापी राजा अन्दर प्रवेश करेगा।" डेविड के गीत। तेईसवां गीत; नवां श्लोक। "हे सारे देशो ! परमेश्वर के पास हर्ष-ध्वनि करो।" दाऊद के गीत, गीत ६६;

श्लोक १. " हे ऊंचे पर्वतो, तुम क्यों उछलते हो ?" दाऊद के गीत; गीत ६७।

हम यह बताना विलियम्स महाशय पर छोड़ते हैं कि क्या उनकी दूसरे मनुष्य की धर्म्म पुस्तक में मूर्तिपूजन ढूंढ़ने की विधि के अनुसार बायबल भी मूर्ति-पूजा का उपदेश देती है या नहीं।

आर्य्य-पत्रिका सम्पादक।

नियोग पर।

टी० विलियम्स महाशय का पं० गुरुदत्त के नाम पत्र।

सन् १८८४ ईसवी की छपी हुई सत्यार्थप्रकाश के पृष्ठ ११८ पर दयानन्द यह प्रश्न उठाते हैं कि क्या "नियोग पति के जीते जी और मरने के उपरान्त दोनों अवस्थाओं में होता है?" इस प्रश्न का वे स्वयम् यह उत्तर देते हैं—"हां, नियोग पति के जीते जी भी होता है।" यह हमें मालूम ही है कि नियोग से दयानन्द का क्या अभिप्राय है। नियोग यह है कि जब दम्पति (स्त्री और पुरुष) के कोई सन्तान न हो तो उन में से वह जो क्लीव नहीं सन्तान की इच्छा से किसी दूसरे स्त्री या पुरुष के साथ सम्भोग कर सकता या कर सकती है।

इस समुल्लास के पहले भाग में वे बताते हैं कि पत्नि को पति के मरजाने पर क्या करना चाहिए। इससे आगे चलकर जहां वे यह दिखलाते हैं कि जीवित परन्तु नपुंसक पति की अवस्था में पत्नि को क्या करना चाहिए, वे इस विस्मयोत्पादक सिद्धान्त की नींव रखते हैं कि सन्तानहीन मनुष्य की स्त्री, पति के जाते जी ही, सन्तान प्राप्ति के लिए किसी दूसरे विवाहित पुरुष से सम्भोग कर सकती है। यह देखकर आश्चर्य होता है कि अपने इस अद्भुत सिद्धान्त की पुष्टि में वे पहले की तरह मनु नहीं, परन्तु ऋग्वेद के दसवें मण्डल की दसवीं ऋचा का भाग उद्धृत करते हैं। उनके पास उपस्थित करने के लिए सब से बड़ा और एक मात्र प्रमाण यही है।

मेरा अभिप्राय यह नहीं कि ऋग्वेद में ऐसी अश्लीलता नहीं, क्योंकि मैं दिखला सकता हूँ कि उसमें है, परन्तु यह दिखलाना आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द के लिए रह गया था कि ऋग्वेद वस्तुतः ऐसी अत्यन्त दुराचार की शिक्षा देता है कि यदि किसी स्त्री का पति नपुंसक हो तो वह किसी दूसरे विवाहित पुरुष के पास सम्भोग के लिए चली जाये। मेरा यह भी मतलब नहीं कि हिन्दुओं ने इस सिद्धान्त को पहली बार दयानन्दियों से ही सुना है, क्योंकि यह बात प्रसिद्ध है कि हिन्दू इस के अनुसार शताब्दियों तक कर्म करते रहे हैं। प्रयाग में पण्डे ब्राह्मणों से यही काम लिया जाता है; इसी प्रकार के काम ने वल्लभाचार्य सम्प्रदाय के

महाजनों को बदनाम किया है; और इसी ने जैनियों के विवाह कर्म को जगत् में निन्दित प्रसिद्ध कर दिया है। परन्तु जो कुछ मैं कहना चाहता हूँ वह यह है कि मेरे पास यह ख्याल करने के लिए कारण हैं कि हिन्दुओं के इतिहास में यह पहला ही समय है, जब कि यह विकट सिद्धान्त ऋग्वेद के गले मढ़ा गया है, और इस प्रकार गले मढ़ने की अस्पृहणीय प्रतिष्ठा आर्यसमाज के प्रवर्तक दयानन्द को प्राप्त है।

पर महाशय! जब हमें यह पता लगता है कि यह सब झूठ है तो इस प्रतिष्ठा की अस्पृहणीयता सहस्रों गुना प्रबल हो जाती है। हां महाशय! यह कहना कि ऋग्वेद ऐसी शिक्षा देता है बड़ा भारी झूठ है। ऋग्वेद को कुत्सित रीति से झूठा बनाने के ऐसे उदाहरण के पश्चात् दयानन्द के विषय में कोई क्या ख्याल कर सकता है, विशेषत: जब कि वह इसकी पूजा ईश्वरीय ज्ञान की पुस्तक की भांति करते हुए भी उसे ऐसी निर्दयता से कीचड़ में घसीटता है।

महाशय! क्या आपको विदित नहीं कि ऋग्वेद, मंडल १०, सूक्त १०, मंत्र १० का जो भाग दयानन्द उद्धृत करता है उसमें बोलने वाला भाई है और वह स्त्री जिससे वह बात करता है उसकी बहन है !!! बोलने वाला यम है और वह स्त्री जिससे वह बात करता है यमी उसकी बहिन है—वह उसकी केवल बहिन ही नहीं किन्तु उसकी जौड़िया बहिन है।

क्या आश्चर्य्य है कि अब तक कोई हिन्दू ऐसा पागल नहीं हुआ कि ऐसी शिक्षा को ऋग्वेद के सिर मढ़ता, क्योंकि प्रत्येक हिन्दू जिसने कभी वेद का दर्शन मात्र भी किया था जानता था कि बोलने वाला यम है और वह अपनी जौड़िया बहिन यमी से बात करता है। दयानन्द इसका इस प्रकार अनुवाद करते हैं कि बोलने वाला पति है और जिस स्त्री से वह बात करता है वह उसकी पत्नि है। अब यहां वे जान बूझकर झूठ बोलते हैं। मैं पूर्ण निश्चय से कहता हूँ कि दयानन्द जानते थे कि बोलने वाला यम है और वह अपनी जौड़िया बहिन यमी से बात करता है। अतएव वे कितने भीषण असत्य के अपराधी हैं !!!—भीषण इसलिए कि वे ऐसी पुस्तक के विरुद्ध जान बूझकर झूठ कहते हैं जिसको कि वे ईश्वरीय ज्ञान मानते और जिसके ईश्वरीय ज्ञान होने की घोषणा करते हैं।

दयानन्दियों के लिए इस गर्हा दोषारोप से बचने का केवल एक ही उपाय है, और वह यह कि वे यह दिखलादें कि बोलने वाला यम नहीं, और जिस स्त्री से वह बात करता है वह उसकी जौड़िया बहिन यमी नहीं। पर ऐसा निषेध कैसा निःसार होगा यह मैं निश्चयपूर्वक सिद्ध करूंगा। क्योंकि—

(१) स्वयं मंत्र को छोड़कर, उपस्थित करने के योग्य सब से प्राचीन प्रमाण यास्क है। वह निरुक्त ६, ५, ५ में इसी सूक्त के १३वें मंत्र पर अपनी टिप्पणी को उद्धृत कर कहता है—"यमी यम से कहती है" कदाचित्। शायद कोई यह न कहदे कि ग्रन्थकार पर अपने टीकाकारों के कथन का बंधन नहीं हो सकता, अतएव मैं यास्क के अपने ही शब्द देता हूँ। निरुक्त ११, ३, १३ में ऋग्वेद १०, १० के चौदहवें मंत्र की व्याख्या करते हुए वह स्वयम् कहता है—"यमी यम चकमेतां प्रत्याचचक्ष।" इसका अर्थ यह है कि यमी ने यम से भोग करना चाहा पर यम ने इनकार कर दिया। अब यह निश्चय ही काफी स्पष्ट है, क्योंकि यह प्रत्यक्ष है कि यास्क और उसका टीकाकार जिन मन्त्रों को उद्धृत करते हैं उन्हें वे यम और यमी के कथोपकथन का एक भाग समझते हैं, जिसमें कि यमी यम के साथ सम्भोग करना चाहती है पर यम इनसे इनकार करता है। भला इसका एक क्लीव पति के अपनी स्त्री को किसी दूसरे विवाहित पुरुष के पास सम्भोग के लिए जाने की आज्ञा देने के साथ क्या सम्बन्ध है !!! यास्क का टीकाकार स्पष्ट शब्दों में कहता है कि यम यमी का भाई था। महाशय, आपको यह स्मरण दिलाने का प्रयोजन नहीं कि यास्क का यह निरुक्त एक वेदांग है, इसलिए पूर्ण वैदिक प्रमाण है। दयानन्द उस यास्क के विरुद्ध, जिसके विषय में कि वह स्वीकार करता है कि मैं उसका पूर्ण आदर करता हूँ, चलने और यह कहने की कि यहां क्लीव पति का प्रसंग है, कैसे धृष्टता करता है !!

(२) मेरा दूसरा प्रमाण भी किसी तरह यास्क से कम नहीं। यह कात्यायन है। उसकी ऋग्वेद की सर्वानुक्रमणिका जिसमें उसने उस वेद के प्रत्येक मंत्र का ऋषि और देवता आदि दिए हैं इन बातों में एक बड़ा प्रमाण है और सब उसे आदर की दृष्टि से देखते हैं। कात्यायन भी यजुर्वेद के शतपथ ब्राह्मण के श्रौत सूत्रों का रचयिता है, और वैयाकरण की दृष्टि से भी पाणिनि और महाभाष्यकार पतञ्जलि (जो कि प्रधानतः पाणिनीय व्याकरण पर कात्यायन की वार्तिकाओं की व्याख्या में ही प्रवृत्त है) से भी दूसरे दर्जे पर नहीं। अतएव ऐसे सब विषयों में जिन पर कि हम यहां विचार कर रहे हैं कात्यायन के अनिवार्य प्रमाण होने में कोई सन्देह नहीं हो सकता। अब वह अपनी सर्वानुक्रमणिका में कहता है कि ऋग्वेद १०, १०, का कोई ऋषि था सवत नहीं, क्योंकि वह कहता है कि यह सूक्त वैवस्वत के पुत्र यम और पुत्री यमी के बीच कथोपकथन है। उसके शब्द ये हैं—वैवस्वतयो—र्यमयम्योः सम्वादः। अब महाशय, खुद इस मंत्र को छोड़कर भी, किसी तरह से भी इन दोनों के समान प्रमाण और कोई प्रबल मिलना असम्भव है। परन्तु अब मैं स्वयम् सूक्त की ओर आता हूँ।

(३) (क) यम और यमी का नाम सूक्त में छः वार आया है, और तीन वार प्रत्येक का नाम विशेष संज्ञा के तौर पर है । १३ वें मंत्र में यम सम्बोधन विभक्ति में "हे यम" ! है, और १४ वें मंत्र में यमी उसी विभक्ति में "हे यमी" ! है । ये दो अन्तिम मंत्र हैं । शतपथ बतलाता है कि सम्बोधन विभक्ति के सिवा और किसी प्रकार भी वाक्य की रचना सम्भव नहीं । इस लिए यह सँलापकों के नाम को प्रकट करता है ।

(ख) अब दूसरी बात रही उनके सम्बंध की । दूसरे मंत्र में यम यमी को अपने गोत्र की स्त्री, "सलक्ष्मा", कहता है । आगे चलकर चौथे मंत्र में यम कहता है कि हमारा (यम और यमी का) मूल—"नाभिः"—गंधर्व और उसकी जल-स्त्री है, और हमारा सम्बंध सगोत्रता का—"जामि"—है । पांचवें मंत्र में यमी कहती है कि त्वष्टृ ने हमें गर्भमें पति और पत्नि—दम्पती—वनाया है । वह यहां पर यह दिखलाती है कि वे यमज (जौड़िये) उत्पन्न किए गए थे, और इस से वह यह परिणाम निकालती है कि उन्हें पति और पत्नि वनना चाहिए । फिर नवें मंत्र में वह उसी प्रकार युक्ति देती है कि आकाश और पृथ्वी पर जोड़े—"मिथुना"—अर्थात् यमज परस्पर जुड़े हुए—"सबन्धू"—हैं, और उसी मंत्र में वह कहती है कि मैं यम के साथ सगोत्रों का सा वर्ताव नहीं करना चाहती । दसवें मंत्र में यमी कहती है कि आज से लहू के नातेदार—जामयः—वह काम करेंगे जो उन के शोणित-सम्बंध—अजामि—के लिए अनुचित है । ग्यारहवें मंत्र में वह शिकायत करती है कि यम भाई—भ्राता—होकर भी उसकी सहायता नहीं करता, और यद्यपि वह उसकी बहिन—स्वसा—है फिर भी वह उस पर विपत्ति आने देता है । बारहवें मंत्र में यम यमी के साथ सम्भोग करने से इनकार करता है क्योंकि वह कहता है कि जो पुरुष अपनी बहिन—स्वसा—के साथ सम्भोग—निगच्छात्—करता है लोग उसे पापी कहते हैं । उसी मंत्र के अन्त में वह कहता है—हे प्यारी, तेरा भाई इसका अधिकारी नहीं—"न ते भ्राता, सुभगे, वष्टयेतत्" । अथर्व वेद में यह सूक्त वर्णन कर दिया गया है । वहां यम का इनकार भी निश्चित और गम्भीर शब्दों में मिलता है ।

यदि महाशय, अब इतने पर भी कोई मनुष्य यम और यमी के सम्बंध पर विवाद करे तो उसे सिवाय पागल के और क्या कहा जा सकता है ।

बस अब मैंने दिखला दिया है कि इस कथोपकथन में बातें करने वाले जौड़िये भाई और बहिन हैं । बहिन यमी की यह उत्कट कामना है कि उसका भाई यम उसके साथ सम्भोग करे । भाई यम ऐसा करने में पाप बताता है और दृढ़ता पूर्वक उसे

इनकार करता है, परन्तु साथ ही उसे किसी दूसरे पुरुष की कामना करने और उसे आलिंगन करने को कहता है। जिस दसवें मंत्र का प्रमाण दयानन्द देते हैं उसमें ठीक यही बात है, परन्तु वे उसका असत्य अनुवाद करके यह दिखाते हैं कि यदि किसी स्त्री का पति अशक्त हो तो वह सन्तान की प्राप्ति के लिये किसी दूसरे विवाहित पुरुष से भोग कर सकती है !!! दयानन्द के योग्य शिष्य, गुरुदत्त, अपने गुरु को "अपने समय का वेदों का एक ही पंडित" बताते हैं। लेकिन दयानन्द को जान बूझ कर वेदों को झुठलाने और ऋग्वेद के सिर एक ऐसा अत्यत अश्लील सिद्धान्त मढ़ने (जिस की कि उस वेद में गंध तक नहीं) का अपराधी सिद्ध करने के बाद मैं यह कहने के लिए सर्वथा उद्यत हूँ कि निस्सन्देह दयानन्द अपने समय में वेदों का सब से भयानक शत्रु था।

नियोग पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना का उत्तर।

एक लेखक का कथन है कि "मनुष्य के आचरणों की जांच करने के लिए उस से उस ईश्वर के विषय में प्रश्न करो जिस में कि उसकी श्रद्धा है। यदि वह उसका उत्तर न्याय और सरलता से देगा तो वह उत्तर उसकी प्रकृति और आध्यात्मिक और मानसिक वृद्धि का प्रकाशन होगा।"

यह प्रतिज्ञा पूर्णतः सत्य है। मनुष्य और जातियों का सारा अनुभव इस की पुष्टि करता है, और ईसाइयों की बायबल भी इसका एक प्रमाण है। बायबल (उत्पत्ति पुस्तक, १, २६) कहती है कि "परमेश्वर ने मनुष्य को अपनी प्रतिमूर्ति बनाया है।" अतएव, मनुष्य, प्रतिमूर्ति होने के कारण, परमेश्वर के स्वभाव को प्रकट करता है, या मनुष्य (अपनी भावना में) ठीक वही है जो कुछ कि उसका परमेश्वर है। शायद यह कहना और भी ठीक होगा कि मनुष्य परमेश्वर को अपनी प्रतिमूर्ति के सदृश बनाता है। इस अवस्था में भी परमेश्वर उसके आचरण और मानसिक योग्यता का सच्चा दर्शक है। इस सचाई को अपना पथदर्शक मानकर हम चाहते हैं कि इस लेख में टी० विलियम्स महाशय के उस आचार और योग्यता की परीक्षा करें जिस से कि वे दयानन्द पर दोषारोपण करने का दम भरते हैं। क्योंकि जैसे यह एक नित्य सत्य है कि "जिस मनुष्य का सिर घूमता है वह यह समझता है कि सारी दुनिया घूम रही है," वैसे ही जो दोष टी० विलियम्स साहब दयानन्द पर लगाते हैं कहीं वे स्वयं उन में ही न हों। सच्ची बात तो यह है कि सौभाग्य से टी० विलियम्स महाशय ने ईसाई पक्षपात का चशमा पहन रक्खा है, और उन्हें, पाण्डुरोग के रोगी की तरह, प्रत्येक वस्तु अपने चशमे के रंग में ही रंगी हुई देख पड़ती है। टी० विलियम्स महाशय अपने लेख में दयानन्द पर ये दोष लगाते हैं:—

१. वे वेदों का अपर्याप्त आदर करते हैं।

२. वे नियोग के विस्मयोत्पादक, और अत्यन्त अश्लील सिद्धान्त का प्रचार करते हैं।

३. इस सिद्धान्त को ऋग्वेद के सिर मढ़ने की अस्पृहणीय प्रतिष्ठा उन्हें प्राप्त है।

४. वे झूठ, सफेद झूठ, जान बूझ कर झूठ, भयानक झूठ बोलते थे, और कुत्सित रीति से वेदों को झुठलाते हैं।

५. वे भौंड़ थे।

६. वे अपने समय के वेदों के भयानक शत्रु थे। और अन्त को टी० विलियम्स साहब उस सच्चे ईसाई भाव के साथ जोकि उन्होंने ईसाई वक्ताओं से अपने अन्दर ग्रहण किया होगा दयानन्द और उसके मत को घृणा भरे शब्दों में याद करते हैं।

इस लेख में मैं 'प्रभु (Lord) शब्द (जिन अर्थों में वह बायबल की पुरानी संहिता में प्रयुक्त हुआ है) और "खीष्ट" (Christ) में कोई भेद नहीं समझूँगा; क्योंकि पुरानी संहिता का "प्रभु" जेहोवा या जगदीश्वर है, परन्तु त्रिमूर्ति का जगद्विख्यात (अपनी सर्वश्रेष्ठ प्रांजलता के कारण) सिद्धान्त यह है कि पिता रूप परमेश्वर (जेहोवा), पुत्र रूप परमेश्वर (खीष्ट) और पवित्र आत्मा (प्रभु) सब एक ही हैं। इसलिए मैं पुरानी संहिता में "प्रभु" शब्द के स्थान में "खीष्ट" शब्द रखदूंगा जिससे इसे प्रिय, आधुनिक ईसाई वेष मिल जावे। अब मैं इस विषय पर फिर आता हूँ। मैं यह दिखलाऊंगा कि जो दोष टी० विलियम्स दयानन्द पर आरोपित करते हैं, यदि बायबल सच्ची है तो वे सब दोष खीष्ट (जेहोवा या प्रभु) में पाये जाते हैं।

टी० विलियम्स साहब दयानन्द पर पहले यह अभियोग लगाते हैं कि उनके हृदय में वेदों के लिए यथेष्ट आदर न था।

अब मैं पाल (पहली कोरन्तीलों अध्याय ७, आयत १२) का प्रमाण देता हूं। मैं औरों से बोलता हूं प्रभु से नहीं। फिर (दूसरी कोरन्तीलों अध्याय ११, आयत १७) "जो कुछ मैं कहता हूँ प्रभु की ओर से नहीं कहता। लेकिन अभिमान में आकर मूर्खता से कहता हूँ। यहां पर यह स्मरण रहना चाहिए कि पाल एक दैवज्ञान-प्राप्त श्रेष्ठजन है, और पाल के दैवज्ञान ने, जोकि खीष्ट के विचार हैं, उससे यह कहलाया है कि जिस चीज़ का उसे दैवज्ञान हुआ है (बायबल का एक भाग) वह परमेश्वर की ओर से नहीं परन्तु मूर्खता और अज्ञान से भरा है। इसलिए प्रभु या खीष्ट बायबल का अपर्याप्त आदर करने का दोषी है, क्योंकि वह कहता है कि बायबल ईश्वरीय ज्ञान नहीं।

दूसरे टी० विलियम्स साहब स्वामी दयानन्द को नियोग के विस्मयकारी और अत्यन्त अश्लील तथा विकट सिद्धान्त का प्रचार करने का दोषी ठहराते हैं। हम डियोटरोनोमी (Deuteronomy) २५ : ५—१० का प्रमाण देते हैं—"यदि भाई इकट्ठे रहते

हों और उनमें से एक सन्तानहीन मर जाय, तो मृतक की स्त्री किसी अपरिचित से विवाह न करे, प्रत्युत उसका देवर उसके पास जाय, और उसे अपनी पत्नी बनाकर उसके साथ देवर का कर्तव्य पालन करे, और वह यह है कि पहली सन्तान जो उससे पैदा हो वह उसके मृत भाई का उत्तराधिकारी हो जिससे उसका नाम इसराईल में से मिट न जाय। और यदि वह मनुष्य अपने मृत भाई की पत्नि को ग्रहण करना पसन्द न करे तो वह स्त्री बड़ों के द्वार पर जाकर कहे—'मेरे पति का भाई अपने पति की पीढ़ी इसराईल में चलाने से इनकार करता है। वह मेरे साथ देवर के कर्तव्य को पूरा नहीं करता।' तब नगर के बड़े २ आदमी उसे बुलायें और उसे समझायें; और यदि वह न माने और कहे 'मैं उसे ग्रहण करना नहीं चाहता', तब उसके भाई की स्त्री बड़ों के सामने उसके पास आये और उसके पैर से उसका जूता निकाले, और उसके मुंह पर थूके, और उत्तर दे और कहे "उस मनुष्य के साथ जो अपने भाई के घर को बनाने से इनकार करता है यही सलूक होगा, और इसराईल जाति में उसका कुल उस मनुष्य का कुल कहलायगा जिसका जूता खोला गया है।" अब यदि यह साफ नियोग नहीं तो और क्या है? इस प्रकार खीष्ट पर "नियोग के विस्मयकारी, अत्यन्त अश्लील और विकट सिद्धान्त" का प्रचार करने का दोषी ठहरता है।

तीसरे, और फलतः, खीष्ट बायबल पर इस सिद्धान्त के थोपने की अस्पृहणीय प्रतिष्ठा रखने का दोषी ठहरता है।

चौथे, टी० विलियम्स महाशय दयानन्द पर झूठ बोलने, जान बूझकर झूठ बोलने, भीषण झूठ बोलने, और कुत्सित रीति से झुठलाने का दोष लगाते हैं'

अब राजाओं की पहली पुस्तक अध्याय २२,आयत २३ को देखिए। "और वहां एक प्रेत आया और प्रभु के सामने खड़ा हुआ, और कहने लगा कि मैं उसे फुसलाऊँगा। और प्रभु ने उससे कहा किस तरह? तब उसने उत्तर दिया कि मैं जाऊंगा और उसके सभी भविष्यद्वक्ताओं के मुख में झूठ बुलाने वाली आत्मा बनकर रहूंगा। तब प्रभु ने कहा कि तू उनको फुसला और उन्हें मना ले; जा और ऐसा कर। अतएव, अब देखो, प्रभु ने तेरे इन सब भविष्यद्वक्ताओं के मुंह में एक झूठी आत्मा रख दी है। और प्रभु ने तेरे विषय में बुरी बातें कही हैं।" फिर(2 T hes. 2–11) "इस कारण से परमेश्वर उन में ऐसा भारी भ्रम पैदा कर देगा कि वे झूठ में विश्वास करने लगेंगे।"

क्या यहां पर ईसाइयों का प्रभु अपने भविष्यद्वक्ताओं के मुख में झूठ डालने और "एक झूठ, एक अत्यन्त झूठ, जान बूझकर झूठ, एक भीषण झूठ, और एक

कुत्सित झूठ" के द्वारा लोगों को भ्रम में डालने का दोषी नहीं ठहरता ?

पांचवें, टी० विलियम्स साहब स्वामी दयानन्द पर भौंदूपन (Idiocy) का दोष लगाते हैं। वेब्स्टर अपने कोश में भौंदूपन (Idiocy) को "बुद्धि का एक दोष" कहते हैं। यह दिखलाने के लिए कि यह दोष खीष्ट या प्रभु में था हम उत्पत्ति की पुस्तक (१, ३०) की ओर आते हैं। वहां लिखा है—प्रभु ने अपनी बनाई हुई प्रत्येक वस्तु पर दृष्टि डाली, और देखा कि वह बहुत अच्छी है।" अब यहां प्रभु को अपनी बनाई हुई प्रत्येक वस्तु बहुत अच्छी मालूम हुई। फिर उसी पुस्तक के छठे अध्याय के छठे श्लोक में लिखा है "प्रभु को पश्चात्ताप हुआ कि उसने पृथ्वी पर मनुष्य को बनाया, और उसे हार्दिक शोक हुआ।" ऊपर के कथन से यह स्पष्ट है कि समय ने प्रमाणित कर दिया कि प्रभु की बुद्धि में दोष है क्योंकि उसने अपनी सृष्टि के बहुत अच्छी होने की भ्रांतिजनक आशा बांधी थी, पर इसके विपरीत वह उसके लिए पश्चात्ताप और शोक का कारण सिद्ध हुई। क्या यह सदोष बुद्धि, भौंदूपन नहीं ? अतएव खीष्ट या प्रभु उस भौंदूपन का दोषी है जिसका दोषी कि टी० विलियम्स साहब दयानन्द के ठहराने के लिए ऐसे व्यग्र हैं।

हमने दिखला दिया है कि खीष्ट किस प्रकार बायबल के ईश्वरीय ज्ञान होने की घोषणा करता है, अतएव, वह अपने आपको अपनी बायबल का शत्रु विघोषित करता है। इसलिए टी० विलियम्स साहब को दयानन्द पर अपने समय का वेदों का भयानक शत्रु होने का दोष लगाते देखकर आश्चर्य नहीं होता।

और अन्ततः, टी० विलियम्स साहब सच्चे ईसाई भाव के साथ अपने धर्म-प्रचार के शस्त्र स्वामी दयानन्द पर चलाते हैं और उन्हें निन्दा का पात्र ठहराते हैं। यह भी पहले दोषों की तरह टी० विलियम्स साहब के प्रभु के असदृश नहीं। बायबल बताती है कि प्रभु या खीष्ट एक व्यक्ति के पाप के बदले प्रत्येक युग और प्रत्येक देश में अपनी सारी सृष्टि को कोसता और दुःख और सन्ताप, दासत्व और मृत्यु का दण्ड देता है। बायबल कहती है कि प्रभु ने सब सांपों को एक सांप के कारण, जिसने कि हव्वा को प्रलोभन में फँसाया था, कोसा और उन्हें सब पशुओं से बढ़कर निन्दित बनाया, उन्हें पेट के बल चलने और मिट्टी खाने का दण्ड दिया, और मनुष्यों के हृदय में उनके लिए शत्रुता पैदा करदी। बायबल दिखलाती है कि प्रभु ने सब स्त्रियों को दण्डित किया, एक पुरुष के पाप के लिए पृथ्वी को शाप दिया, सब आने वाली पीढ़ियों को दुःख देने के लिए इसे कांटे और झाड़ियां पैदा करने पर शाप दिया; सारी मनुष्य-जाति को सब देशों और सब युगों में आजन्म शोक में भूमि को खाने, खेतों की बूटियां खाने, पसीना बहा कर रोटी खाने और अन्त को मिट्टी में ही मिल जाने का दण्ड दिया। कैसा व्याकुल कर देने वाला विचार है।

असंख्य प्राणी उन पापों के लिए जो उनके जन्म के भी पहले किए गए थे, निर्दय भाव से प्रति दिन की आशाशून्य विपत्ति में डाले जाएँ, मानों एक ईश्वर-निन्दा तो काफी ही न थी।

अपने प्रकृत विषय की ओर आने के पहले हम एक बात और कहदेना चाहते हैं। टी० विलियम्स महाशय को सदा याद रखना चाहिए कि उनकी बायबल् ऐसा सिखलाती है। अपने भाई पर केवल उसे ही तीर फेंकने चाहिएं जो आप अपाप हो। विलियम्स महाशय! पहले अपनी बायबल में से घृणोत्पादक असंगतियों और घोरताओं; और इसकी कुत्सित और घातुक शिक्षा को दूर करके अपने आपको और अपने प्रभु को निष्पाप कर लीजिए फिर वेद के सिद्धान्तों पर आक्रमण करने के लिए सिर उठाइए। बायबल के व्युमएडज़ में रहने के कारण बीस वर्ष तक संस्कृत का धैर्य्यपूर्वक अध्ययन करने पर भी, आप सिद्धान्तों को समझने के ऐसे ही अयोग्य हैं जैसाकि ग्रामर स्कूल में पढ़ने वाला एक छोटा लड़का यूनानी या इब्रानी भाषा को समझने में असमर्थ होता है। अब हम प्रकृत विषय की ओर आते हैं।

ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०, मंत्र १० का जो प्रमाण स्वामी जी ने दिया है उसके विषय में हमारे मान्य मिश्नरी कहते हैं—"महाशय! क्या आपको मालूम नहीं कि ऋग्वेद मण्डल १०, सूक्त १०, मंत्र १० का जो भाग दयानन्द उद्धृत करते हैं उसमें बोलने वाला भाई है और वह स्त्री जिस से वह बात करता है उसकी बहिन है!!! बोलने वाला यम है और वह स्त्री जिस से वह बात करता है यमी उसकी बहिन है—न केवल उसकी बहिन ही नहीं बल्कि उसकी जौड़िया बहिन है।" उन्नीसवीं शताब्दि में पादरी—रत्न, टी० विलियम्स, को यह बताने के लिए कि यम और यमी जौड़िया भाई और बहिन थे, एक विशेष ईश्वरीय ज्ञान का प्रयोजन था। टी० विलियम्स के प्रत्यादेश ईश्वरीय वाक्य होने का प्रमाण तो हमें शनैः शनैः मिलेगा, पर उनके इस व्यक्तिगत ईश्वरीय ज्ञान पर अड़ने का कुटिल अभिप्राय स्पष्ट और विशुद्ध ईसाईयों का सा है। गुलाब के फूल के नीचे बैठे हुए सांप की तरह, वे अपनी-आप-में-भूले-हुए हिन्दुओं को अपने झूठी खुशामद से भरे हुए, व्यंजनामय वाक्य सुना रहे हैं. ताकि वे आर्य्यों से चिढ़ कर सांके काम में उनसे मिल जायँ। वे धोके से यह प्रकट करते हैं कि मंत्र का अर्थ यह है कि यमी अपने भाई यम से विवाह की प्रार्थना करती है और यम इनकार करता है, इस लिए वेद नियोग की आज्ञा नहीं देते। पर यह सब तो छल है, इसमें गुप्त [यक्योंकि यह है कि हिन्दुओं के पवित्र और पूज्य पूर्व जो, प्राचीन आर्यों, पुरातन

वैदिक, ऋषियों म भी ऐसी भ्रष्टता थी कि एक बहिन अपने जौड़िये भाई से विवाह की प्रार्थना करने का साहस कर सकती थी। पर वर्तमान पड़ताल के सामने ऐसा दम्भ ठैहर न सकेगा, और न ही टी० विलियम्स महाशय उस पदवी का अभिमान कर सकेंगे जो कि केवल परमात्मा को ही प्राप्त है। टी० विलियम्स का प्रगल्भ कटाक्ष यह है—"मैं पूर्ण निश्चय से कहता हूँ कि दयानन्द जानते थे कि बोलने वाला यम है, और वह अपनी जौड़िया बहिन यमी से बात करता है। अतएव वे कितने भीषण असत्य के अपराधी हैं।" बेचारे विलियम्स! क्या तुम्हारा यह निश्चय एक अत्यंत भीषण असत्य नहीं, भीषण इस लिए कि तुम एक ऐसे महापुरुष के विरुद्ध झूठ बोलते हो जिसका नैतिक आचार आदर्श तुम्हारे खोष्ट से कहीं बढ़ कर है। (इस विषय पर देखो अखबार थीयोसाफिस्ट)।

अपनी प्रतिज्ञा की पुष्टि में टी० विलियम्स निरुक्त ६, ५, ५ का प्रमाण देते हैं, और मूल को भूल कर एक कृत्रिम भाष्य की शरण लेते हैं, परन्तु फिर कुछ निद्रा से उठकर नि० क ११, ११, १३ पर आते हैं और "यमी यमं चकमेतां प्रत्याचचक्ष को पेश करते हैं," जिसका अर्थ, टी० विलियम्स के अनुसार, यह है कि "यमी ने यम से संभोग करना चाहा, उसने इनकार कर दिया।" अब टी० विलियम्स की यह सुनिश्चित प्रतिज्ञा की यम और यमी भाई और बहिन हैं कहां है? बेचारे विलियम्स साहब केवल यह उत्तर दे सकते हैं "यास्क का टीकाकार कहता है कि कोई ग्रन्थकार अपने टीकाकार के कथन के लिए ज़िम्मेदार नहीं हो सकता", यास्क का भाष्यकार घोर विपत्ति में पड़ा है। मान लिया कि यास्क का निरुक्त एक वेदाङ्ग है, और वेदों पर पूरा पूरा प्रमाण है, फिर भी हमें निश्चय है कि कोई मनुष्य ऐसा पागल न होगा जो, टी० विलियम्स साहब की तरह, यह विश्वास कर लेगा कि क्योंकि निरुक्त एक वेदाङ्ग है इस लिए उसकी टीका भी वेदाङ्ग है क्रोव ईसाई तरक !!!

अब वे कात्यायन की ओर आते हैं। उसके शब्द हैं—वैवस्वतयोर यम यम्योः सम्वादः"। अब संस्कृत के निर्भ्रान्त प्रमाण, विद्वद्वर टी० विलियम्स, 'वैवस्वतयोः' का अर्थ 'वैवस्वतका पुत्र और पुत्री' करते हैं; और इस प्रकार निर्भ्रान्त रूप से यह सिद्ध करते हैं कि सूक जौड़िया भाई और बहिन में कथोपकथन है। पर निरुक्त अध्याय ७, खण्ड २६ कहता है—"विवस्वत आदित्याद्विवस्वान्विवासनं वान् भेरितवतः परागताद्वा" जिस का अर्थ यह है कि वैवस्वत सूर्य्य का नाम है। फिर निरुक्त १२, १० में लिखा है—"आदित्याद् यमौ मिथुनौ छनयाञ्चकार" और निरुक्त १२, ११ में "रात्रिरादित्यस्यादित्योदयेऽन्तर्धीयते" मिलता है। इसका

अर्थ यह है कि जहां वैवस्वत, अर्थात सूर्य्य के सम्बंध में यम और यमी के जोड़े का उल्लेख हो, वहां रूपक को स्पष्ट करके अर्थ यह होते हैं कि सूर्य के उदय होने से रात्रि या अन्धेरा छिप जाता है क्या वैवस्वत की सन्तान, जौड़िये भाई और बहिन यम और यमी, के साथ इसका कोई सम्बन्ध है ? कदापि नहीं । इस रूपक में यमी के यम से या यम के यमी से विवाहार्थ प्रार्थना करने का कोई नाम निशान भी नहीं । पर कात्यायन, जिसके प्रमाण को मानने के लिए हम बाध्य नहीं, केवल इतना कहता है कि यम एक ऐसे मनुष्य को कहते हैं जो अपने काम को वश में रखना चाहता है, और यमी एक वैसी ही स्त्री है, और यह सूक्त रूपक की रीति से एक कथोपकथन है जिस में ऐसे स्त्री पुरुषों के कर्तव्य का वर्णन है ।

तीसरे, टी० विलियम्स साहब स्वयं मंत्रों की तरफ आते हैं । वह यम और यमी को छः बार गिन कर और तीन तीन बार प्रत्येक को किसी विशेष व्यक्तियों का नाम बतलाकर फूले नहीं समाते परन्तु उनके विशेष व्यक्तियों के नाम होने में जो प्रमाण वे देते हैं वे बड़े ही अद्भुत हैं । उनकी पहली युक्ति तो यह है कि १३ वें मंत्र में यम, और १४ वें मंत्र में यमी सम्बोधनपद में आये हैं । क्या विलियम्स साहब को उनके "वेदों में मूर्ति पूजन" वाले लेख पर हमारी दोषालोचना को पढ़ने के बाद ऐसी तर्क करते लज्जा नहीं आती ? हम सालोमन के गीत १३, १६ से उदाहरण देते हैं—"हे उत्तरीय पवन ! जाग, और दक्षिण को चल" । यहां पवन सम्बोधन पद में है । क्या टी० विलियम्स की बायबलीय तर्क विश्वास करेगी कि पवन किसी विशेश व्यक्ति का नाम है ? और लीजिए, पैगम्बर ईज़ाइयाह (Isaiah) की पुस्तक १-२ में लिखा है—"हे आकाश और पृथ्वी ! ध्यान देकर सुनो" । क्या "आकाश" और "पृथ्वी" यहां विशेष व्यक्तियों के नाम हैं ? फिर ईजाइयाह २१-१३ में "हे सफर करने वाली टोलियो !" आया है । क्या "टोलियां" यहां किसी व्यक्ति विशेष का नाम है ? शायद विलियम साहब ने बायबल और व्याकरण केवल किसी ईसाई स्कूल में ही पढ़े हैं, अन्यथा वह बायबल में चमकने वाली प्रशंसनीय तर्क न छांटते ।

टी० विलियम्स साहब अब "सम्बोधन पद" का "विशेशनामों" के साथ सम्बंध मालूम करते हैं । वे कहते हैं कि यम यमी को अपनी नातेदारनी (सलक्ष्मा) के नाम से पुकारता है। क्या "सलक्ष्मा" का अर्थ नातेदारनी है या "उसी प्रकार के गुणों वाली" ?

विलियम्स कहते हैं कि "आगे चल कर चौथे मंत्र में यम कहता है कि हमारा (यम और यमी का) मूल—"नाभिः"—गंधर्व और उसकी जल-स्त्री है, और हमारा सम्बंध सगोत्रता का जामि—है ।" "जल-स्त्री" एक ऐसी कल्पना है जो केवल बायबल पढ़े मस्तिष्क में ही पैदा हो सकती है, और ऐसी जल-स्त्री का

पति, गन्धर्व, भी सागरों में किसी नाविक जाति के बीच रहता होगा। इस नाविक जाति का आर्यावर्त की भूमि पर रहने वाले प्राचीन आर्यों को कुछ भी पता नहीं। टी० विलियम्स साहब में उस मानवीय माहात्म्य और गर्व का एक कण भी नहीं जो मनुष्य को दृढ़ रखता है। यम और यमी वैवस्वत की सन्तान हैं या गन्धर्व और उसकी जल-स्त्री की? विलियम्स साहब को चाहिये था कि पहले अपने मन में इस प्रश्न का उत्तर सोच लेते फिर लेख छपाने दौड़ते।

वे फिर कहते हैं—"आठवें मंत्र में, यमी कहती है कि त्वष्ट्रा ने हमें गर्भ में पति और पत्नि—दम्पती—बनाया है।" यह यम और यमी को जौड़िया भाई बहिन प्रमाणित करने के स्थान में उन्हें पति और पत्नि सिद्ध करता है। यदि हम ऐतिहासिक भाषासरणि को स्वीकार करें तो वे क़ानूनी तौर पर या केवल रीति से ही स्त्री और पुरुष न थे, परन्तु प्रकृति और गुणों से भी स्वभावतः इस सम्बन्ध की ओर झुके हुए थे। त्वष्ट्रा के उनको गर्भ में ही पति और पत्नि बनाने का केवल यही युक्तिसंगत अर्थ हो सकता है। नहीं तो क्या हम यह समझलें कि विज्ञ टी० विलियम्स साहब अज्ञानतः अपने ही पक्ष के विरुद्ध आपत्तियों का ढेर इकट्ठा कर रहे हैं? या अगर टी० विलियम्स सच्चे हैं तो प्रश्न होता है कि इन तीनों बातों में कौन सी सच्ची है? क्या यम और यमी वैवस्वत की सन्तान थे, या गन्धर्व और उसकी जल-पत्नि की, या वे त्वष्ट्रा (जो पुरुष थे) के गर्भ में पैदा हुए थे।

फिर नवें मन्त्र का प्रमाण देकर टी० विलियम्स कहते हैं कि "आकाश और पृथ्वी पर जोड़े—'मिथुना'—अर्थात् यमज परस्पर जुड़े हुए हैं।" यहां पर यह मालूम नहीं होता कि जिस "मिथुना" शब्द का अर्थ जोड़ा है, टी० विलियम्स साहब ने उसका अर्थ जौड़िया (यमज) कैसे कर दिया। क्या जोड़ों (नर और नारी) का विवाह होने से यह सिद्ध हो जाता है कि जौड़िया भाई बहनों का विवाह होता है।

टी० विलियम्स साहब की दसवें मन्त्र की दोषालोचना भी इससे कुछ अच्छी नहीं "यत्र जामयः कृणवन्नजामि" का अर्थ यह है कि "विवाह के सम्बन्ध से सन्तानहीन लोग सन्तान वाले हो जाते हैं", पर बीस वर्षों से संस्कृत का अध्ययन करने वाले हमारे पण्डित प्रकाण्ड (टी० विलियम्स) इनका अर्थ करते हैं कि "आज से लहू के नातेदार वह करेंगे जो उनके शोणित-सम्बन्ध के लिए अनुचित है।" अब इस स्थल पर स्वामी जी का नियोग का प्रमाण आता है जिस में यम कहता है कि "मेरे सिवा किसी और पति की कामना कर।"

हम ११वें और १२वें मन्त्र को छोड़ देते हैं क्योंकि भाई और बहिन का सम्बन्ध जो टी० विलियम्स यम और यमी के बीच प्रतिष्ठित करना चाहते हैं, उनके अपने ही अनुवादों से पहले ही झूठा साबित किया जा चुका है।

अब, महाशय ! यदि कोई इतने पर भी दयानन्द के किए हुए अर्थों के सच्चा होने में सन्देह करे तो उसे सिवाय पागल (भौंदू) के और क्या कहा जा सकता है । मैंने दिखला दिया है कि यह रूपकात्मक कथोपकथन जोड़िया भाई बहिनों के बीच नहीं, और स्वामी जी के अर्थ ठीक हैं । दयानन्द का निन्दक, टी० विलियम्स, अपने आपको बीस वर्षों तक संस्कृत पढ़ने वाला पण्डित कहता है !! टी० विलियम्स और उसके ईश्वर को जान बूझकर झूठ बोलने, बायबल का बहुत कम आदर करने, और इस प्रकार परमेश्वर पर अत्यन्त अश्लील दोषारोपण करने का अपराधी सिद्ध करने के बाद मैं यह कहने के लिए सर्वथा उद्यत हूं कि निस्सन्देह टी० विलियम्स अपने समय में बायबल का सब से भयानक शत्रु है । पर वेद ऐसे बच्चों-के-से आक्रमणों से बहुत ऊपर हैं ।

वेद वाक्य नं० १ ।

अर्थात्

"वायुमण्डल" पर टी० विलियम्स साहब की दोषालोचना ।

श्रीयुत गुरुदत्त कहते हैं कि वैदिक शब्द "वायु" का अर्थ "एक हलका, गतिशील, थरथराहटों को आगे पहुँचाने वाला, दुर्गंधों को उठा कर ले जाने वाला माध्यम" है। उनके पास इस अर्थ के लिए उस क्रिया-धातु के सिवा जिस से कि "वायु" शब्द * निकाला है और कोई प्रमाण नहीं। महाशय! अपनी व्युत्पत्ति के कारण "वायु शब्द के जो अर्थ हो सकते है वही अर्थ अँगरेज़ी शब्द "विण्ड" और अँगरेज़ी वेष में यूनानी शब्द "एयर" के हो सकते हैं, क्योंकि इन दोनों शब्दों का मूल वही है जो कि "वायु" का है। यह मूल या धातु संस्कृत "वा" † से अधिक या कम और कुछ नहीं। श्रीयुत गुरुदत्त का यह कहना ठीक नहीं कि निरुक्तकार "वायु" को "वा" धातु से जिसका अर्थ चलना, गंधमय द्रव्य का ले जाना है, या "वाः" से जिसका अर्थ थरथराहटों को आगे पहुँचाना है, निकालता है। प्रधान निरुक्तकार, यास्क, केवल "वा" (निरु० १०,+२) ही देता है और उसका टीकाकार पाणिनीय अष्टाध्यायी के प्रमाण से "वा" के साथ "गतिगन्धनयोः" जोड़ देता है। सम्भव है इस "गन्धन" ने ही श्रीयुत गुरुदत्त को 'गन्धमय द्रव्य' सुझाया हो। पर उन्हें यह मालूम होना

---

* याद रक्खो और किसी प्रमाण की नितान्त आवश्यकता नहीं। क्योंकि वैदिक साहित्य में शब्द का केवल यौगिक अर्थ ही उसके ठीक होने का ज़िम्मेदार है। कई अवस्थाओं में तो यौगिक अर्थों के सिवा शब्द के और दूसरे अर्थ किए जा ही नहीं सकते—गुरुदत्त विद्यार्थी।

† यह अशुद्ध है, क्योंकि शब्द का वही अर्थ लेना उचित है जिसका बोध कि इस शब्द का प्रयोग करने वालों को यह शब्द बोलते समय होता है। अब "विण्ड" शब्द के बोलने से इसके बोलने वालों के मन में ऐसे किसी अर्थ का बोध नहीं होता। परन्तु वैदिक शब्द की अवस्था में (वैदिक लौकिक से सर्वथा भिन्न हैं) उस अर्थ के सिवा जोकि इसकी व्युत्पत्ति से ही इसके साथ लगा हुआ है और किसी भी अर्थ का बोध नहीं होता। लौकिक और वैदिक शब्दों के इस आवश्यक भेद को दोषालोचक महाशय नहीं समझते, और यही उनकी भूल है।—गु० द० वि०

चाहिये कि अब यह बात निर्विवाद है कि "गंध" शब्द जिसका अर्थ बास है "गंध" धातु से निकला है। इस धातु का अर्थ कभी भी सूँघना नहीं होता, बल्कि

जाना, या पीड़ित करना, या पूछनाही होता है। और "गन्धन" इसी धातु से निकला है, "गंध" संज्ञा से नहीं। पर "वायु" की व्युत्पत्ति में उनकी भारी भूल यह नहीं। उनकी भूल इस बात में है कि वे यह कहते हैं कि एक निरुक्तकार ने "वाः" को एक पर्यायवाची धातु दिया है! इसके लिए उनके पास प्रमाण क्या है? अपने इस बयान के लिए उन्हें अध्याय और श्लोक देना चाहिये था। "वा" से व्युत्पत्ति तो साफ है। प्रधान निरुक्तकार यास्क ने भी यही दी है, प्रत्युत मैंने तो जो भी और टीका देखी है उनमें यही मिला है। ‡ इसी धातु से अँगरेज़ी शब्द "विण्ड" और "एथर" § की व्युत्पत्ति हुई है, इस लिए मैं पुनः कहता हूँ कि श्रीयुत गुरुदत्त जो कुछ "वायु" के विषय में कहते हैं यदि वह ठीक है तो वही इन दो शब्दों के विषय में भी कहना चाहिये। उनका "एथर" शब्द के विषय में निन्दात्मक उल्लेख मूर्खता और अज्ञान का परिचायक है। अब देखिये, जो कुछ मैं ने ऊपर कहा है उससे स्पष्ट है कि वेदों का कोई विशेष महत्व नहीं, क्योंकि उनमें "वायु पवन के नाम के रूप में आया है। मधुच्छन्दा के इस ऋचा को बनाने या श्रीयुत गुरुदत्त के कथनानुसार इस ऋचा को देखे के बहुत काल पहले भारत—योरुपीय जातियों में "वायु" शब्द पवन के नाम के तौर पर प्रचलित था॥

---

‡ दोषालोचक का यह ख्याल झूठा है कि वेद-वाक्य नं० १ के लेखक ने "गन्धन" को "गन्ध" संज्ञा के साथ गड़बड़ कर दिया है। क्योंकि "गन्धन" का अर्थ ही एक प्रकार का "सूंघन" है जिससे उस प्रकार का इन्द्रियज्ञान होता है जिसे कि सूंघना चाहते हैं—गु० द० वि०

§ कैसी अद्भुत बात है कि दोषालोचक महाशय की निरुक्त से ठीक उसी प्रकार की अनभिज्ञता टपकती है जिसका दोषी कि वे श्रीयुत गुरुदत्त को ठहराते हैं। क्योंकि जैसाकि दोषालोचक महाशय समझ रहे हैं। निरुक्तकार ने केवल "वा" धातु ही नहीं दी, परन्तु एक स्थान पर, जिसका उल्लेख लेख में नहीं हुआ, निरुक्तकार इसको व्युत्पत्ति कम से कम इनसे करता है—'वति', 'वेत्ति', और 'एति'। मैं अपनी स्मृति से ही इस वाक्य को उद्धृत करता हूं—वायुर्वातेर वेत्तेर वोस्याद्गति कर्मनाह, एतेरिति स्थौलष्ठिवे।—आर्य-पत्रिका-सम्पादक।

* मालूम होता है टी० विलियम्स साहब बड़े भारी भाषातत्त्ववेत्ता हैं, क्योंकि आप "विण्ड" और "एथर" की व्युत्पत्ति एक ही धातु से सिद्ध करते हैं।

† विलियम्स साहब को ऐसे कठोर शब्दों का उपयोग न करना चाहिए था। वे उनके पक्ष को प्रमाणित नहीं कर सकते—आर्य-पत्रिका-सम्पादक।

‡ अनिश्चित भाषातत्व शास्त्र मनुष्य-इतिहास के विषय में क्या जानता है? जिस समय मधुच्छन्दस था, उससे भी प्राचीन ऋषियों ने इस ऋचा को देखा था उसके बहुत काल बाद भी "वायु" शब्द के पवन के नाम के रूप में भारत—योरुपीय जातियों में प्रचलित रहने की तो बात ही दूर रही योरुपीय जातियों का [illegible]भी न हुआ था।—गु० द० वि०।

वेदों के विषय में पिनकाट साहब के विचार।

पिनकाट साहब का पत्र।

वेद किन किन पुस्तकों को कहते हैं यह बात स्पष्टतया जान लेना समाज के लिए दिलचस्पी से खाली नहीं हो सकता। कई लोग "वेदों" का इस प्रकार उल्लेख करते हैं मानों वेद एक ऐसी परिभाषा है जो अपने अर्थ या प्रकाश आपही करदेती है, या मानों जिस समय इस शब्द का उपयोग किया जाता है उस समय सदा ही कोई परम प्रसिद्ध पुस्तकें हमारे मानसिक नेत्रों के सामने आ जाती हैं। पर यह बात बिलकुल नहीं। अधिकतर लोग यह बिलकुल नहीं जानते कि "वेद" किन किन चीज़ों को कहते हैं। हिन्दू पण्डित बहुत सी ऐसी चीज़ों को भी वेद कहते हैं जिनका कि योरुपीय पण्डित स्पष्ट अवैदिक होने के कारण दृढ़ता पूर्वक परित्याग करते हैं। वेदों की निश्चित सीमा के विषय में योरुपीय भी एकमत नहीं। पर एक बात पर दोनों योरुपीय और हिन्दुओं में कोई संदेह या भेद नहीं, और वह बात यह है कि परिभाषा "वेद" का उपयोग संस्कृत साहित्य के केवल उसी भाग के लिए होता है जो ऐतिहासिक युग के आरम्भ से भी पहले मौजूद था। सच पूछो तो "वेद" हिन्दू साहित्य के उस खण्ड को कहते हैं जिस को कि ईश्वरीय वाणी माना जाता है। जैसे ईसाइयों में बायबल है और मुसलमानों में कुरान है वैसे ही हिन्दुओं में यह "वेद" है। परन्तु इस परिणाम पर पहुंच कर भी कठिनाई दूर नहीं होती, क्योंकि ऐसी कोई प्रायः स्वीकृत पुस्तकें नहीं जो "वेदों" के तौर पर दृष्टि के सामने पेश की जा सकें। इन के स्थान में एक विस्तृत साहित्य है जिसके अनिश्चित अंश वैदिक हैं, और वह बाकी थोड़ा बहुत लौकिक है।

मेरे पास समय बहुत थोड़ा है, इस लिए मैं उन सरल परन्तु श्रमसाध्य विधियों की व्याख्या नहीं कर सकता जिनसे कि विद्वानों ने संस्कृत साहित्य को विविध अवस्थाओं में अलग अलग करके सारे में से वस्तुतः वैदिक भाग को प्रतिष्ठित किया है। सादी से सादी परीक्षाओं के द्वारा भी यह बात मालूम होजाती है कि पुराण दर्शनों—तत्वज्ञान की पुस्तकों—के पीछे बने हैं; और कि छः दर्शन, स्मृतियां, नाटक और महाकाव्य उस महान् व्याकरण—काल के पीछे बने थे जबकि पाणिनि, यास्क और उनसे भी पुराने प्रातिशाख्यों के प्रसिद्ध ग्रन्थ उनसे भी अधिक पुराने वेदों की व्याख्या के लिए इकट्ठे किए गये थे। पण्डित गुरुदत्त, जिनका विद्वत्तापूर्ण लेख

हमने हाल ही में होने वाली एक सभा में सुना है, कहते हैं कि जिस भाषा में संस्कृत पुस्तकें लिखी गई हैं वह स्वयं ही अनुक्रम के ऐतिहासिक विकास को प्रकट करती हैं। उनके शब्द ये हैं—"पुराणों की संस्कृत महाभारत और दर्शनों की संस्कृत से, और फिर दर्शनोंकी उपनिषदों की संस्कृत से इतनी भिन्न हैं कि उनमें से प्रत्येक के बीच सीमा की रेखा बड़ी आसानी से खींची जा सकती है।"

अन्वेषण की विविध रीतियों ने ये सिद्धान्त प्रतिष्ठित किये हैं कि जिन पुस्तकों को संहिता कहा जाता है वर्तमान हिन्दू पुस्तकों में वही सब से पुरानी हैं; और कि इनके पीछे ब्राह्मण हैं, और ब्राह्मणों के साथ ही आरण्यक और उपनिषदें हैं; और कि इनके बाद वेदाङ्ग और श्रौत सूत्र कहलाने वाले ग्रन्थों का काल है। इनमें से बहुत सी पुस्तकें तो प्रसिद्ध ऐतिहासिक अग्रजनों की रचना हैं; और, वस्तुतः, जिन ऋषियोंने पहले पहल वेदों की घोषणा की थी उनके नाम भी लिखे हुए हैं, यद्यपि ये ऋषि उन मंत्रों के रचयिता नहीं माने जाते जिनका कि उन्हों ने प्रचार किया था। वे परमेश्वर के विशेष प्रिय मनुष्य माने जाते हैं जिनको कि ॐ ने विशेष ईश्वरीय ज्ञान प्रदान किया था। उन्होंने वह ज्ञान अनेक दूसरे मनुष्य भाइयों तक पहुँचाया था। परन्तु जिन पुस्तकों का हम ज़िक्र कर रहे हैं वे सब एक बात से आपस में दृढ़ बँधी हुई हैं, और वह बात यह है कि चाहे वे मनुष्य-कृत मानी जायें और चाहे ईश्वरीय-ज्ञान-प्राप्त ऋषियों की बनाई हुई वे सब प्रत्यक्ष रूप से संहिताओं को पेश करती हैं और उन्हीं के आश्रित हैं। बाकी सब वैदिक पुस्तकों का उद्देश संहिता भाग का अर्थ और यथार्थ उपयोग दिखलाना है; यह स्वयं ही इस बात को प्रकट करने के लिए पर्याप्त है कि संहिता ही हिन्दू-धर्म के सबसे पुराने स्मृति चिन्ह हैं, और दूसरे शब्दों में सारे हिन्दू साहित्य का आधार हैं। सारांश यह कि सच पूछो तो संहिता ही वेद हैं; दूसरे ग्रन्थ, जिनकी ओर मैंने अभी इशारा किया है, निश्चय ही वैदिक हैं क्योंकि उनका सारा उद्देश वेदों की व्याख्या और निदर्शन करना है; लेकिन संहिता, ब्राह्मण इत्यादि को छोड़ कर हिन्दू साहित्य का और कोई भी भाग वेद या वैदिक कहलाने का अधिकारी नहीं। वे सब ग्रन्थ जिन के विषय में हम इतना कुछ सुनते हैं—दर्शन, नाटक, स्मृतियां, रामायण, महाभारत, और पुराण—वैदिक साहित्य की सीमा के सर्वथा बाहर हैं।

आर्यसमाज के लिए यह विषय बड़े महत्व का है क्योंकि उसका एक नियम वेदों की पूजा की प्रतिज्ञा कराता है। मेरे लिए उन विविध ग्रन्थों का गिनना जो कि वस्तुतः वैदिक हैं असम्भव है, न ही उनका गिनना मेरे लिए आवश्यक है। संक्षेपों और भाष्यों को छोड़कर, केवल इण्डिया आफिस पुस्तकालय में ही कोई ३००

मौलिक वैदिक ग्रन्थ मौजूद हैं। पर प्रायः ऐसा होता है कि सब वैदिक ग्रन्थ निम्न लिखित शीर्षकों में से किसी एक के नीचे श्रेणीबद्ध कर दिए जाते हैं।

१. वेदाङ्ग—ये छात्र को वैदिक शब्दों के उच्चारण की रीति, शब्दों की व्युत्पत्ति, और व्याकरण-सम्बन्धी रचना, यज्ञों की विधि की ठीक तौर पर आवृत्ति करने के लिए छांदस नियम, और पूजा के लिए ज्योतिषविषयक यथार्थ समय सिखलाते हैं।

२. श्रौत सूत्र—ये महत्वपूर्ण ग्रन्थ सामाजिक और व्यक्तिगत दोनों प्रकार के वैदिक अनुष्ठानों को करने के लिए पूरा २ व्यवहार बतलाते हैं। ये भिन्न २ प्रकार के धर्मयाजकों के लिए विशेष ग्रन्थ हैं। ये उन्हें बताते हैं कि वेदों के अनुसार उन्हें अपने विविध कृत्य कब और कैसे करने चाहियें।

३. उपनिषद्—ये अतीव दार्शनिक पुस्तकें हैं। इनमें ब्राह्मणों और प्राचीन सूक्तों के गुप्त अर्थों की व्याख्या है। आत्मा और परमात्मा के बड़े उद्योग और न्यायसंगत मेधा बुद्धि के साथ विचार किया गया है।

४. आरण्यक—ये उपनिषदों के साहित्य की एक शाखा है; पर उनमें कुछ अधिक प्राक्कालीन बातें हैं। उनका उद्देश उन प्राचीन वानप्रस्थों के विचारों को मार्ग दिखाना था, जो गृहस्थ के व्यावहारिक कर्तव्यों को पूरा करने के बाद वनों में चले आते थे और जीवन के अन्तिम दिन ब्राह्मणों के आध्यात्मिक अर्थों पर विचार करने में बिताते थे।

५. ब्राह्मण—ये मुख्यतः ब्राह्मणों के उपयोग के लिए विधिविषयक ग्रन्थ हैं; परन्तु यागों की क्रिया की विधि बताने के अतिरिक्त उनमें संसार के इतिहास और उत्पत्ति के सम्बन्ध में व्यतिरिक्त बातें और विवरणों, पुरानी कहानियों इत्यादि के साथ मिली हुई और न्यून या अधिक दार्शनिक कल्पनायें भी हैं। इन ग्रन्थों ने हमारे उपयोग के लिए अलौकिक विषयों पर ब्राह्मणों की प्रथम कल्पनाओं को सुरक्षित रक्खा है। यह स्पष्ट है कि इन कल्पनाओं का पहली बार उच्चारण उस समय हुआ था। जबकि किसी निशेध या आपत्ति का पहले से विचार न था, क्योंकि ऐसी अवस्था में सम्भाव्यता और संभावना के सभी प्रश्नों पर कुछ भी ध्यान न देकर, सरल श्रद्धा के साथ निःसंकोच होकर अगणित उच्छृङ्खल बातें कह दी गई हैं। फिर भी इन अति प्राचीन ग्रन्थों का सदा ही भारी आदर होता रहा है, और वे ईश्वरीय ज्ञान का एक अंग गिने जाते हैं। पर इन अद्भुत ग्रन्थों का प्राथमिक उपयोग उन यागों की व्याख्या करना था, जिन पर कि प्राचीन सूक्त गाये जाते थे;

इसलिए वे भी केवल संहिताओं पर ही निर्भर और उन्हीं से निकले हैं।

यह हमें हिन्दू साहित्य के सब से ऊँचे और अन्तिम स्थान पर लेजाता है; परन्तु मन को सारे हिन्दू धर्म के प्रारम्भिक स्थान पर वापस ले जाने के लिए हमें स्वयं संहिताओं की परीक्षा करनी चाहिए और देखना चाहिए कि उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है। अधिक नूतन समयों में संहिताओं की गिनती चार है। अर्थात् "ऋक्", "साम", "यजुः", और "अथर्व"। किन्तु प्राचीन समयों में केवल तीन संहिताएँ ही मानी जाती थीं। परन्तु अथर्ववेद की भाषा के आधुनिक होने से कोई भी व्यक्ति इनकार नहीं कर सकता, और नही इसे बाकी तीन के समान प्राचीन मान सकता है। वस्तुतः भारतीय भाष्यकार स्वयं भी इसकी प्रामाणिकता के विषय में बहुत संशयात्मक हैं, और कोई भी योरुपीय इसे ब्राह्मण काल से प्राचीनतर नहीं मान सकता। इसकी भाषा और शैली, कई स्थलों में इसी काल से मिलती है। निश्चय ही अथर्व हिन्दू धर्म का स्रोत नहीं, इसलिए यह विना किसी हानि के पृथक् कर दिया जा सकता है।

इस प्रकार तीन पुरानी संहिताएं रह जाती हैं। इनमें से दो बाकी तीसरी से झट पहचानी जाती हैं, क्योंकि तीसरी का विषय विशुद्ध अनुष्ठानिक है। यजुः, जैसाकि इसका नाम ही बताता है, वह है जिससे कि यजन किया जाता है। इसके प्रायः सारे मन्त्र ऋक् संहिता से लिए गये हैं, पर इनके साथ इनको बोलते समय जो क्रियायें की जाती हैं, उनके सम्बन्ध में अपरिमित आज्ञायें भी जोड़ी हुई हैं। "साम" स्तोत्रों और स्तोत्रों के अंशों की बनी है। ये सारे के सारे ऋक् संहिता से लिए गये हैं। परन्तु सामवेद में इन अवतरणों का क्रम वही है जोकि यजन में इनका गान करते समय होना चाहिए। अब यह बात पूर्णता स्पष्ट है कि साम और यजुः दोनों ऋक्-संहिता के पीछे की है, क्योंकि उन में ऋक् के अवतरणों के सिवा और कुछ बहुत थोड़ा है। इन अवतरणों का स्वाभाविक काव्यमय सम्बन्ध तोड़कर इन्हें, यजन के लिए आवश्यक, कृत्रिम क्रम में रख दिया गया है।

तब इन अनुष्ठानों को पृथक रखकर हम उस ग्रन्थ पर पहुंच जाते हैं, जिनमें से कि ये दोनों निकली हैं। वह ग्रन्थ प्रसिद्ध "ऋक्" या "ऋग्वेद-संहिता" है। यह पुस्तक अपनी सरल और सीधी शैली और यथार्थ वर्णन की साफ और नीरस रीति के कारण सारे भारतीय साहित्य में प्रधान है। इसमें ऐतिहासिक युग के भी बहुत पहले के मानव-हृदय के स्वाभाविक उद्गार भरे पड़े हैं। ये उस समय की रचना हैं जबकि पूजा की सरल स्वाभाविक क्रिया ही यजन थी, और जब मनुष्य प्रकृति के कार्यों से, आशा और भय के साथ, जगदीश्वर की ओर ध्यान देता था। ऋग्वेद उन

समस्त कल्पनाओं और अपकताओं से बहुत ऊपर है जोकि इसके निष्कपट वर्णनों पर घड़ी जाती हैं। यह अकृत्रिम ईश्वरभक्ति का स्मृति चिन्ह और सत्य के मार्ग में मानव-मन को राह दिखलाने के लिए नित्य आकाश-दीपक बना रहेगा।

परन्तु यह कल्पना न कर लेनी चाहिये कि ऋग्वेद एक ही प्रकार के विचार और सभ्यता को प्रकट करने वाली सरल कविताओं का एक संग्रह है। इसके विपरीत इसमें एक दूसरे से सर्वथा भिन्न, और विकास की विविध अवस्थाओं को दिखलाने वाली कवितायें हैं। इनमें से कुछ तो बालकों की सी श्रद्धा वाली सरल प्रार्थनायें हैं; कुछ बहुत ही दार्शनिक हैं; और इनके अतिरिक्त कुछ स्पष्टतः याजकीय हैं। जब ये स्तोत्र पहले ही पहल प्रकाश में आये, उस समय "सप्त-नद-भूमि" में एक उच्च कोटि की सभ्यता का प्रचार था; क्योंकि जगह २ पर सोने और चांदी के गहनों, लड़ाई के रथों, बहुमूल्य वस्त्रों, सुन्दर भवनों, शिल्प, वाणिज्य, समुद्रयात्रा, अनुष्ठान विषयक आचरणों और अनेक प्रकार के धर्म याजकों का उल्लेख मिलता है। पर इन सब का उल्लेख प्रसंगतः हुआ है। कवितायें स्वयं छोटी २ रचनायें हैं जोकि एक या अनेक देवताओं से उनकी प्रशंसा करने के बदले में युद्ध में विजय, वाणिज्य में समृद्धि या दीर्घ आयु मांगने के लिए बनाई गई हैं।

ऋग्वेद में १,०१७ सूक्त हैं। ये दस मंडलों में बांटे हुए हैं। मैंने हाल ही में मालूम किया है कि पहला मंडल एक पुराने यजन की अनुष्ठान विधि है, और सम्भवतः संसार में यह सब से पुरानी अनुष्ठान विधि है। अगले छः मंडलों में वे मंत्र हैं जो छः प्राचीन वंशों या जातियों में परम्परागत रीति से सुरक्षित रहे हैं। प्रत्येक ऋषि से सम्बन्ध रखने वाले सारे मंत्र इकट्ठे करके एक स्थान में रख दिए गए हैं। आठवें मंडल में वे मंत्र हैं जिनको विन्यास के समय सर्व साधारण ने स्वीकार नहीं किया था। नवां मंडल यजन पर चढ़ाये जाने वाले पवित्र रसकी प्रशंसा के मंत्रों का विशेष संग्रह है। और दसवां मंडल लम्बी और छोटी कविताओं का विधिसंग्रह है। ये कवितायें थोड़ी बहुत पौराणिक हैं, और इसीलिए उचित रीति से अन्त में रक्खी गई हैं।

ऋग्वेद के विन्यास के इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यह सामवेद या यजुर्वेद की भांति विधिविषयक पाठ्य पुस्तक नहीं, प्रत्युत यह उन कविताओं के समूहों का संचय है जो कि अनिश्चित प्राचीन काल से विविध वंशोंमें सुरक्षित रहे हैं और जिसमें एक ऋषि या एक वंश से संबंध रखने वाली सारी कवितायें एक जगह इकट्ठी रक्खी हैं। यह पता लगाने का मुझे सौभाग्य प्राप्त हुआ कि, जैसाकि पहले सार्वत्रिक समझा जाता था उसके विपरीत, ऋग्वेद के मंत्र, उस वंश और कवि के अनुसार जिनके साथ कि उनका सम्बंध बताया जाता है, और संबोधित देवता और

प्रत्येक कविता की लम्बाई के अनुसार, एक नियत क्रम में रखे हुए हैं। ऋग्वेद केवल एक इच्छा क्रमबद्ध भाण्डार है जिस में से, इच्छानुसार यजनों के लिए कवितायें चुनी जा सकती हैं। कई सूक्त ऐसे हैं जो उस समय बोले गये थे जबकि अभी पदवीधारी पुरोहितों का जन्म न हुआ था; कई ऐसे हैं जो पुरोहत समाज के जन्म के पश्चात् विघोषित हुए थे; परन्तु उस समय जबकि सारे संग्रह को उस रूप में लाया गया जिसमें कि वह हम तक पहुँचा है जटिल विधान पैदा हो चुका था। उस विधान को प्रमाणित बनाने के लिए ही संग्रह बनाया गया था। और उस विधान को पूरा करने के लिए ही उन मंत्रों का विशेष विन्यास किया गया था जो कि ऋग्वेद का पहला मंडल बनाते हैं।

इस मनोरञ्जक विषय पर इस समय अधिक विचार करना असम्भव है। परन्तु मुझे आशा है कि मैंने यह बात काफ़ी अच्छी तरह से दिखला दी है कि ऋग्वेद ही यथार्थ वेद है, और कि यह वह पुस्तक है जिसका कि वेदों का सम्मान करने वाले सभी लोगों को अध्ययन करना चाहिये। हिन्दू साहित्य की बाकी सभी चीज़ें इसी के आश्रय हैं और इसी पुस्तक से निकली हैं। बाक़ियों के विषय में पूछो तो, संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों, श्रौत-सूत्रों और वेदांगों को छोड़कर और कोई भी वेद या वैदिक कहलाने की अधिकारी नहीं।

वेदाङ्गों के उपरान्त तूफ़ान की तरह बौद्ध सुधार भारतवर्ष पर फैल गया, ब्राह्मण लोग अपने विपक्षियों के साथ विचार करने और अपने धर्म्म को न्यायसंगत बनाने के लिए दर्शन शास्त्रों का विकास करने पर बाध्य हुए। बौद्ध काल में यूनानी प्रभाव भी उत्तरीय भारत पर फैल गया था, और जब बौद्ध धर्म का पतन हुआ तो वैदिक कल्पनाओं की सारी अनुचिंता, और वैदिक भाव के साथ सारी सहानुभूति नष्ट होचुकी थी। तब आधुनिक ब्राह्मण धर्म्म और इसके साथ ही उसके दर्शनों, उसके शास्त्रों, उसके नाटकाभिनयपर, इसकी कविता, और उसके पुराणों का जन्म हुआ।

पाण्डित्य और कल्पनासृष्टि के इस प्रकीर्ण जंगल की वृद्धि मुसलमानों के निरन्तर आक्रमणों, और अन्त को सारे देश के मुगलशासन के अधीन हो जाने से बन्द हुई। पर अधिक प्रबुद्ध शासन के अधीन भारत की बुद्धि पुनः विकास को प्राप्त हो रही है और जातीय विकास के उन सच्चे आदर्शों के अध्ययन की ओर बुद्धिमत्ता से वापस आ रही है जोकि ऋग्वेद के सूक्तों में मिलते हैं।

पिनकाट साहब की चिट्ठी का उत्तर।

हमारे पाठकों के लिये यह जानना कि दिलचस्पी से ख़ाली न होगा कि इङ्गलेण्ड में पिनकाट साहब की योग्यता का मनुष्य वेदों के विषय में क्या कुछ करता है। इस विषय पर उन की चिट्ठी साथ लगाई जाती है। निस्सन्देह "वेद किन किन पुस्तकों को कहते हैं यह बात स्पष्टतया जान लेना समाज के लिए दिलचस्पी से ख़ाली नहीं"। परन्तु समाज के विचार उन के विषय में कभी भी अस्पष्ट न थे, क्योंकि जब कभी भी हम वेदों का ज़िक्र करते हैं यह परिभाषा हम पर अपने अर्थों का प्रकाश अपने आप कर देती है; और इस में किंचित् सन्देह नहीं कि जब कभी हम वेदों का नाम लेते हैं तो प्रसिद्ध चार संहिता पुस्तकें ही हमारे मन के सामने मौजूद होती हैं। अलबत्ते, योरुपीय पण्डितों के लिए वैदिक और अवैदिक में भेद करना बड़ा कठिन है, क्योंकि ये लोग केवल कल्पित हेतुओं पर तर्क करते हैं। इनके तर्क का आधार कोई संस्कृत साहित्य या संस्कृत भाषा का सच्चा पाण्डित्य नहीं प्रत्युत कृत्रिम-भाषातत्त्व शास्त्र और विकास होता है ये अपनी पुष्टि मुख्यतः कथन मात्र सापेक्ष मनोविज्ञान से करते हैं, साथ ही उनके मन में पहले से ही बायबल की बिलकुल झूठी कालगणना बैठी होती है। ऐसी दशा में इन निष्कपट, न्यायसंगत पण्डितों को जब अध्ययनार्थ वेद दिए गए तो उन्हें बिलकुल अटकलपच्चू (सर्वथा आनुमानिक) विषयों के साथ काम पड़ा। वेदों के विषय में जो कल्पना वे पहले से ही किए बैठे थे उस से वेदों की भाषा, उनका शब्द-विन्यास, और उनके वर्णित विषय इतने भिन्न थे कि पुरातत्त्व-सम्बंधी लेखों का अर्थ लगाने की पहले से ही भली भांति जानी हुई विधियों की सारी कल्पना का परित्याग करना पड़ा, और उनके पूर्व-कल्पित भावनाओं की मांग को पूरा करने के लिए सारे अर्थों में खेंचातानी करनी पड़ी; कई बार झूठे अर्थ घड़ने पड़े, और कई बार उनके मौलिक आशय को तोड़ना मरोड़ना पड़ा। इसी से उन्होंने यह परिणाम निकाला है कि 'परिभाषा "वेद" का उपयोग संस्कृत साहित्य के केवल उसी भाग के लिए होता है जो ऐतिहासिक युग के आरम्भ के भी पहले मौजूद था", मानों इस से वे यह दिखलाते हैं कि संस्कृत साहित्य का कोई भाग ऐसा था जो ऐतिहासिक काल के पहले का या प्रागैतिहासिक था। ऐसा करने के लिए वे बाध्य थे, क्योंकि संस्कृत साहित्य की जिन पुस्तकों को अब वैदिक या ऐतिहासिक काल के पहले की कहा जाता है, वे जिन विविध कालों में लिखी गई थीं। यद्यपि उन कालों का कालगणनाविषयक

लेख मौजूद था पर इस प्रणाली के अनुसार जो कालविशेष निकाले गये थे वे इतने बड़े थे कि योरुपीय लोगों की बायबल के रंग में रंगी हुई रूखी कल्पना की सब सीमाओं के पार चले जाते थे। परन्तु हिन्दु कालगणना शास्त्र के अनुसार निकाले हुए कालविशेष वाकुछल रहित वैज्ञानिक और भूगर्भविद्या सम्बन्धी खोज के परिणामों के साथ ठीक २ तौर पर या क़रीबन २ बराबर उतरते हैं, पर वेदों को इतने प्राचीन काल का ठहराना ईसाई मत की नींव के लिए अकामतः एक घातक चोट देख पड़ती थी। पक्षपातयुक्त योरुपीय पाण्डित्य की इन अवस्थाओं में, पिनकाट साहब यह बताकर बड़ी भारी सेवा करते हैं कि वेद केवल संहिताओं को ही कहा जा सकता है। ब्राह्मणों, उपनिषदों, आरण्यकों, श्रौत सूत्रों और वेदांगों का उद्देश केवल संहिताओं की व्याख्या करना है, इसलिए वे निश्चय ही वैदिक हैं, परन्तु वेद नहीं। शेष सब पुस्तकें दर्शन, नाटक, स्मृतियां, महाकाव्य और पुराण निस्संदेह ही अवैदिक हैं। उन्होंने वेदांगों, श्रौत सूत्रों, आरण्यकों और ब्राह्मणों के विविध काम बता कर भी बहुत भला काम किया है। परन्तु यह समझना कि कुछ वेदांगों का उद्देश यजन की विधि और अर्चना चढ़ाने के लिए उचित ज्योतिषसम्बन्धी समय सिखलाना था बिल्कुल ठीक नहीं है। कल्प और ज्योतिष नामक दो वेदांगों का उद्देश निश्चय ही यज्ञ और ज्योतिर्विद्याविषयक है, परन्तु न तो यज्ञों का मतलब विधियां हैं, और न ज्योतिर्विद्या का उद्देश पूजा करने के लिए समय नियत करना है। दोनों का उद्देश नैतिक और भौतिक ब्रह्माण्ड की रचना के विषयक में विशेष समस्याओं की व्याख्या करना है, क्योंकि इनको ठीक तौर पर समझलेने से ही वैदिक सचाइयों का अनुभव हो सकता है। और फिर यह समझना कि ब्राह्मणों में अलौकिक विषयों का वर्णन है और कि उनका उच्चारण पहले पहल उस समय हुआ था जबकि "किसी निषेध या आपत्ति का पहले से ख्याल न था, क्योंकि ऐसी अवस्था में संभाव्यता और संभावना के सभी प्रश्नों पर कुछ भी ध्यान न देकर, सरल श्रद्धा के साथ निःसंकोच होकर अगणित उच्छृङ्खल बातें कह दी गई हैं," ब्राह्मणों से अनभिज्ञता को प्रकट करता है, और यह किसी प्रकार भी प्रशंसनीय नहीं है। अलौकिक विषयों पर इनके अन्दर विमर्श आवश्यक है, और उच्छृङ्खल बातें इसलिए हैं; क्योंकि ईसाइयों की सरल श्रद्धा अगणित और अनर्गल पारमार्थिक सचाइयों की कल्पना नहीं कर सकती।

इन भिन्नताओं को पृथक् रखकर विविध वैदिक लेखों के काम नियत करने में हम पिनकाट साहब के साथ सहमत हैं।

खुद वेदों के विषय में हमारा मतभेद बहुत हैं। प्राचीन काल में केवल तीन संहितायें ही मानी जाती थीं और कि अथर्ववेद की भाषा इतनी आधुनिक है कि उसे उतना ही प्राचीन नहीं कहा जा सकता—इन बातों का खण्डन करने की हमें आवश्यकता नहीं, क्योंकि इस बात पर ध्यान न देकर भी कि अथर्वन् परिभाषा का उपयोग चौथे वेद के लिए होता है, इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि चौथे वेद का उल्लेख दूसरी संहिताओं में मिलता है। उदाहरणार्थ देखिए यजुर्वेद के ३१वें अध्याय का ७वां मंत्र—तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि जज्ञिरे छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत। ईश्वरीय भाव से चार वेदों की उत्पत्ति ऋक्, साम, छन्दांसि और यजु नामों के नीचे स्पष्टतया दिखलाई गई है। यदि किसी को यह सन्देह हो कि छन्दांसि का अर्थ केवल पद्यात्मक रचना है और यह बाकी तीन वेदों को केवल मर्यादित करने के लिए है, तो उसे देखना चाहिए कि जज्ञिरे क्रिया स्पष्टतया छन्दांसि के साथ जुड़ी हुई है, जिससे साफ प्रकट है कि चौथे वेद का उल्लेख है। अब यह बात मालूम करना योरुपीय पंडितों की ऐतिहासिक बुद्धि के लिए बाकी रह जाता है कि एक पुराना वेद दूसरे वेदों के भी पहले मौजूद था, और उन्हें यह बात भली भांति प्रमाणित करदेनी चाहिए कि जिस वेद की ओर संकेत है वह अथर्व नहीं।

इस कथन का मूल्य कि "कोई भी योरुपीय इसे (अथर्व को) ब्राह्मण काल से प्राचीनता नहीं मान सकता" काफ़ी तौर पर स्पष्ट है। इसके हिन्दू धर्म्म का स्रोत होने के विषय में केवल विविध संस्कार पद्धतियों में यह देखने की जरूरत है कि उन में इस वेद के कितने मन्त्रों का उपयोग हुआ है।

अब हम बाकी तीन वेदों की तरफ आते हैं। इनमें से प्रत्येक के व्यापारों का शुद्ध ज्ञान प्राप्त करने के लिए पाठकों को "वेदों की परिभाषा" नामक पुस्तक का पाठ करना चाहिए। परन्तु हम इस सम्बन्ध में यह बता देना चाहते हैं कि योरुपीय पंडितों का ऋग्वेद को इस कारण सब से पुराना बताना कि यजु और साम के मंत्र सारे के सारे या उनका कुछ भाग ऋक् संहिता में पाया जाता है। इस बात को प्रकट करता है कि उन्हें उन परिवर्तनों का ज्ञान नहीं जोकि वेदों के स्वरों के कारण आशय और सम्बन्ध दोनों में पैदा हो जाते हैं। स्वरों का योरुपीय लोगों को बहुत कम ज्ञान है। तीनों वेदों में वही मंत्र भिन्न-२ स्वरों और भिन्न २ देवताओं के साथ पाये जाते हैं।—इस बात को चाहे कोई किसी एक के बाकी दो से पुराना होने का प्रमाण मान ले, परन्तु वास्तव में यह तीनों वेदों के मूल वाक्यों के स्वतन्त्र होने का प्रमाण है।

अब हम ऋग्वेद को लेते हैं जिसमें से कि योरुपीय पंडित दूसरे दो वेद निकले हुए बतलाते हैं। हम इसकी "सरल और सीधी शैली" और "यथार्थ वर्णन की

साफ और नीरस रीति" पर विचार नहीं करेंगे, क्योंकि यह सूत्रवत् लोकोक्ति—बुद्धि पूर्वक वाक्य कृतिर्वेदे, अर्थात् वेदों में सब कहीं उच्चतम बुद्धि को दिखलाने वाले वाक् प्रबन्ध मिलते हैं, निर्विवाद रूप से प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त, जैसाकि जैमिनि ने स्पष्टतः प्रमाणित किया है, वेद "ऐतिहासिक युग के भी बहुत पहले के मानव-हृदय के स्वाभाविक उद्गार" नहीं, प्रत्युत वे उस समय की धार्मिक आज्ञाओं के ईश्वरीय अन्तःप्रवाह हैं, जोकि इतिहास रूपी जंजीर की पहली कड़ी बनाता है। बायबल के रंग में रंगे हुए पाठक के लिए यह कल्पना करलेना सुगम है कि यज्ञ का मतलब "पूजा की सरल स्वाभाविक क्रिया" है, परन्तु एक सरल जिज्ञासु के लिए, जब तक कि वह प्रतिनिधिस्वरूप प्रायश्चित्त के अद्भुत सिद्धान्त का मानने वाला न हो ईसाई संसार का यज्ञ (बलिदान) न ही "सरल और न ही स्वाभाविक पूजा की क्रिया" है। निश्चय ही उपर्युक्त सिद्धान्त इसके अतिरिक्त यह अधार्मिक विश्वास कि परमात्मा खुशामद से और भेंट चढ़ावा लेकर शान्त और प्रसन्न किया जा सकता है, इस अनर्गल कथन का हेतु हो सकता है कि "यजन सरल और स्वाभाविक पूजा की क्रिया"। "यज्ञ", जिसका अनुवाद योरुपीय लोग अपनी अनभिज्ञता के कारण "बलिदान" (सेक्रिफ़ाईस) करते हैं, वस्तुतः प्राकृतिक नियमों से काम लेने को कहते हैं।

भारत वर्ष के ऋषियों की अनुमति से इसका अर्थ जरूरी तौर पर स्वास्थ्य विषयक और दानशील कामों के लिए इन नियमों का उपयोग करना होगया है।

इसके अतिरिक्त ऋग्वेद के विषय में यह कथन भी कि वह "विकास की विविध अवस्थाओं को दिखलाने वाली" कविताओं का संग्रह है, विचारणीय है। किसी नियत नाम रखने वाली पुस्तक को देखने पर जो पहला और स्वाभाविक संस्कार मन पर बैठता है वह यह है कि वह किसी एक लेखक की रचना है। और जब तक इसके विपरीत कोई साक्षी या प्रमाण न मिले इस संस्कार पर स्वभावतः विश्वास बना रहता है। हम वेदोंपर भी इसी प्रकाश में विचार करेंगे।

जब तक कोई विपरीत साक्षी इसका खण्डन नहीं करती यह माना जाता है कि वेदों का रचयिता एक ही है। वेदों की अवस्था में यह साक्षी मुख्यतः दुहरी है। एक तो यह कि मंत्रों के विविध भाग भिन्न भिन्न ऋषियों के ठहराये जाते हैं किस प्रकार ठहराये जाते हैं,यह कोई बात नहीं; दूसरे, कुछ मंत्र तो "बालकों की सी श्रद्धा वाली सरल प्रार्थनाएं हैं, कुछ बहुत ही दार्शनिक हैं, और इनके अलावा कुछ स्पष्टतः राजकीय हैं।" "बालकों-की-सी" और "दार्शनिक" बातें दोनों एक ही स्रोत से नहीं निकल सकतीं, और न ही शायद वे एक ही युग में हो सकती हैं, इस

लिए न केवल विविध काल ठहराना ही जरूरी हुआ बल्कि वेदों के भिन्न भिन्न भागों के भिन्न भिन्न रचयिता भी मानने पड़े। मंत्रों में दिखलाये हुए विकास की विविध अवस्थाओं का ऐसा प्रमाण होने से सचाई के अन्वेषी और वेदों के निष्कपट विद्यार्थी के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह ध्यानपूर्वक देखे कि इस परिणाम की सचाई का सारा आधार इसकी पूर्व-प्रतिज्ञा की सचाई पर है। वेदों के कुछ भाग बालकों-की-सी" श्रद्धा प्रकट करते हैं, और कुछ "बहुत ही दार्शनिक" हैं! पर हमें देखना चाहिए कि कहीं हमारी अर्थ करने की रीति, जो उस पुस्तक के भिन्न भिन्न भागों में इतना भारी अन्तर ठहराती है जिसे कि उसके मानने वाले जैसाकि प्रामाणिक और प्राचीन समझते हैं, अशुद्ध न हो? अपने कल्पित अर्थों को दुरुस्त ठहराने के लिए भिन्न भिन्न कालों और भिन्न भिन्न रचयिताओं की कल्पना करने की अपेक्षा यह विश्वास कर लेना कि हमारे अर्थ अशुद्ध हैं अधिक न्यायसंगत है।

कई लोग वेदों से ऐतिहासिक फसल का एक प्रचुर भण्डार निकाल रहे हैं। किसी पुस्तक में "सोने और चांदी के गहनों, लड़ाई के रथों, बहुमूल्य वस्त्रों सुन्दर भवनों, शिल्प, वाणिज्य, समुद्र-यात्रा, विधिविषयक आचरणों, और अनेक प्रकार के धर्मयाजक और साथ "सप्त" सिन्धवा" अर्थात् सात नदियों का उल्लेख मिलता है जो वस्तुतः सभ्यता की उच्च अवस्था का प्रमाण है। बेकन नामक लेखक के ग्रन्थों का पढ़ने वाला, परीक्षा मूलक तत्त्वज्ञान और आनुमानिक तर्क की रीतियों के विषय में प्रचुर और श्रद्धायुक्त प्रवचनों को देख कर, क्या अमोघ रूप से यह परिणाम निकाल ले कि जिस समय बेकन की नोवम आर्गनम (Novum Organum) पहली बार छपा था उस समय बेकन का जन्म भूमि में उच्च कोटि की सभ्यता का प्रचार था, क्योंकि न केवल वैज्ञानिक अन्वेषण का सारी रीतियां मालूम थीं और उनसे काम लिया जाता था, बल्कि उनका प्रसंगतः उल्लेख मिलता है—यह एक ऐसी घटना है जो उन दिनों में विज्ञान के साथ पूरे पूरे परिचय को प्रकट करती है?

अब हम आधुनिक आविष्कार की ओर आते हैं जो यह बताता है कि ऋग्वेद के मंत्र, पूर्व प्रचलित मत के विपरीत, उस वंश और कवि के अनुसार जिसके साथ कि उनका अभिसंबंध किया जाता है, सम्बोधित देवता के अनुसार और प्रत्येक कविता की लम्बाई के अनुसार एक नियत क्रम में रखे हुए हैं। यह एक ऐसा आविष्कार है जो ऋग्वेद के एक हजार और सतारह मंत्रों का एक

संग्रह होने पर एकदम प्रकाश डालता है। ये मंत्र दस भागों या मंडलों में विभक्त हैं। इन में से छः मंडल परंपरा से छः प्राचीन वंशों या जातियों में सुरक्षित रहे हैं। बाकी चार एक प्राचीन यज्ञ की अनुष्ठान-विधि के साथ, यजन पर चढ़ाये जाने वाले पवित्र रस की स्तुति के साथ, और पौराणिक फुटकर बातों के साथ भरे पड़े हैं। इस सारे का रहस्य यह है कि योरुपीय पण्डितों को अभी इस बात का पता नहीं कि प्राचीन भारत में वंश या कुल जन्म के अनुसार बनाया जाता था या विद्या के अनुसार। पहले को गोत्र या जातिवंश कहते थे और दूसरे को विद्याकुल। भिन्न २ ऋषि या मंत्रों के द्रष्टा, जिनके साथ अनभिज्ञता से मंत्रों का संबंध गांठा जाता है, मंत्रों के द्रष्टा होने के कारण, एक ही विद्याकुल के थे न कि एक ही वंश या जाति के।

ऋग्वेद पर हमने अपनी सम्मति थोड़े में कह दी है, और उसके विषय में जो भ्रांति पैदा होगई थी उसे भी संक्षेपतः दूर कर दिया है। अब एक बात और कह कर समाप्त करेंगे।

यह बड़ा शोचनीय विषय है कि योरुपीय पंडितों ने छः दर्शनों को बहुत ही अशुद्ध समझा है। दर्शन उस समय बने थे, जबकि अभी बौद्ध मत का नामोनिशान न था। परन्तु संदिग्धचित्त, नास्तिक; और तर्क को मानने वाले मनुष्यों की कभी भी कमी नहीं रही। योरुपीय पंडितों को दर्शनों में जो विवाद देख पड़ता है, उसका कारण दर्शनकारों का विशाल और कल्पनात्मक मन और उनकी निर्मल पूर्वदृष्टि और पूर्वचिन्तन है न कि बौद्ध-धर्मजन्य सुधार की आंधी का देश में फैल जाना। यह प्रतिक्रिया तो दर्शनों की अपेक्षा शङ्कराचार्य के नवीन वेदान्त में पाई जाती है।

हमें भविष्यत् में कभी अवकाश मिला तो जो विविध बातें इस लेख में संक्षेप से कही गई हैं, उन पर हम पूर्ण रीति से विचार करेंगे।